प्रकाशक :
श्री सन्मति ज्ञानपीठ,
लोहामण्डी,
आगरा

मुद्रक :
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस,
मण्डी सईदखां,
आगरा

प्रथम पदार्पण
सन् १९५९
वि० सं० २०१५
शाके १८८०
मूल्य चार रुपये

प्रकाशक के दो बोल

आधुनिक युग की एक माँग है—एक सर्वोच्च अपेक्षा है—प्रत्येक दर्शन का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ; तत्त्व-चिन्तकों के सम्मुख हो। इसी दिशा में ज्ञान पीठ की ओर से जैन- दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ, जैन-दर्शन के नाम से प्रस्तुत करते हुए मैं परम आह्लाद की अनुभूति कर रहा हूँ। लेखक ने जैन-दर्शन के सम्पूर्ण तत्त्वों का सूक्ष्म चिन्तन- मूलक सुन्दर, सरस, भाव-भाषा और शैली की दृष्टि से अधुनातम ग्रन्थ प्रदान किया है। मैं मानता हूँ यह जैन-दर्शन के तत्त्वों का सर्वांगपूर्ण विश्लेषण है, और विद्वान् लोग इसे पसन्द करेंगे।

प्रस्तुत ग्रंथ गत सन् १९५८ के मार्च महीने में ही पाठकों की सेवा में पहुँच जाता, किन्तु प्रेस सम्बन्धी अड़चन तथा प्रूफ संशोधनार्थ मेटर लेखक के पास पहुँचते रहने से विलम्ब होता गया। अस्तु जैन-दर्शन की अत्यधिक मांग होने पर भी हम समय पर पाठकों की ज्ञानपिपासा शान्ति में योग न दे सके, अतः पाठकगण हमें क्षमाप्रदान करें।

ग्रन्थ का यह प्रकाशन लेखक, प्रकाशक, सम्पादक या आलोचकों से नहीं नापा जा सकता। जैन-दर्शन अपने आप में कितना पूर्ण है—यह विद्वानों का चिन्तन ही बता सकेगा।

अन्त में मैं कृतज्ञता-प्रकाशन का यह लोभ-संवरण नहीं कर सकता कि प्रस्तुत प्रकाशन का यह नयनाभिराम सौन्दर्य तथा कलात्मक वर्गीकरण उपाध्याय श्री जी के अन्तेवासी शिष्य सुबोध मुनि जी के द्वारा ही मुखर हुआ है।

मन्त्री—सोनाराम जैन
सन्मति ज्ञान-पीठ,
आगरा

शुभाशीः

मुझे प्रसन्नता है, कि जैन विद्वान, आज के युग की नित्य-नूतन साहित्यिक प्रगति को देख कर अपनी शक्ति का सत्प्रयोग ठीक दिशा में करने लगे हैं। अपने धर्म, दर्शन तथा संस्कृति के गौरव की ओर उनका ध्यान केन्द्रित होने लगा है।

डाक्टर मोहन लाल जी मेरे निकट के परिचितों में से एक हैं। उनका मृदु स्वभाव, कोमल व्यवहार, और उनकी गहरी विद्वत्ता आज के समाज के लिए एक सन्तोष की बात है। विद्वत्ता के साथ विनम्रता मेहता जी की अपनी एक अलगही विशेषता है। कार्य-पटुता और कार्य-क्षमता—इन दोनों गुणों ने ही मेहता जी को इतना गौरव प्रदान किया है। डाक्टर मेहता अभी तरुण हैं। अतः भविष्य में वे और भी अधिक प्रगति कर सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

'सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा' से उनका जैन-दर्शन प्रकाशित हो रहा है। यह ग्रन्थ मुझे बहुत पसन्द है। क्योंकि इसमें जैन दर्शन के प्रायः समग्र पहलुओं पर सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला गया है। प्रमाण, प्रमेय, नय और सप्त भंगी जैसे गम्भीर विषयों पर मेहता जी ने लिखा है, और काफी विस्तृत, साथ ही रोचक भाषा में लिखा है। यह ग्रन्थ भाव, भाषा और शैली—सभी दृष्टियों से सुन्दर है। जैन दर्शन की उच्च कक्षाओं में स्थान पाने योग्य है।

जैन-दर्शन जीवन-दर्शन है। वह व्यर्थ के काल्पनिक आदर्शों के गगन की उड़ान नहीं, किन्तु कदम कदम पर जीवन के प्रत्येक व्य ... रे की
वस्तु है। दर्शन का मूल अर्थ दृष्टि है, इस अर्थ में जैन-दर्शन ... न
ने के लिए मनुष्य को विवेकदृष्टि देता है। आदमी जब स्व
पहचान जाता है, तभी वह अपने जीवन का एक उद्देश्य
और पूरी शक्ति के साथ उस ओर अग्र-चरण होता है।
मेहता जी दर्शन के उक्त पक्ष को समझाने में काफी सफल

लेखक की अन्य कृतियाँ

Jaina Psychology
Outlines of Jaina Philosophy
Outlines of Karma in Jainism

शुभाशी:

मुझे प्रसन्नता है, कि जैन विद्वान, आज के युग की नित्य-नूतन साहित्यिक प्रगति को देख कर अपनी शक्ति का सत्प्रयोग ठीक दिशा में करने लगे हैं। अपने धर्म, दर्शन तथा संस्कृति के गौरव की ओर उनका ध्यान केन्द्रित होने लगा है।

डाक्टर मोहन लाल जी मेरे निकट के परिचितों में से एक हैं। उनका मृदु स्वभाव, कोमल व्यवहार, और उनकी गहरी विद्वत्ता आज के समाज के लिए एक सन्तोष की बात है। विद्वत्ता के साथ विनम्रता महेता जी की अपनी एक अलगही विशेषता है। कार्य-पटुता और कार्य-क्षमता—इन दोनों गुणों ने ही मेहता जी को इतना गौरव प्रदान किया है। डाक्टर मेहता अभी तरुण हैं। अतः भविष्य में वे और भी अधिक प्रगति कर सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

'सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा' से उनका जैन-दर्शन प्रकाशित हो रहा है। यह ग्रन्थ मुझे बहुत पसन्द है। क्योंकि इसमें जैन दर्शन के प्रायः समग्र पहलुओं पर सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला गया है। प्रमाण, प्रमेय, नय और सप्त भंगी जैसे गम्भीर विषयों पर मेहता जी ने लिखा है, और काफी विस्तृत, साथ ही रोचक भाषा में लिखा है। यह ग्रन्थ भाव, भाषा और शैली—सभी दृष्टियों से सुन्दर है। जैन दर्शन की उच्च कक्षाओं में स्थान पाने योग्य है।

जैन-दर्शन जीवन-दर्शन है। वह व्यर्थ के काल्पनिक आदर्शों के गगन की उड़ान नहीं, किन्तु कदम कदम पर जीवन के प्रत्येक व्यवहार में ढालने की वस्तु है। दर्शन का मूल अर्थ दृष्टि है, इस अर्थ में जैन-दर्शन स्व-पर को पहचान ने के लिए मनुष्य को विवेकदृष्टि देता है। आदमी जब स्व-पर को ठीक तरह पहचान जाता है, तभी वह अपने जीवन का एक उद्देश्य स्थिर करता है, और पूरी शक्ति के साथ उस ओर अग्र-चरण होता है। मैं समझता हूँ, मेहता जी दर्शन के उक्त पक्ष को समझाने में काफी सफल हुए हैं। यह ठीक

है कि कुछ स्थलोंपर महेता जी का चिन्तन स्वतन्त्र राह भी पकड़ लेता है, फिर भी वह पाठक को चिन्तन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा देता है, इसमें तो कोई सन्देह है ही नहीं।

ग्रन्थ को अद्यतन सुन्दर रूप में प्रकाशित करने की ओर ज्ञानपीठ के विवेकशील अधिकारियों ने पर्याप्त ध्यान रखा है। आशा है दर्शन-क्षेत्र का विज्ञ पाठक प्रस्तुत जैन दर्शन का हृदय से समादर करेगा. और भविष्य में मेहता जी से अन्य कोई अभिनव भव्य कृति प्राप्त करने के लिए प्रेरणा-स्रोत बनेगा। बस, आज इतना ही। सरस्वती के महामन्दिर में सरस्वती के बरद पुत्र की यह भेंट चिरायु हो……आनन्द !

आगरा
वीर जयन्ती :
१९५९

—उपाध्याय, अमर मुनि

पुरो वचन

आज के विकास-युग में, चारों ओर विकास, प्रगति और अभ्युदय हो रहा है। मानव प्रत्येक क्षेत्र में, विकास और प्रगति के पद चिन्ह छोड़ता चला जा रहा है। विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला और भाषा के क्षेत्र में भी मानव मस्तिष्क ने अद्भुत विकास एवं प्रगति की है।

जैन साहित्य भी उस विकास एवं प्रगति से अप्रभावित कैसे रह सकता था ? यद्यपि जैन-विचारधारा का विराट् एवं विपुल साहित्य—संस्कृत, प्राकृत तथा भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में चिरकाल से उपचित होता चला आ रहा था, तथापि हिन्दी भाषा में वह अत्यन्त मन्दगति से आ रहा था। परन्तु हर्ष है, कि अब राष्ट्र भाषा हिन्दी में भी जैन साहित्य अपने विविध रूपों में द्रुत गति से अवतरित हो रहा है। मुझे आशा है, भविष्य में जैन विद्वान्, अपनी श्रेष्ठ कृतियों से राष्ट्रभाषा के भण्डार को भरते रहेंगे।

'जैन-दर्शन' पर संस्कृत एवं प्राकृत में विपुल मात्रा में लिखा गया है—सरल से सरल और कठिन से कठिन। किन्तु हिन्दी भाषा में इस विषय पर मुनिराज श्री न्यायविजय जी का 'जैन-दर्शन' सर्व प्रथम सफल प्रयास कहा जा सकता है। यह ग्रन्थ न बहुत गहरा है और न बहुत उथला। 'दर्शन' जैसे गम्भीर विषय को इसमें सरल, सुबोध्य एवं सुन्दर भाषा में सर्वजन भोग्य रूप में प्रस्तुत किया है।

डाक्टर महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य का 'जैन-दर्शन' भी जनता के हाथों में पहुँच चुका है। उसकी भाषा, शैली और विषय सभी गम्भीर हैं। प्रमाण और प्रमाण के फल की इसमें काफी लम्बी चर्चा की गई है। षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व, और सप्त नयों का संक्षिप्त,—परन्तु सारभूत परिचय दे दिया है। वह ग्रन्थ विस्तृत, गम्भीर, और तात्विक आलोचनात्मक है। सामान्य पाठक उससे उतना लाभान्वित नहीं हो सकता, जितना दर्शन-क्षेत्र का एक सुपरिचित व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है।

डाक्टर मोहनलाल मेहता का 'जैन-दर्शन' अपनी नयी शैली, सुन्दर भाषा और उच्च भावनाओं को लेकर पाठकों के समक्ष आरहा है। निःसन्देह

डाक्टर मेहता का यह प्रयास उक्त दोनों ग्रन्थों के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। यह गम्भीर भी है, और सरल भी। यह सर्वजन-भोग्य भी है, और विद्वज्जन-भोग्य भी। भाषा, भाव और शैली सभी दृष्टियों से सुन्दर है।

प्रस्तुत 'जैन दर्शन' में प्रमाण और प्रमेय का खासा अच्छा परिचय कराने के साथ ही, उसमें पूर्व और पश्चिम की दार्शनिक विचार धाराओं में 'जैन-दर्शन' का अपना स्थान क्या है ? इस विषय पर काफी स्पष्ट चर्चा की गई है। इतना ही नहीं, किन्तु धर्म, दर्शन और विज्ञान—इन तीनों के सम्बन्ध में भी डाक्टर मेहता ने स्पष्ट ऊहा-पोह किया है। धर्म, दर्शन और विज्ञान का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? उनमें वैषम्य कहाँ तक है ? और साम्य कहाँ तक ? इसकी चर्चा भी सुन्दर ढंग से की गई है। अतः यह प्रस्तुत ग्रन्थ आधुनिक पाठ्य ग्रन्थों की श्रेणी में भी सहज ही अपना एक विशिष्ट स्थान बना सकेगा। कालेज और महाविद्यालयों की उच्चतर कक्षाओं में भी यह अपना उचित स्थान प्राप्त करेगा, इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

'जैन-दर्शन' के परिशीलन, चिन्तन और मनन के अभाव में, अन्य दर्शनों का अध्ययन अपूर्ण ही रहता है। वह इसलिए कि जैन दर्शन में आकर समस्त अन्य दर्शनों के मतभेद विलुप्त हो जाते हैं। जैन-दर्शन का अपना एक ही विशिष्ट दृष्टिकोण है, कि वह विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों में प्रच्छन्न सत्य को प्रकट कर देता है। अन्य दर्शनों में दोष-दर्शन, यही मुख्य नहीं है, किन्तु उन दार्शनिक मत-भेदों के बीच मतैक्य कहाँ है ? और वह दूर कैसे हो सकता है ? इस तथ्य का अनुसन्धान ही जैन दर्शन का अपना मुख्य विषय है। विभिन्न दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, जो आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है, उसकी पूर्ति आज से ढाई हजार वर्षों से जैन-दर्शन निरन्तर करता चला आया है। यही कारण है, कि तत्-तत् काल के जैन दर्शन-सम्बद्ध ग्रन्थ केवल जैन-दर्शन का ही परिबोध नहीं कराते, बल्कि तत्-तत् काल के अन्य दर्शनों का प्रामाणिक ज्ञान कराने में भी सफल साधन रहे हैं। मूल संस्कृत में विलुप्त बौद्ध ग्रन्थों और तद्गत मन्तव्यों को जानने का जितना अच्छा साधन प्रतिष्ठित जैन दर्शन की ग्रन्थ-राशि है उतना अन्य नहीं। विशेषता यह है, कि दार्शनिक सूत्र काल से लेकर भाष्य, वार्तिक और टीकानुटीकाओं के काल में भी निरन्तर एवं क्रमशः जैन दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थ लिखे हैं, और उन में अपने काल तक की समग्र दार्शनिक सामग्री को एकत्रित करने का पूरा सत्प्रयत्न किया है।

इस दृष्टि से भारतीय दार्शनिक चिन्तन धाराओं का क्रमिक विकास, और घात-प्रतिघात से निष्पन्न प्रत्येक दर्शन के विकास को जानने का साधन भी जैन-दर्शन है। दार्शनिकों का ध्यान अभी तक इस ओर गया नहीं है, अतः जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी विद्वानों की उपेक्षा के विषय बने हुए हैं। परन्तु यह उपेक्षा घातक है, इसमें जरा भी संशय नहीं है। भारतीय राजनीति में सह अस्तित्व का सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है। उसकी मूल दार्शनिक परम्परा की शोध जैन दार्शनिक ग्रन्थों से भली भाँति हो सकती है। क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक, और क्या दार्शनिक, आज के जीवन में सर्वत्र सह-अस्तित्व के सिद्धान्त की आवश्यकता है। आज के दार्शनिक विद्वानों को इस विषय पर गम्भीरता के साथ विचार करना होगा।

डाक्टर मेहता के प्रस्तुत 'जैन-दर्शन' को देख कर विद्वानों की दृष्टि यदि जैन-दर्शन के मौलिक ग्रन्थों के अध्ययन की ओर गई, तो उनका श्रम सफल होगा। मैं इस ग्रन्थ के लिए उन्हें बधाई देता हूँ। भविष्य में भी वे इसी प्रकार अपनी श्रेष्ठ कृतियाँ देते रहेंगे, यह आशा करता हूँ।

सन्मति ज्ञान पीठ के अधिकृत अधिकारीगण ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करके जैन दर्शन के अध्ययन की प्रगति में महत्वपूर्ण योग-दान दिया है। अतः वे भी धन्यवाद के योग्य हैं। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में वे लोग सत्-साहित्य के प्रकाशन में अपना उदार योग-दान देते रहेंगे।

वाराणसी
१८-३-५९

दलसुख भाई मालवणिया

परिचय-रेखा

पार्श्वनाथ और महावीर एक ही सांस्कृतिक परम्परा के प्रचारक—उपदेशक थे, यह वात आज निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है। इस वात को प्रमाणभूत मान लेने पर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जैन-परम्परा के प्रवर्तक महावीर से भी पहले विद्यमान थे। यह परम्परा कितनी पुरानी है, इसका अन्तिम निर्णय हमारी ऐतिहासिक दृष्टि की मर्यादा से वाहर है। हम तो इतना ही निश्चित कर सकते हैं कि महावीर जैन विचारधारा के प्रवर्तक न थे, अपितु प्रचारक थे, उपदेशक थे, सुधारक थे, उद्धारक थे। जैन तत्त्वज्ञान को अच्छी तरह से समझने के लिये, यह आवश्यक है कि महावीर के जीवन के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर विचार किया जाय। प्रत्येक महापुरुष अपने सिद्धान्त का व्यापक प्रचार करने के लिये दो प्रकार के कार्य अपने हाथ में लेता है। पहला कार्य यह है कि अपने सिद्धान्त से विपरीत जितनी भी मान्यताएँ समाज में प्रचलित हों उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में खण्डन करना। यह निषेधात्मक कार्य है। दूसरा कार्य विधेयात्मक होता है, और वह है, अपने सिद्धान्तों का खुले रूप में प्रचार करना। महावीर के सामने भी ये दोनों प्रकार के कार्य थे। उन्होंने उस समय की सामाजिक कुरीतियाँ, धार्मिक अन्ध-भक्ति आदि पर कठोर प्रहार किया और साथ ही साथ लोगों को शान्ति एवं प्रेम का मार्ग वताया। महावीर ने जनता को शान्ति का जो सन्देश दिया, वह अपूर्ण अर्थात् किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित न था। जीवन के जितने पक्ष थे, सव पर उसकी छाप थी। क्या सामाजिक, क्या आर्थिक, क्या दार्शनिक, क्या धार्मिक—सभी क्षेत्रों के लिए उनका एक ही सन्देश था और वह था शान्ति और प्रेम का, वह था सद्भावना एवं सामंजस्य का, वह था अहिंसा और अनेकान्त का। तत्कालीन मुख्य मुख्य समस्याओं पर इसका प्रयोग कैसे किया गया, इसे क्रमशः देखने का प्रयत्न करना ठीक होगा :—

सामाजिक परिस्थिति : महावीर के समय में सामाजिक विषमता काफी वढ़ी हुई थी, इसमें कोई संशय नहीं। वर्णभेद के नाम पर मनुष्य-समाज के अनेक खण्ड हो रहे थे। ये खण्ड केवल व्यवसाय या कर्म के क्षेत्र तक ही

सीमित न थे अपितु जीवन के सभी अंगों में प्रविष्ट हो चुके थे। एक जाति दूसरी जाति से, एक वर्ण दूसरे वर्ण से इतना अधिक कट चुका था कि दोनों में किसी प्रकार की एकता न रही। पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध या खान-पान की बात तो एक ओर रही, परस्पर स्पर्श करना भी पाप माना जाने लगा। छुआछूत का रोग केवल एक वर्ण तक ही सीमित हो ऐसा भी नहीं था। शूद्र वर्ण के जितने लोग थे वे सब अन्य तीन वर्णों की दृष्टि में अस्पर्श्य थे। इसके अतिरिक्त तीनों वर्णों के लोगों में भी छुआछूत का व्यवहार प्रचलित था। ब्राह्मण वर्ण के लोग किसी भी वर्ण के हाथ का छुआ हुआ भोजन नहीं खा सकते। ब्राह्मणों की दृष्टि में किसी दृष्टि से तीनों वर्ण अस्पर्श्य थे। इतना ही नहीं अपितु एक ही वर्ण का एक वर्ग दूसरे वर्ग को समय विशेष पर अछूत समझता था। आज भी यही दशा समाज में देखी जाती है। यह तो हुई वर्ण-व्यवस्था की बात। इसके अतिरिक्त लिंग-भेद भी उस समय कम न था। स्त्री-जाति को पुरुष-जाति से अनेक अवसरों पर हीन समझा जाता था। स्त्रियों का व्यापार करना साधारण सी बात थी। इसके अनेक उदाहरण आगमों में मिलते हैं। महावीर ने इन सारे भेदभावों को समाप्त करने का कार्य अपने हाथ में लिया। वर्ण और आश्रम की व्यवस्था को मिटाने का प्रयत्न किया। सभी लोगों को समान सामाजिक अधिकार दिए। अपने संघ में सब लोगों को आने का अवसर दिया। उन्हें इस कार्य में उस समय सफलता भी मिली। उनके श्रमण-संघ में ब्राह्मण वर्ण के लोगों से लेकर शूद्र वर्ण के निम्नतम वर्ग, भंगी, चमार आदि जाति के लोग थे।

आर्थिक समस्या : अर्थ के क्षेत्र में भी महावीर ने समानता लाने का प्रयत्न किया। अहिंसा की भूमिका पर खड़ा होने वाला अपरिग्रहवाद उन्हें बहुत प्रिय था। उन्होंने परिग्रह को बहुत बड़ा पाप बताया। अपरिग्रह के लिये परिग्रह की मर्यादा का उपदेश दिया। यह मर्यादा अन्न-वस्त्र से लेकर सोना-चाँदी आदि तक थी। यह कहना सम्भवतः उचित न होगा कि उन्होंने साम्यवाद का ही प्रचार किया, क्योंकि आज के साम्यवाद का प्रचार उस समय की समस्या ही न थी। आज के युग का आर्थिक ढाँचा उस युग के आर्थिक ढाँचे से भिन्न प्रकार का है। आज के युग का सामूहिक शोषण उस युग में प्रचलित न था। फिर भी यह बात अवश्य है कि उस समय आर्थिक असमानता समाज में विद्यमान थी। उस असमानता को दूर करने का महावीर

का प्रयत्न उस युग की दृष्टि से महान् है। इतना होते हुए भी महावीर को इस कार्य में पूरी सफलता मिली हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि महावीर के जीवन के अन्तिम काल तक आर्थिक असमानता बनी रही। महावीर के बड़े बड़े भक्त-श्रावक इस असमानता के उदाहरण के रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं। हाँ, जहाँ तक श्रमण-संघ का प्रश्न है, महावीर को अपरिग्रह के सिद्धान्त में पूरी सफलता मिली। श्रमण-संघ का कोई भी साधु आवश्यकता से अधिक उपभोग-परिभोग की सामग्री नहीं रख सकता था। इस सामग्री की मर्यादा का बन्धन भी बहुत कठोर था।

धार्मिक मान्यता : जिस समय महावीर ने अहिंसक धारणाओं का प्रचार करना शुरू किया उस समय भारत की भूमि पर वैदिक क्रियाकाण्डों का बहुत जोर था। यज्ञ के नाम पर किन किन प्राणियों के प्राणों की आहुति दी जाती थी, यह इतिहास के विद्यार्थी से छिपा नहीं है। वैदिक क्रिया-काण्डों का सुचारु रूप से पालन करवाने के लिए एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय ही बन चुका था। इस सम्प्रदाय का नाम मीमांसा सम्प्रदाय है। यही सम्प्रदाय दर्शन-जगत् में पूर्व मीमांसा के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनेक ग्रन्थ इसी हेतु से बने कि अमुक क्रिया का अमुक विधि से ही पालन होना चाहिये। प्रत्येक प्रकार के विधि-विधान के लिए अलग अलग प्रकार के नियम थे। यज्ञ में आहुति देने की विशिष्ट विधियाँ थीं। लोगों की यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि स्वर्ग-प्राप्ति के लिये ये क्रिया-काण्ड अनिवार्य हैं। बिना यज्ञ में आहुति दिए स्वर्ग-प्राप्ति असम्भव है। महावीर ने इन सब धारणाओं को देखा एवं वैदिक क्रिया-काण्ड के पीछे होने वाली भयंकर हत्याओं का विरोध करना प्रारम्भ किया। वे खुले रूप में हिंसापूर्ण यज्ञों का विरोध करने लगे। इस विरोध के कारण उन्हें जगह-जगह अपमानित भी होना पड़ता था। किन्तु उन्होंने किसी भी प्रकार की परवाह किए बिना अहिंसा का सन्देश घर-घर पहुँचाना बराबर चालू रखा। शान्ति और प्रेम के सन्देश में कभी ढिलाई न आने दी। यद्यपि वैदिक क्रिया-काण्ड का समर्थक वर्ग बहुत बड़ा एवं प्रभावशाली था किन्तु महावीर को वह न दबा सका। इसका कारण यही मालूम होता है कि एक तो महावीर स्वयं दृढ़ प्रतिज्ञ व्यक्ति थे, दूसरी बात यह है कि महावीर का जन्म एक क्षत्रिय राज-परिवार में हुआ था और उसका आसपास में बहुत प्रभाव था। यदि ऐसा न होता तो सम्भवतः उन्हें इतनी जल्दी सफलता न मिलती। बुद्ध के विषय में

भी यही बात कही जा सकती है। महावीर जब अपना परिचित क्षेत्र छोड़कर अन्यत्र गए तो उन्हें काफी यातनाएँ सहनी पड़ीं। इसका कारण यह था कि उस क्षेत्र में केवल उनका व्यक्तिगत प्रभाव था, न कि राजवंश का कोई असर। महावीर ने जनता को अहिंसा-सन्देश दिया। उन्होंने कहा कि आत्मशुद्धि ही सुख का सच्चा एवं सीधा उपाय है। जब तक आत्मशुद्धि न होगी, वायुशुद्धि अथवा देवताओं की प्रसन्नता से कुछ नहीं हो सकेगा। यदि आप अपने लिए सुख चाहते हैं तो उसे अपने भीतर से ही निकालिए। वह कहीं बाहर नहीं है। दूसरे प्राणियों की हत्या से आपको सुख कैसे मिल सकता है? अपने कषाय की हत्या करिए, अपने रागद्वेष का वध करिए। इसी से आपको सच्चा सुख मिलेगा। दुःख के कारणों का नाश होने पर ही दुःख दूर होता है। जो दुःख के वास्तविक कारण हैं उन्हें नष्ट कीजिए—उनकी आहुति दीजिए। दुःख का कारण तो है राग-द्वेष-कषाय और आप नाश करते हैं दूसरे प्राणियों का। हे भोले जीवो! ऐसा करने से दुःख कैसे दूर होगा? स्वयं सुख चाहते हो और दूसरों को दुःख देते हो, यह कहाँ का न्याय है? जैसा हमें सुख प्रिय है वैसा दूसरों को भी सुख प्रिय है। इसलिए किसी को भी दुःख मत दो। किसी की भी हिंसा मत करो। जो दूसरे की हिंसा करता है वह सचमुच अपनी ही हिंसा करता है। हिंसा से दुःख बढ़ता है, घटता नहीं। महावीर का यह सन्देश आज के युग के लिये भी अत्यन्त उपयोगी है। इससे परलोक में कल्याण होता है, यही नहीं, अपितु इहलोक भी सुखी बनता है। भारतीय परम्परा में महावीर का अहिंसा-सन्देश आज भी किसी न किसी रूप में जीवित है।

दार्शनिक विवाद : महावीर के सामने अनेक प्रकार की दार्शनिक परम्पराएँ विद्यमान थीं। नित्य और अनित्य, एक और अनेक, जड़ और चेतन आदि विषयों का ऐकान्तिक आग्रह उनकी विशेषता थी। एक परम्परा नित्यवाद पर ही सारा बोझ डाल देती थी तो दूसरी परम्परा अनित्यवाद को ही सब कुछ समझती थी। कोई परम्परा अन्तिम तत्त्व एक ही मानती थी तो किसी परम्परा में एक का सर्वथा निषेध था। कोई सारे संसार की विभिन्नता का कारण एक मात्र जड़ को मानता था तो कोई केवल आत्मतत्त्व से ही सब कुछ निकाल लेता था। इस प्रकार विविध प्रकार के विरोधी वाद एक दूसरे पर प्रहार करने में ही अपनी सारी शक्ति लगा देते थे। परिणाम यह होता कि दार्शनिक जगत् में जरा भी शान्ति न रहती। पारस्परिक विरोध ही दर्शन का

मूल था। महावीर ने सोचा कि बात क्या है ? क्या कारण है कि सभी वाद एक दूसरे के विरोधी हैं ? उन्हें ऐसा मालूम पड़ा कि इस विरोध के मूल में मिथ्या आग्रह है। इसी आग्रह को उन्होंने ऐकान्तिक आग्रह कहा। उन्होंने वस्तुतत्त्व को ध्यान से देखा। उन्हें मालूम हुआ कि वस्तु में तो बहुत से धर्म हैं, फिर क्या कारण है कि कोई किसी एक धर्म को ही स्वीकार करता है तो कोई किसी दूसरे धर्म को ही यथार्थ मानता है ? दृष्टि की संकुचितता के कारण ऐसा होता है, यह हल निकला। उन्होंने कहा कि दार्शनिक दृष्टि संकुचित न होकर विशाल होनी चाहिये। जितने भी धर्म वस्तु में प्रतिभासित होते हों, सब का समावेश उस दृष्टि में होना चाहिये। यह ठीक है कि हमारा दृष्टिकोण किसी समय किसी एक धर्म पर विशेष भार देता है, किसी समय किसी दूसरे धर्म पर। इतना होते हुए भी, यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तु में अमुक धर्म है, और कोई धर्म नहीं। वस्तु का पूर्ण विश्लेषण करने पर यह प्रतीत होगा कि वास्तव में हम जिन धर्मों का निषेध करना चाहते हैं वे सारे धर्म वस्तु में विद्यमान हैं। इसी दृष्टि को सामने रखते हुए उन्होंने वस्तु को अनन्त धर्मात्मक कहा। वस्तु स्वभाव से ही ऐसी है कि उसका अनेक दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। इसी दृष्टि का नाम अनेकान्तवाद है। किसी एक धर्म का प्रतिपादन 'स्यात्' (किसी एक अपेक्षा से या किसी एक दृष्टि से) शब्द से होता है अतः अनेकान्तवाद को स्याद्वाद भी कहते हैं। दार्शनिक क्षेत्र में महावीर की यह बहुत बड़ी देन है। इससे उनकी उदारता एवं विशालता प्रकट होती है। यह कहना ठीक नहीं कि अनेकान्तवाद एकान्तवादों का समन्वय मात्र है। अनेकान्तवाद एक विलक्षण वाद है। इसकी जाति एकान्तवाद से भिन्न है। एकान्तवादों का समन्वय हो ही नहीं सकता। समन्वय तो सापेक्षवादों का हो सकता है। अनेकान्तवाद सापेक्षवादों का समन्वय अवश्य है। सापेक्षवाद अनेकान्तवाद से अभिन्न हैं। अनेक एकान्त दृष्टियों को जोड़ने मात्र से अनेकान्त दृष्टि नहीं बन सकती। अनेकान्त दृष्टि एक विशाल एवं स्वतन्त्र दृष्टि है, जिसमें अनेक सापेक्ष दृष्टियाँ हैं।

जैनदर्शन की विशेषता : महावीर ने जिस दृष्टि का प्रचार किया उस दृष्टि की विशेषताओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है। जैनदर्शन की मुख्य विशेषता स्याद्वाद है, यह हमने देखा। महावीर ने वस्तु का पूर्ण स्वरूप हमारे सामने रखने की पूरी कोशिश की और उसी का परिणाम स्याद्वाद के रूप

में हमारे सामने है। इसके अतिरिक्त जैनदर्शन की और भी कई विशेषताएँ हैं। उनका हम क्रमशः उल्लेख करेंगे।

सर्व प्रथम हम तत्त्व को लें। तत्त्व के सामान्य रूप से चार पक्ष होते हैं। एक पक्ष तत्त्व को सत् मानता है। सांख्य इस पक्ष का प्रबल समर्थक है। दूसरा पक्ष असत्वादी है। उसकी दृष्टि से तत्त्व सत् नहीं हो सकता। बौद्ध दर्शन की शाखा शून्यवाद को इस पक्ष का समर्थक कह सकते हैं। यद्यपि शून्यवाद की दृष्टि से तत्त्व न सत् है, न असत् है, न उभय है, न अनुभय है, तथापि उसका झुकाव निषेध की ओर ही है अतः वह असत्वादी कहा जा सकता है। तीसरा पक्ष सत् और असत्—दोनों का स्वतंत्र रूप से समर्थन करता है। यह पक्ष न्याय-वैशेषिक का है। इसकी दृष्टि से सत् भिन्न है, असत् भिन्न है। ये दोनों स्वतन्त्र तत्त्व हैं। सत् असत् से सर्वथा भिन्न तथा स्वतन्त्र पदार्थ है। उसी प्रकार असत् भी एक भिन्न पदार्थ है। चौथा पक्ष अनुभयवाद का है। इस पक्ष का कथन है कि तत्त्व अनिर्वचनीय है। वह न सत् कहा जा सकता है, न असत्। वेदान्त की माया इसी प्रकार की है। वह न सत् है न असत्। जैन दर्शन इन चारों प्रकार के एकान्तवादी पक्षों को अधूरा मानता है। वह कहता है कि वस्तु न एकान्तरूप से सत् है, न एकान्तरूप से असत् है, न एकान्तरूप से सत् और असत् है, न एकान्तरूप से सत् और असत् दोनों से अनिर्वचनीय है। यह तो जैनदर्शन-सम्मत तत्त्व की सामान्य चर्चा हुई।

विशेष रूप से जैनदर्शन छः द्रव्य (तत्त्व) मानता है। ये छः द्रव्य हैं—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। जीवद्रव्य के विषय में जैन-दर्शन की विशेष मान्यता यह है कि संसारी आत्मा देह-परिमाण होती है। भारत के किसी अन्य दर्शन में आत्मा को स्वदेह-परिमाण नहीं माना जाता। केवल जैन दर्शन ही ऐसा है जो आत्मा को देह-परिमाण मानता है। धर्म और अधर्म की मान्यता भी जैनदर्शन की अपनी विशेषता है। कोई अन्य दर्शन गति और स्थिति के लिए भिन्न द्रव्य नहीं मानता। वैशेषिकों ने उत्क्षेपण आदि को द्रव्य न मान कर कर्म माना है। जैनदर्शन गति के लिए स्वतन्त्र द्रव्य—धर्मास्तिकाय मानता है और स्थिति के लिए स्वतन्त्र द्रव्य-अधर्मास्तिकाय मानता है। जैनदर्शन की आकाश-विषयक मान्यता में भी विशेषता है। लोकाकाश की मान्यता अन्यत्र भी है किन्तु अलोकाकाश (केवल आकाश) की मान्यता अन्यत्र नहीं मिलती। पुद्गल की मान्यता में यह विशेषता है कि वैशेषिकादि पृथ्वी

आदि द्रव्यों के भिन्न-भिन्न परमाणु मानते हैं जब कि जैनदर्शन पुद्गल के अलग-अलग प्रकार के परमाणु नहीं मानता। प्रत्येक परमाणु में स्पर्श, रस, गन्ध और रूप की योग्यता रहती है। स्पर्श के परमाणु रूपादि के परमाणुओं से भिन्न नहीं हैं। इसी प्रकार रूप के परमाणु स्पर्शादि परमाणुओं से अलग नहीं हैं। परमाणु की एक ही जाति है। पृथ्वी का परमाणु पानी में परिणत हो सकता है, पानी का परमाणु अग्नि में परिणत हो सकता है आदि। इसके अतिरिक्त शब्द को पौद्गलिक मानना भी जैनदर्शन की विशेषता है। तत्त्व-विषयक विशेषताओं के ज्ञान के लिए यह विवरण काफी है।

ज्ञानवाद की मान्यता में सब से बड़ी विशेषता यह है कि जैनेतर दर्शन इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं जब कि जैनदर्शन वास्तव में आत्मा से होने वाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानता है अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से न होकर सीधा आत्मा से होता है वही ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन्द्रियज्ञान को व्यावहारिक प्रत्यक्ष कह सकते हैं। पारमार्थिक अथवा निश्चय-दृष्टि से इन्द्रियज्ञान परोक्ष ही है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखते हैं अतः परोक्ष हैं। अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं रखते, किन्तु आत्मा से उत्पन्न होते हैं अतः प्रत्यक्ष हैं।

प्रामाण्य की समस्या का उत्पत्ति और ज्ञप्ति की दृष्टि से जो समाधान जैन तार्किकों ने किया है वह भी दूसरों से भिन्न है। जैनदर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः मानी गई है जब कि ज्ञप्ति स्वतः और परतः दोनों प्रकार से मानी गई है। अभ्यास-दशा में ज्ञप्ति स्वतः होती है, अनभ्यास दशा में परतः। प्रमाण और फल के सम्बन्ध में भी जैन दृष्टिकोण भिन्न है। प्रमाण फल से कथंचित् भिन्न है कथंचित् अभिन्न।

स्याद्वाद और नय की जैन दर्शन की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा विशिष्ट है, हम पहले ही कह चुके हैं। नय का आविष्कार करके जैनतार्किकों ने सम्यक् एकान्त की सिद्धि करने का सफल प्रयत्न किया है। अपनी दृष्टि तक सीमित रहते हुए भी दूसरों की दृष्टि पर प्रहार न करना, यही नय का सन्देश है।

कर्मवाद पर जैनदर्शन के आचार्यों ने जितना विशाल साहित्य तैयार किया है उतना किसी दूसरे दर्शन के आचार्यों ने नहीं किया। कर्म-सिद्धान्त का इतना व्यवस्थित एवं सर्वांगपूर्ण विवेचन अन्य दर्शनों में नहीं मिलता।

प्रस्तुत ग्रंथ का प्रथम अध्याय धर्म, दर्शन और विज्ञान की तुलना के रूप में है। इससे दर्शन के क्षेत्र का और उसकी पद्धति का ज्ञान होने में सहायता मिलेगी। दूसरा अध्याय आदर्शवाद और यथार्थवाद के दार्शनिक दृष्टिकोणों को समझने के लिए है। जैनदर्शन का क्या दृष्टिकोण है व दूसरे दृष्टिकोणों से उसमें क्या विशेषता है, यह जानने की दृष्टि से इसे आवश्यक समझा गया है। पाश्चात्य और प्राच्य विचारधाराओं की सामान्य भूमिका क्या है, यह भी इससे ज्ञात होगा। तीसरा अध्याय जैनदर्शन के सामान्य स्वरूप व उसके आधार-भूत साहित्य पर है। इसमें आगम से लेकर आजतक के साहित्य का परिचय दिया गया है। जैन-दर्शन के विकास को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है। चौथा अध्याय तत्त्व पर है। तत्त्व के स्वरूप, भेद आदि का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। पाँचवाँ अध्याय ज्ञानवाद और प्रमाणशास्त्र पर है। इसमें आगमिक मान्यता और तार्किक मान्यता—दोनों का विचार किया गया है। छठा अध्याय स्याद्वाद पर है। आगमों में स्याद्वाद किस रूप में मिलता है, भगवती आदि में सप्तभङ्गी किस रूप में है, सप्तभङ्गी आगम-कालीन है या बाद के दार्शनिकों के दिमाग की उपज, आदि प्रश्नों को हल करने का प्रयत्न किया गया है और साथ ही स्याद्वाद पर किये जाने वाले प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रहारों का सप्रमाण उत्तर दिया गया है। सातवाँ अध्याय नय पर है। इसमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि का विवेचन करते हुए सात नयों का स्वरूप बताया गया है। आठवें अध्याय में कर्मवाद पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार इस ग्रंथ में जैन-दर्शन की मौलिक समस्याओं पर प्रकाश डालने की पूरी कोशिश की गई है। प्रायः मुख्य मुख्य सारी बातें इसमें आ गई हैं। कोई भी ऐसा महत्त्व का विषय नहीं है जिस पर इसमें प्रकाश न डाला गया हो। ऐसी बातें अवश्य छोड़ दी गई हैं जो केवल मान्यता की हैं, जिनका दार्शनिक दृष्टि से खास महत्त्व नहीं है। हिन्दी जगत् में इस प्रकार के ग्रन्थों की कमी है। प्रस्तुत ग्रंथ इस कमी को किसी अंश तक दूर करने का नम्र प्रयास है। पृष्ठों के नीचे स्थल-निर्देश व उद्धरण दिए गये हैं जिससे कोई भी बात निर्मूल मालूम न हो। 'नामूलं लिख्यते किंचित्' का यथा संभव पालन किया गया है।

ग्रंथ की पाण्डुलिपि सात वर्ष पूर्व ही तैयार हो चुकी थी किन्तु किन्हीं कारणों से ग्रंथ प्रकाशित न हो सका। आज इसे इस रूप में हमारे सन्मुख

प्रस्तुत करने का सारा श्रेय श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा को है। इसके लिए मैं ज्ञानपीठ का हृदय से आभारी हूँ। साथ ही श्रद्धेय उपाध्याय कवि अमर मुनिजी तथा अपने गुरु पं० दलसुख मालवणिया का भी अत्यन्त अनुगृहीत हूँ जिनकी सत्प्रेरणा एवं शुभाशीर्वादों के फलस्वरूप ही यह कार्य निष्पन्न हुआ।

—मोहनलाल मेहता
शैक्षणिक एवं व्यावसायिक
परामर्श केन्द्र
राजस्थान, बीकानेर
३-१२-५८

कहाँ—क्या—है ?

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ट संख्या

जै न द र्श न

एक :

धर्म, दर्शन और विज्ञान

धर्म की उत्पत्ति
धर्म का अर्थ
दर्शन का स्वरूप
विज्ञान का क्षेत्र
धर्म और दर्शन
दर्शन और विज्ञान
धर्म और विज्ञान

धर्म, दर्शन और विज्ञान

धर्म, दर्शन और विज्ञान परस्पर सम्बद्ध तो हैं ही, साथ ही साथ किसी न किसी रूप में एक दूसरे के पूरक भी हैं। यह ठीक है कि इन दृष्टियों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। तीनों अपनी-अपनी स्वतंत्र पद्धति के आधार पर सत्य की खोज करते हैं। तीनों अपने-अपने स्वतंत्र दृष्टिबिन्दु के अनुसार तत्त्व की शोध करते हैं। इतना होते हुए भी तीनों का लक्ष्य एकान्त रूप से भिन्न नहीं है। इसी दृष्टि को सामने रखते हुए हम धर्म, दर्शन और विज्ञान के लक्षणों व सम्बन्धों का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करेंगे।

धर्म की उत्पत्ति :

सर्वप्रथम हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि धर्म की उत्पत्ति का क्या कारण है। मानव-जीवन में ऐसे कौन से प्रश्न आये, जिनको सुलझाने के लिए मानव जाति को धर्म का आश्रय लेना पड़ा। ऐसी कौन सी कठिनाइयाँ आईं, जिन्हें दूर करने के लिए मनुष्य-जाति के हृदय में धर्म की प्रबल भावनाएँ जाग्रत हुईं।

किसी का मत है कि मनुष्य ने जब प्रकृति के अद्भुत कार्य देखे तब उसके मन में एक प्रकार की विचारणा जाग्रत हुई। उसने उन सब कार्यों के विषय में सोचना प्रारम्भ किया। सोचते-सोचते वह उस स्तर पर पहुँच गया, जहाँ श्रद्धा का साम्राज्य था। यहीं से धर्म की विचारधारा प्रारम्भ होती है। ह्यूम इस मत का विरोध करता है। उसकी धारणा के अनुसार धर्म की उत्पत्ति का मुख्य आधार प्राकृतिक कार्यों का चिन्तन नहीं, अपितु जीवन की कार्य-परम्परा है। मानव-जीवन में निरन्तर आने वाले भय व आशाएँ ही धर्म की उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं। जीवन के इन दो प्रधान भावों को छोड़कर अन्य कोई भी ऐसा कार्य या व्यापार नहीं, जिसे हम धर्म की उत्पत्ति का प्रधान कारण मान सकें। ह्यूम की इस मान्यता का विरोध करते हुए किसी ने केवल भय को ही धर्म की उत्पत्ति का कारण माना। इस मान्यता के अनुसार भय ही सर्व-प्रथम कारण था, जिसने मानव को भगवान् की सत्ता में विश्वास करने के लिए विवश किया। यदि भय न होता तो मानव एक ऐसी शक्ति में कदापि विश्वास न करता, जो उसकी सामान्य पहुँच व शक्ति के बाहर है। कान्ट ने इन सारी मान्यताओं का खण्डन करते हुए इस धारणा की स्थापना की कि धर्म का मुख्य आधार न आशा है, न भय है और न प्रकृति के अद्भुत कार्य ही ? धर्म की उत्पत्ति मनुष्य के भीतर रही हुई उस भावना के आधारपर होती है जिसे हम नैतिकता (Morality) कहते हैं। नैतिकता के अतिरिक्त ऐसा कोई आधार नहीं, जो धर्म की उत्पत्ति में कारण बन सके। जर्मन के दूसरे दार्शनिक हेगल ने कान्ट की इस मान्यता को विशेष महत्त्व न देते हुए इस मत की स्थापना की कि दर्शन और धर्म दोनों का आधार एक ही है। दर्शन और धर्म के इस अभेदभाव के सिद्धान्त का समर्थन क्रोस आदि अन्य विद्वानों ने भी किया है। हेगल के समकालीन दार्शनिक श्लैरमाकर ने धर्म की उत्पत्ति का आधार मानव की उस भावना को माना, जिसके अनुसार मानव अपने को सर्वथा परतंत्र (Absolutely dependent) अनुभव करता है। इसी ऐकान्तिक परतत्र भाव के आधार पर धर्म व ईश्वर की उत्पत्ति

होती है। हेगन्न और श्लैरमाकर की मृत्यु के कुछ ही समय उपरान्त धर्म की उत्पत्ति का प्रश्न डार्विन के विकासवाद के हाथ में चला गया। यह परिवर्तन दर्शन और विज्ञान की परम्परा के बीच एक गम्भीर संघर्ष था। धर्म की उत्पत्ति का प्रश्न, जो अब तक दार्शनिकों के हाथ में था, अकस्मात् विज्ञान के हाथ में आ गया। विज्ञान की शाखा मानव-विज्ञान (Anthropology) अपनी विकासवाद की धारणा के आधार पर धर्म की उत्पत्ति का अध्ययन करने लगा। इस मान्यता के अनुसार आध्यात्मिक श्रद्धा ही धर्म की उत्पत्ति का मुख्य आधार मानी गई।

इस प्रकार धर्म की उत्पत्ति के मुख्य प्रश्न को लेकर विभिन्न धारणाओं ने विभिन्न विचार-धाराओं का समर्थन किया। इन सब विचार-धाराओं का विश्लेषण करने से यह प्रतीत होता है कि धर्म की उत्पत्ति का प्रधान कारण न तो प्राकृतिक कार्यों की विचित्रता है, न आश्चर्य है और न आशा ही है अपितु मानव की असहाय अवस्था है, जिसमें एक प्रकार के भय का मिश्रण रहा हुआ है। इसी अवस्था से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य एक प्रकार की श्रद्धापूर्ण भावना का निर्माण करता है। यही भावना धर्म का रूप धारण करती है। भारतीय परम्परा में धर्म की उत्पत्ति का प्रधान कारण दुःख माना गया है। मनुष्य सांसारिक दुःख से मुक्ति पाने की आशा से एक श्रद्धापूर्ण मार्ग का अवलम्बन लेता है। यही मार्ग धर्म का रूप धारण करता है। जिसे पाश्चात्य परम्परा में असहायावस्था कहा गया है, वही भारतीय परम्परा में दुःख-मुक्ति की अभिलाषा है। इस ढंग से दोनों परम्पराओं में बहुत साम्य है।

धर्म का अर्थ :

धर्म की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न धाराओं का अध्ययन कर लेने के बाद यह जानना आवश्यक हो जाता है कि धर्म का वास्तविक अर्थ क्या है ? 'धर्म' शब्द का ठीक-ठीक अर्थ समझे बिना इसकी उत्पत्ति विषयक मान्यता स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आ सकती। धर्म का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है

"*धारणात् धर्मः*" अर्थात् जो धारण किया जाए वह धर्म है। 'धृ' धातु के धारण करने के अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग होता है। जैन परम्परा में वस्तु का स्वभाव धर्म कहा गया है।[1] प्रत्येक वस्तु का किसी न किसी प्रकार का अपना स्वतंत्र स्वभाव होता है। वही स्वभाव उस वस्तु का धर्म माना जाता है। उदाहरण के तौर पर अग्नि का अपना एक विशिष्ट स्वभाव है, जिसे उष्णता कहते हैं। यह उष्णता ही अग्नि का धर्म है। आत्मा के अहिंसा, संयम, तप आदि गुणों को भी धर्म का नाम दिया गया है[2]। इनके अतिरिक्त 'धर्म' के और भी अनेक अर्थ होते हैं। उदाहरण के लिए नियम,विधान, परम्परा, व्यवहार, परिपाटी,प्रचलन, आचरण, कर्तव्य, अधिकार, न्याय, सद्गुण, नैतिकता, क्रिया, सत्कर्म आदि अर्थों में धर्म शब्द का प्रयोग होता आया है।[3] जब हम कहते हैं कि वह धर्म में स्थित है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह अपना कर्तव्य पूर्ण रूप से निभा रहा है। जब हम यह कहते हैं कि वह धर्म करता है तो हमारा अभिप्राय कर्तव्य से न होकर क्रिया-विशेष से होता है---अमुक प्रकार के कार्य से होता है, जो धर्म के नाम से ही किया जाता है। बौद्ध परम्परा में धर्म का अर्थ वह नियम, विधान या तत्त्व है जिसका बुद्ध प्रवर्तन करते हैं। इसी का नाम 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' है। बौद्ध जिन तीन शरणों का विधान करते हैं उनमें धर्म भी एक है।[4]

इस प्रकार 'धर्म' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। भिन्न-भिन्न परम्पराएं अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार विविध स्थानों पर 'धर्म' शब्द के विविध अर्थ करती हैं। ऐसी कोई व्याख्या नहीं है, जिसे सभी स्वीकृत करते हों। ऐसा कोई लक्षण नहीं है, जो सर्व-सम्मत हो।

---

१. वत्थुसहावो धम्मो

२. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।

३. Sanskrit - English Dictionary (Monier Williams)

४. धम्मं सरणं गच्छामि, बुद्धं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि।

वस्तुतः 'धर्म' से हमारा अभिप्राय इस समय उस शब्द से है, जिसे अँग्रेजी में 'रिलीजन' कहते हैं। अंग्रेजी के 'रिलीजन' शब्द से हमारे मन में जो स्थिर अर्थ जम जाता है, 'धर्म' शब्द से वैसा नहीं होता, क्योंकि 'रिलीजन' शब्द का एक विशेष अर्थ में प्रयोग होता है। 'रिलीजन' शब्द के एक निश्चित अर्थ को दृष्टि में रख कर ही भिन्न-भिन्न विचारक उस अर्थ को अपनी-अपनी दृष्टि से भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त करते हैं। उन सब रूपों में उस अर्थ की मूल भित्ति प्रायः एक सरीखी ही होती है। 'धर्म' शब्द के विषय में एकान्त रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'रिलीजन' अर्थात् 'धर्म' शब्द का पाश्चात्य विचारकों ने किन-किन रूपों में क्या अर्थ किया है; इसे जरा देख लें। कान्ट के शब्दों में अपने समस्त कर्तव्यों को ईश्वरीय आदेश समझना ही धर्म है। हेगल की धारणा के अनुसार 'धर्म' सीमित मस्तिष्क के भीतर रहने वाले अपने असीम स्वभाव का ज्ञान है अर्थात् सीमित मस्तिष्क का यह ज्ञान कि वह वास्तव में सीमित नहीं अपितु असीम है, धर्म है। मेयर्स ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा कि मानव-आत्मा का ब्रह्माण्ड-विषयक स्वस्थ और साधारण उत्तर ही धर्म है। इन तीन मुख्य व्याख्याओं के अतिरिक्त और भी ऐसी व्याख्याएँ हैं जिन्हें देखने से हमारी धर्मविषयक धारणाएँ बहुत कुछ स्पष्ट हो सकती हैं। व्हाइटहेड ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है: व्यक्ति अपने एकाकी रूप के साथ जो कुछ व्यवहार करता है वही धर्म है अर्थात् जिस समय व्यक्ति अपने को एकान्त में सर्वथा अकेला पाता है और यह समझता है कि जो कुछ उसका स्वरूप है वह यही व्यक्तित्व है, ऐसी अवस्था में उसका अपने साथ जो व्यवहार होता है; व्हाइटहेड की भाषा में वही धर्म है। यह धर्म का वैयक्तिक लक्षण है। व्यक्ति का अंतिम मूल्य व्यक्ति स्वयं ही है, ऐसा मानकर धर्म की उपरोक्त व्यवस्था की गई है। यह दृष्टिकोण एकान्त व्यक्तिवाद (Absolute Individualism) का सूचक है। अमेरिका के एक मनोविज्ञान-शास्त्री आमेन ने धर्म की ठीक इससे विपरीत व्याख्या करते हुए कहा: जो ईश्वर से प्रेम करता है वह अपने भाई से अवश्य प्रेम करता है।

यह धर्म की सामाजिक व्याख्या है। व्यक्ति केवल व्यक्तिगत साधना से धार्मिक नहीं हो सकता। धार्मिक बनने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति समाज की सेवा करे। जो व्यक्ति समाज की उपेक्षा करके धर्म की आराधना करना चाहता है वह वास्तव में धर्म से बहुत दूर है। यह दृष्टिकोण समाजवादी विचारधारा का पोषक और समर्थक है। इसे हम एकान्त समाजवाद (Absolute Socialism) का नाम दे सकते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने इसी धारणा को दृष्टि में रखते हुए धर्म का स्वरूप इस ढंग से बताया कि धर्म विश्व को व्यापक रूप से समझने की एक काल्पनिक धारणा है। संसार के समस्त पदार्थ, एक ऐसी शक्ति की अभिव्यक्ति है, जो हमारे ज्ञान से परे है। स्पेन्सर की यह धारणा आदर्शवादी दृष्टिकोण के बहुत समीप है। हेगल के समान स्पेन्सर ने भी धर्म के साथ दर्शन की विचारधारा का समन्वय किया है, ऐसा प्रतीत होता है। मक्टागार्ट ने इसी लक्षण को जरा और स्पष्ट करते हुए कहा : धर्म चित्त का वह भाव है जिसके द्वारा हम विश्व के साथ एक प्रकार के मेल का अनुभव करते हैं। जेम्सफ्रेजर के शब्दों में धर्म, मानव से ऊँची गिनी जाने वाली उन शक्तियों की आराधना है, जो प्राकृतिक व्यवस्था व मानव-जीवन का मार्गदर्शन व नियंत्रण करने वाली मानी जाती हैं। धर्म का उपरोक्त स्वरूप विचारात्मक व भावात्मक न होकर क्रियात्मक है, ऐसा मालूम होता है। आराधना या पूजा मानसिक होने की अपेक्षा विशेष रूप से कायिक होती है, तथापि उसके अन्दर इच्छाशक्ति का सर्वथा अभाव नहीं होता। यदि ऐसा होता तो शायद आराधना करने की प्रेरणा ही न मिलती। जहाँ तक प्रेरणा की जागृति का प्रश्न है, इच्छाशक्ति अवश्य कार्य करती है। जिस समय वह प्रेरणा कार्यरूप में परिणत होती है, उस समय उसका क्रियात्मक रूप हो जाता है और वह कायिक श्रेणी में आ जाती है। जेम्सफ्रेजर की उपरोक्त व्याख्या मानसिक व कायिक दोनों दृष्टियों से आराधना का विधान करती है, यह बात इस विवेचना से स्पष्ट हो जाती है। विलियम जेम्स ने किसी उच्च शक्तिविशेष की आराधना का विधान न करके विश्वास के आधार पर ही धर्म की नींव

रखी। जेम्स के शब्दों में धर्म एक श्रद्धा है, जिसे धारण कर मनुष्य सोचता है कि जगत एक अदृष्ट नियम के आधार पर चलता है जिसके साथ मेल रखने में ही हमारा उत्कृष्ट हित है।[1] इस व्याख्या के अनुसार धर्म का आराधना या पूजा से कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य जगत् के साथ मैत्री का व्यवहार करे, यही इस व्याख्या का अभिप्राय है। संसार का सारा कार्य एक ऐसे नियम के अनुसार चलता है जिसका स्पष्ट दर्शन हमारी योग्यता से बाहर है। हम लोग अपनी साधारण बुद्धि के आधार पर उस नियम तक नहीं पहुँच सकते। उस नियम का पूर्ण विश्लेषण हमारी शक्ति से बाहर है। अपनी इस अयोग्यता को दृष्टि में रखते हुए संसार के समस्त प्राणियों के प्रति सद्भावना व मित्रता का व्यवहार रखना ही धर्म है। धर्म का यह लक्षण नैतिकता का पोषण करनेके लिए बहुत उपयोगी है।

इन सब व्याख्याओं को देखने से यह सहज ही समझ में आ जाता है कि धर्म का सर्वसम्मत एक लक्षण निर्धारित करना कठिन है। इतना होते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि धर्म, मानव विचार और आचार का आवश्यक अंग है।

यह ठीक है कि धर्म के कुछ चिह्न सामान्य होते हैं और कुछ विशेष। सामान्य चिह्न के आधार पर ही सम्पूर्ण समाज की उन्नति होती है। विशेष चिह्न या लक्षण विशेष परिस्थिति या समय की दृष्टि से उपयोगी एवं ग्राह्य होते हैं। ऐसे लक्षणों का सामान्य रूप से उपयोग नहीं हो सकता। धर्म के चिह्न आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के होते हैं। आभ्यन्तर चिह्न विचार-प्रधान होते हैं और बाह्य चिह्न आचार-प्रधान। दोनों में श्रद्धा का प्रमुख स्थान है, पर रूढ़ि की आवश्यकता नहीं।

दर्शन का स्वरूप :

धर्म का स्वरूप बताना जितना कठिन है, प्रायः दर्शन का स्वरूप-निरूपण भी उतना ही कठिन है। दर्शन का सीधा अर्थ होता है :

१. Varieties of Religious Experience, पृष्ठ ५३.

दृष्टि। इसी दृष्टि को अँग्रेजी में विजन (Vision) कहते हैं। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति देखता ही है। जिसके आँखें होती हैं वह उनका उपयोग करता ही है। हम यहाँ पर जिस 'दृष्टि' का प्रयोग कर रहे हैं, वह 'दृष्टि' साधारण दृष्टि नहीं है। आँखों से देखना ही हमारी 'दृष्टि' का विषय नहीं है। दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त होने वाली दृष्टि का एक विशिष्ट अर्थ होता है। इस दृष्टि का उत्पत्ति स्थान आखें न होकर बुद्धि है, विवेक है, विचार-शक्ति है, चिन्तन है। साधारण दृष्टि में जहाँ आँखें देखती हैं, दार्शनिक दृष्टि में देखने का काम विचार-शक्ति करती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो साधारण दृष्टि बाह्य चक्षुओं को अपना करण बनाती है और दार्शनिक दृष्टि आन्तरिक चक्षु से काम लेती है। विवेक, विचार और चिन्तन इसी आन्तरिक चक्षु के पर्याय हैं।

मनुष्य अपने आसपास अनेक प्रकार की वस्तुएँ देखता है। वह संसार के बीच अपने को अकेला नहीं पाता, अपितु अन्य पदार्थों से घिरा हुआ अनुभव करता है। वह यह समझता है कि मेरा संसार के सब पदार्थों से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य है। किसी न किसी रूप में मैं सारे जगत् से बँधा हुआ हूँ। जिस समय मनुष्य इस सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न करता है उस समय उसका विवेक जाग्रत हो जाता है, उसकी बुद्धि अपना कार्य संभाल लेती है, उसकी चिन्तन-शक्ति उसकी सेवा में लग जाती है। इसी का नाम दर्शन है। दूसरे शब्दों में दर्शन जीवन और जगत् को समझने का एक प्रयत्न है। दार्शनिक जीवन और जगत् को खण्डशः न देखता हुआ दोनों का अखण्ड अध्ययन करता है। उसकी दृष्टि में जगत् एक अखण्ड सत्ता होती है जिसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक कार्य पर पड़ता है। जीवन और जगत् के इस सम्बन्ध को समझना ही दर्शन है। एक सच्चा दार्शनिक विज्ञानवेत्ता की तरह सत्ता के अमुक रूप या अंश का ही अध्ययन नहीं करता, कवि या कलाकार की भाँति सत्ता के सौन्दर्य अंश का ही विश्लेपण नहीं करता, एक व्यापारी की भाँति केवल लाभ-हानि का ही हिसाब नहीं करता, एक धर्मोपदेशक की तरह केवल परलोक की ही बातें नहीं करता, अपतु सत्ता के सभी धर्मों

का एक साथ अध्ययन करता है। अपनी विचार-शक्ति व बुद्धि की योग्यतानुसार जगत् के प्रत्येक तत्त्व की गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। उसकी खोज किसी समय-विशेष या स्थान-विशेष तक ही सीमित नहीं होती। प्लेटो के शब्दों में वह सम्पूर्ण काल व सत्ता का द्रष्टा है।[1] उसका दृष्टिकोण इतना विशाल एवं विस्तृत होता है कि उसके अन्दर सब समा सकते हैं, किन्तु बाहर कोई नहीं निकल सकता। उसकी खोज कहाँ से प्रारम्भ होती है, इसे हरेक समझ सकता है, किन्तु वह कहाँ तक चला जाता है, यह समझना दूसरों के लिए बहुत कठिन है। वह कहाँ से चलता है, यह तो दिखाई देता है, किन्तु कहाँ पहुँचता है, इसका पता नहीं लगता। उसकी खोज किसी सीमा-विशेष से सीमित नहीं होती। इस विवेचन से हम सहज ही समझ सकते हैं कि दर्शन का क्षेत्र ज्ञान की सब धाराओं से विशाल है। मानव-बुद्धि की सभी शाखाएँ दर्शन के अन्तर्गत आ सकती हैं। जहाँ मानव-मस्तिष्क सोचना प्रारम्भ करता है, वहीं दर्शन का प्रारम्भ हो जाता है। दर्शन ज्ञान की प्रत्येक धारा का अध्ययन करता है, ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं कि वह प्रत्येक वस्तु को पूरी गहराई तक जानता है, क्योंकि ऐसा करना मानव की शक्ति के बाहर है। दर्शन सम्पूर्ण विश्व का अध्ययन करता है, इसका अर्थ यही है कि विश्व के मूलभूत सिद्धान्तों की खोज ही उसका प्रधान लक्ष्य है। जगत् के मूल में कौनसा तत्त्व काम कर रहा है, जीवन का उस तत्त्व के साथ क्या सम्बन्ध है, आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वों की सत्ता में क्या अन्तर है, दोनों की समानता और असमानता का क्या रहस्य है, अन्तिम और वास्तविक तत्त्व की क्या कसौटी है, ज्ञान व बाह्य पदार्थ के बीच क्या सम्बन्ध है, ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न.........इत्यादि की खोज ही दर्शन का प्रधान उद्देश्य है। जीवन और जगत् की मौलिक समस्याएँ मानव-मस्तिष्क की प्रयोगशाला में किस तरह हल हो सकती हैं: इसका चिन्तन करना ही दर्शन का मुख्य काम

1. The spectator of all time and existence.

है। भौतिक विज्ञान की भाँति दर्शन केवल जगत् का विश्लेषण या स्पष्टीकरण ही नहीं करता अपितु उसकी उपयोगिता का भी विचार करता है। उपयोगितावाद दर्शन की मौलिक सूझ है। इसी सूझ के बल पर दर्शन जीवन की वास्तविकता समझने का दावा कर सकता है। जीवन की वास्तविकता जगत् की वास्तविकता से सम्बद्ध है, अतः जीवन की वास्तविकता समझने वाला जगत् की वास्तविकता भी समझ लेता है, यह स्वतः सिद्ध है।

विज्ञान का क्षेत्र :

बरट्रन्ड रसल लिखता है : विज्ञान के दो प्रयोजन होते हैं। एक ओर तो यह इच्छा रहती है कि अपने क्षेत्र में जितना जाना जा सके उतना जान लिया जाय। दूसरी ओर यह प्रयत्न रहता है कि जो कुछ जान लिया गया है उसे कम से कम 'सामान्य नियमों' में गूँथ लिया जाय। रसल के इस कथन में विज्ञान का क्षेत्र दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में विज्ञान के अध्ययन की सामग्री की ओर संकेत है। यह तो प्रायः स्पष्ट ही है कि विज्ञान जितनी भी सामग्री एकत्र करता है, अपने अवलोकन के आध र पर। अवलोकन (Observation) को छोड़कर उसके पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिसकी सहायता से वह अपनी सामग्री जुटा सके। धर्म और दर्शन की तरह केवल श्रद्धा या चिन्तन से विज्ञान का कार्य नहीं चल सकता। विज्ञान तो प्रत्येक प्रयोग को अवलोकन की कसौटी पर कसता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो विज्ञान प्रत्यक्ष अनुभववादी है। जिस चीज का प्रत्यक्ष अनुभव होता है वही चीज विज्ञान की दृष्टि से ठीक होती है। उसकी सामग्री का आधार प्रत्यक्ष अनुभव है। इन्द्रियों की सहायता से मनुष्य जितना अनुभव प्राप्त करता है वही विज्ञान का विषय है। आत्मप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष या अन्य प्रत्यक्ष में उसका विश्वास नहीं होता। विज्ञान का सर्व प्रथम कार्य यही है कि वह अनुभव के आधार पर जितना ज्ञान प्राप्त हो सकता है, प्राप्त करने की कोशिश करता है। अपने अभीष्ट विषय को दृष्टि में रखते हुए इन्द्रियों और अन्य भौतिक-साधनों की सहायता

से जितना ज्ञान इकट्ठा हो सकता है, इकट्ठा करने का प्रयत्न करता है। यह विज्ञान की पहली भूमिका है। इस भूमिका का ज्ञान बिखरा हुआ होता है। ज्ञान की सामग्री का कोई साधारणीकरण नहीं होता। जो ज्ञान जिस रूप में अवलोकन के आधार पर प्राप्त होता है, वह ज्ञान उसी रूप में बिखरा हुआ पड़ा रहता है। उसकी कोई बुद्धिजन्य व्यवस्था नहीं होती—उसका किसी प्रकार का साधारणीकरण नहीं होता। जहाँ पर बुद्धिजन्य व्यवस्था प्रारंभ होती है वहीं से दूसरी भूमिका का प्रारम्भ होता है। यही दूसरी भूमिका रसल ने दूसरे भाग में रखी है। इस भूमिका में विज्ञान, प्राप्त सामग्री के आधार पर, यह निर्णय करने का प्रयत्न करता है कि यह सारी सामग्री कितनी कक्षाओं में विभाजित हो सकती है? कितनी ऐसी श्रेणियाँ बन सकती हैं जिनमें सारी सामग्री ठीक-ठीक बैठ सके? यह एक प्रकार की वर्गीकरण की भूमिका होती है, जिसमें ऐसे कुछ वर्ग बनाए जाते हैं जिनका सामान्य आधार होता है। इस प्रकार के वर्गीकरण को ही साधारणीकरण कहते हैं। मानव जाति हमेशा व्यवस्थित प्रणाली पसन्द करती है। अव्यवस्थित ज्ञान या पद्धति से किसी जाति या समाज का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता, क्योंकि जाति या समाज का अर्थ ही व्यवस्था होता है। विज्ञान की इस द्वितीय भूमिका में यही कार्य होता है। सारी अव्यवस्थित सामग्री एक व्यवस्थित रूप धारण कर लेती है। अनुभवजन्य ज्ञान के इस व्यवस्थित रूप को सामने रखकर ही विज्ञान अपने क्षेत्र में आगे बढ़ता है। यहीं से प्रयोग (Experiment) प्रारम्भ होता है। प्रयोग का अर्थ होता है नियन्त्रित अवलोकन। सामान्य नियम या साधारणीकरण के आधार पर उसी प्रकार की अन्य सामग्री का परीक्षण करना, इसी का नाम नियन्त्रित अवलोकन या प्रयोग है। यदि प्रयोग में वह सामान्य नियम ठीक उतरता है तो समझ लिया जाता है कि अमुक नियम ठीक है। प्रयोग में यदि कुछ कमी मालूम होती है तो समझ लिया जाता है कि साधारणीकरण में कुछ त्रुटि है। इस ढंग से प्रयोगशाला (Laboratory) विज्ञान के नियमों की कसौटी-स्थल है। जिन नियमों को प्रयोगशाला प्रमाणित कर देती है

वे नियम अन्तिम रूप से सही समझ लिए जाते हैं। ऐसे प्रमाणित नियम ही विज्ञान की दृष्टि में प्रमाणभूत सामान्य नियम माने जाते हैं। इन्हीं नियमों को सर्वव्यापी या सार्वत्रिक नियम (Universal Rules) कहते हैं। ये सार्वत्रिक नियम ही विज्ञान के प्राण हैं। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि इन नियमों का मुख्य आधार हमारा अनुभव है। अनुभव के साथ नियमों का मेल ही विज्ञान का कार्य है। ऐन्स्टन के शब्दों में विज्ञान का कार्य यही है कि वह हमारे अनुभवों का अनुसरण करता है और साथ ही साथ उन्हें एक तर्कसंगत प्रणाली में जमा देता है।

धर्म और दर्शन :

धर्म और दर्शन के प्रश्न को लेकर मुख्य रूप से दो प्रकार की विचारधाराएँ कार्य कर रही हैं। एक विचारधारा के अनुसार धर्म और दर्शन अभिन्न हैं। दूसरी विचारधारा इस मत से बिलकुल विपरीत है। वह इस मत की पुष्टि करती है कि धर्म और दर्शन का एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म का क्षेत्र बिलकुल अलग है और दर्शन का क्षेत्र उससे बिलकुल भिन्न है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र हैं। उदाहरण के तौर पर हरमन स्पष्ट शब्दों में कहता है कि धार्मिक व्यक्ति का इससे कोई प्रयोजन नहीं कि दर्शन की अमुक शाखा ईश्वरवाद का समर्थन करती है या अनीश्वरवाद की स्थापना करती है। हेगल ने ठीक इससे विपरीत बात कही। उसके मतानुसार धर्म की सत्यता दर्शन में ही पाई जाती है। इस प्रकार की विरोधी विचारधाराओं को देखने से यही मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न विचारकों ने धर्म और दर्शन की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। उस व्याख्या के अनुसार अमुक विचारक धर्म को दर्शन से अभिन्न मानता है तो अमुक विचारक धर्म से दर्शन को भिन्न मानता है,। वास्तव में धर्म और दर्शन का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। यदि दोनों एक ही होते तो दो दृष्टियों की आवश्यकता ही न होती। धर्म की अपनी दृष्टि होती है और दर्शन की अपनी दृष्टि होती है। दोनों को एकान्त रूप से अभिन्न कहना तर्क, और श्रद्धा का सांकर्य करना है। दोनों के भेद का सर्वथा नाश करना, विचार-

भक्ति और श्रद्धापूर्ण आचरण के भेद को समाप्त करना है। यह ठीक है कि धर्म और दर्शन के कुछ विषय सामान्य हैं। ईश्वर, पुनर्जन्म इत्यादि अनेक प्रश्न दोनों के सामने आते हैं। इतना होते हुए भी दोनों की पद्धति में बहुत अन्तर है। एक धार्मिक व्यक्ति ईश्वर के सम्बन्ध में जिस ढंग का व्यवहार करता है, एक दार्शनिक वैसा नहीं कर सकता। धार्मिक व्यक्ति का श्रद्धापूर्ण आचरण दर्शनशास्त्री को विवश नहीं कर सकता कि वह भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास करे। एक दार्शनिक की तर्क-शक्ति एक श्रद्धालु धार्मिक को अपने पथ से नहीं डिगा सकती। धर्म और दर्शन में खास अन्तर यह है कि धर्म में आचरण या व्यवहार प्रधान होता है और सिद्धान्त या ज्ञान गौण होता है। धर्म की दृष्टि में क्रिया का जो मूल्य होता है, ज्ञान का वह मूल्य नहीं होता। इसके विपरीत दर्शन में ज्ञान का मूल्य अधिक होता है और क्रिया का कम। ज्ञान और क्रिया की यह हीनाधिकता ही दर्शन और धर्म की सीमा-रेखा है। दार्शनिक विचारधारा की सफलता की कुंजी बुद्धि है, जब कि धर्म के क्षेत्र में यह कार्य श्रद्धा करती है। धार्मिक श्रद्धा और दार्शनिक सिद्धान्त में मौलिक भेद यह है कि दार्शनिक दृष्टिकोण शुद्ध रूप से बौद्धिक होता है जब कि धार्मिक श्रद्धा का मूल आधार भावुकता है, जो सिद्धान्त को बदलने से भी नहीं चूकती। उसकी दृष्टि में सिद्धान्त का कोई मूल्य नहीं होता। ज्यों ही श्रद्धा बदलती है, सिद्धान्त भी बदल जाता है। इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि धर्म और दर्शन एकान्त रूप से भिन्न हैं। धर्म पर जब किसी प्रकार का बाह्य संकट आता है उस समय दर्शन उसे बचाने के लिए सबसे पहले आगे आता है। दर्शन की सहायता के बिना धर्म अधिक काल तक नहीं टिक सकता। जिस श्रद्धा के पीछे तर्क-बल नहीं होता वह चिरस्थायी नहीं हो सकती। तर्क की कसौटी पर कसी हुई श्रद्धा ही लम्बे काल तक जीवित रह सकती है। धर्म और दर्शन का इस प्रकार का सम्बन्ध होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि दर्शन धर्म की प्रत्येक मान्यता को अपने तर्क-बल से सिद्ध कर सकता है। भावुकता-प्रधान मान्यताएँ धर्म के क्षेत्र में ही

अपना प्रभुत्व रखती हैं। कभी-कभी दर्शन इस प्रकार की मान्यताओं का खण्डन करने का प्रयत्न करता है तो धर्म के साथ उसका विरोध हो जाता है और उस विषय में वह उसकी वात मानने के लिये तैयार नहीं होता। परिणाम स्वरूप धर्म और दर्शन समय-समय पर टकराते भी रहते हैं। उस टक्कर में कभी धर्म की हार होती है तो कभी दर्शन की। धर्म और दर्शन का यह संघर्ष हमेशा से चलता आया है।

इस ढंग से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि धर्म और दर्शन में मौलिक एकता होते हुए भी दोनों के साधनों में अन्तर है। दोनों का विषय एक होते हुए भी वहाँ तक पहुँचने की पद्धति व मार्ग में अन्तर है। मानव-जीवन की दो मुख्य शक्तियों—श्रद्धा और तर्क में से एक का आधार श्रद्धा है और दूसरे का आधार तर्क है। एक का आधार विचारशक्ति है और दूसरे का आधार भावुकता है। एक का आधार स्थिरता है और दूसरे का आधार गति है। धर्म हमेशा श्रद्धा, भावुकता व स्थिरता का आश्रय लेता है। दर्शन का आश्रय तर्क, विचारशक्ति व गति है।

दर्शन और विज्ञान :

दर्शन और विज्ञान दो भिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हैं। दर्शन विश्व को एक सम्पूर्ण तत्त्व समझ कर उसका ज्ञान कराता है और विज्ञान दृश्य जगत् के विभिन्न अंगों का अलग-अलग अध्ययन करता है। इस प्रकार दर्शन का क्षेत्र विज्ञान से कई गुना अधिक है। ज्ञान की कोई भी धारा जिसका मानव-मस्तिष्क से सम्बन्ध है, दर्शन के क्षेत्र से बाहर नहीं हो सकती। दर्शन हमेशा ज्ञान की धारा के पीछे रहे हुए अन्तिम तत्त्व को खोजने की कोशिश करता है और उसी के आधार पर उस धारा को स्पष्ट करता है। विज्ञान दृश्य जगत् तक ही सीमित है, अतः उसका कार्य हमेशा पदार्थों का एकत्रीकरण, व्यवस्था और वर्गीकरण ही रहेगा। जो चीजें बाह्य अवलोकन और प्रयोग के आधार पर जैसी सिद्ध होंगी, विज्ञान उन चीजों को उसी रूप में लेता रहेगा। इस ढंग से विज्ञानप्रदत्त ज्ञान हमेशा दृश्य जगत्-विषयक होगा। विज्ञान ने अध्ययन की सुविधा

की दृष्टि से जगत् को तीन भागों में बाँट रखा है—भौतिक (Physical), प्राण-सम्बन्धी (Biological) और मानसिक (Mental)। इन तीनों शाखाओं का ज्ञान ही आज के विज्ञान का पूर्ण ज्ञान है। यह ज्ञान पूर्ण होते हुए भी दृश्य जगत् तक ही सीमित होता है; अतः इसे विश्व का सम्पूर्ण और सच्चा ज्ञान नहीं कह सकते। विश्व के अदृश्य और गूढ़ सिद्धान्त विज्ञान की दृष्टि से ओझल रहते हैं, अतः इन सिद्धान्तों के अभाव में विज्ञान का ज्ञान पारमार्थिक दृष्टि से पूर्ण नहीं कहा जा सकता। व्यावहारिक सत्य की दृष्टि से भले ही हम विज्ञान को पूर्ण व सर्वांगी कह सकते हैं, किन्तु अन्तिम सत्य की दृष्टि से वैसा कहना ठीक नहीं। इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टिकोण हमेशा अपूर्ण व एकांगी होता है और इसीलिए दार्शनिक ज्ञान, जो कि पूर्ण व सर्वांगी होता है, उसकी तुलना में वह संकुचित मालूम होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि दर्शन और विज्ञान का केवल क्षेत्र ही भिन्न है। जिस प्रकार इन दोनों का क्षेत्र भिन्न है उसी प्रकार इनकी विधि भी भिन्न है। विज्ञान की विधि हमेशा आनुभविक (Empirical) एवं व्याप्तिमूलक (Inductive) होती है। उसका आधार हमेशा बाह्य अनुभव होता है, जो अवलोकन एवं प्रयोग पर खड़ा होता है। दर्शन की विधि का आधार केवल अनुभव नहीं होता, अपितु युक्ति और अनुभव दोनों होते हैं। युक्ति और अनुभव के सम्मिलित प्रयत्न से प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही दर्शन की भूमिका का निर्माण करता है। साधारण अनुभव का तर्क के साथ विरोध होने पर दर्शन अनुभव को छोड़ने के लिए तैयार हो सकता है, किन्तु तर्क का त्याग उसके लिए सम्भव नहीं। विज्ञान की विधि इससे विपरीत होती है। अनुभव का त्याग विज्ञान की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। वह तर्क को कोई महत्त्व नहीं देता अपितु अनुभव को ही सब कुछ समझता है। इस प्रकार दर्शन की विधि का आधार केवल अनुभव नहीं है, अपितु युक्ति और अनुभव दोनों हैं जबकि विज्ञान केवल अनुभव पर टिका हुआ है। दूसरी बात यह है कि विज्ञान का

आधार केवल व्याप्ति है जबकि दर्शन व्याप्ति (Induction) और निगमन (Deduction)[१] दोनों को आधार मान कर चलता है। इस प्रकार दर्शन विज्ञान की व्याप्ति-पद्धति को तो अपनाता ही है, साथ ही साथ निगमन-पद्धति का भी उपयोग करता है।

विज्ञान और दर्शन में दूसरा मुख्य भेद यह है कि विज्ञान अपने निर्णय का प्रदर्शन अपूर्ण रूप में करता है, जबकि दर्शन अपने विषय का स्पष्टीकरण पूर्ण रूप से करता है। वैज्ञानिक निर्णय पूर्ण इसलिए नहीं होता कि उसका आधार सत्य का एक अंश-दृश्य जगत् ही है। इस अंश के पीछे रहने वाला दूसरा महत्त्वपूर्ण अंश-अलौकिक अथवा पारमार्थिक जगत् (Noumenon) विज्ञान को दिखाई नहीं देता, परिणामस्वरूप विज्ञान का दर्शन अधूरा होता है। दर्शन सत्य के दोनों अंशों को देखता है और उन्हीं अंशों के आधार पर अपना निर्णय देता है, फलस्वरूप दर्शन का निर्णय पूर्ण होता है।

१—विशेष घटनाओं को देखकर उनके आधार पर एक सामान्य नियमका निर्माण करना व्याप्ति (Induction) है, उदाहरण के लिए धूम और अग्नि के कार्य-कारण भाव को ले सकते हैं। हम अनेक स्थानों पर धूम और अग्नि को एक साथ देखते हैं तथा कहीं पर भी बिना अग्नि के धूम को नहीं देखते। इस अवलोकन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि धूम अग्नि का ही कार्य है। इस प्रकार के कार्य-कारणभाव के ग्रहण का नाम व्याप्ति-ग्रहण है। इसी को अंग्रेजी में (Induction) कहते हैं। इसके विपरीत एक दूसरी पद्धति है जिसे निगमन (Deduction) कहते हैं। इसके अनुसार सामान्य नियम के आधार पर विशेष घटना की कसौटी होती है। उदाहरण के लिये मानवता को लीजिए। 'मानवता' एक सामान्य सिद्धान्त या गुण है। जिसमें हम यह गुण देखते हैं उसी को मानव कहना पसन्द करते हैं। निगमन विधि की विशेषता यह है कि वह हमारे अनुभव के आधार पर नहीं बनती अपितु हमारा अनुभव उसको आधार मान कर आगे बढ़ता है। दूसरे शब्दों में व्याप्ति संयोजनात्मक (Synthetic) है, जबकि निगमन विश्लेषणात्मक (Analytic) है। व्याप्ति अनेक घटनाओं के संयोजन से एक नियम बनाती है; निगमन का कार्य एक बने हुए नियम का विश्लेषण पूर्वक विविध घटनाओं के साथ मेल स्थापित करना है।

दर्शन और विज्ञान में इस प्रकार महत्त्वपूर्ण अन्तर होते हुए भी दोनों में कुछ साम्य भी है। विज्ञान और दर्शन दोनों का उद्देश्य एक है, सामान्य है और वह है स्पष्टीकरण। स्पष्टीकरण का अर्थ होता है—ज्ञान का संयुक्तीकरण। ज्ञान का संयुक्तीकरण अर्थात् विशेष सत्यों का सामान्य सत्य के सिद्धान्तों में परिवर्तन। यद्यपि दर्शन और विज्ञान दोनों स्पष्टीकरण के सामान्य उद्देश्य को सामने रख कर आगे चलते हैं, किन्तु विज्ञान उसके अन्तिम छोर तक नहीं पहुँच पाता, जबकि दर्शन विज्ञान को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ जाता है और सत्य के अन्तिम किनारे तक जा पहुँचता है। कई दार्शनिकों की यह धारणा भी है कि वास्तव में दर्शन का कार्य वहीं से प्रारंभ होता है जहाँ पर विज्ञान का कार्य समाप्त होता है। दृश्य जगत् का जितना अनुभवजन्य और साधारण विवेचन तथा स्पष्टीकरण हो सकता है, वह सब विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। जहाँ पर विज्ञान का अनुभव कुछ कार्य नहीं कर सकता, 'वैज्ञानिक अवलोकन की गति मन्द ही नहीं अपितु बन्द हो जाती है, वहाँ से दर्शन की खोज प्रारम्भ होती है। दर्शन की खोज का अन्त स्वयं सत्य का अन्त है। जहाँ तक सत्य है वहाँ तक दर्शन है और जहाँ तक दर्शन है वहाँ तक सत्य है।

धर्म और विज्ञान :

विज्ञान के समन्वय का काल था। मध्यकालीन विज्ञान के अग्रदूत-ग्रोसेटेट, कोपरनिकस और रोजरबेकन बहुत बड़े महन्त थे। सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दी में धर्म और विज्ञान ने अपना-अपना क्षेत्र सर्वथा अलग कर लिया। दोनों के बीच एक प्रकार का समझौता हो गया, जिसके अनुसार भौतिक जगत् का भार विज्ञान के कन्धों पर पड़ा और आध्यात्मिक जगत् का भार धर्म के लिए बच गया। डार्विन के विकासवाद ने धर्म और विज्ञान के बीच इतनी गहरी खाई खोद दी कि दोनों के पुनर्मिलन की आशा हमेशा के लिए अस्त हो गई।

आज हम धर्म और विज्ञान के बीच जो कलह या संघर्ष देखते हैं, वह वास्तव में धर्म और विज्ञान का संघर्ष नहीं है, अपितु उन दो वस्तुओं के बीच एक प्रकार की खटपट है, जो धर्म और विज्ञान के नाम से सिखाई जाती है। जिस प्रकार कला और विज्ञान के बीच कोई कलह नहीं है, कला और धर्म में कोई झगड़ा नहीं है, उसी प्रकार धर्म और विज्ञान में भी कोई संघर्ष नहीं है। दोनों की अपनी अपनी दृष्टि है और उसी दृष्टि के आधार पर दोनों तत्त्व के दो भिन्न-भिन्न अंशों को ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं। साधारणतया यह माना जाता है कि धर्म आन्तरिक अनुभव (Inner Experience) को अपना आधार बनाकर चलता है और विज्ञान बाह्य अनुभव (Outer Experience) पर खड़ा होता है, किन्तु इस भेद पर विशेष जोर देना ठीक नहीं, क्योंकि कभी-कभी धर्म बाह्य अनुभव को भी प्रमाण मानता हुआ आगे बढ़ता है। धर्म और विज्ञान में खास अन्तर यह है कि विज्ञान का सम्बन्ध वस्तु के अस्तित्व धर्म से ही होता है। विज्ञान, वस्तु को 'क्या है' केवल इसी रूप में ग्रहण करता है। धर्म, इस 'क्या है' के साथ-ही-साथ उसका 'क्या मूल्य है' इस सत्य को भी प्रतिपादित करने का प्रयत्न करता है। विज्ञान की दृष्टि में वस्तु का अपना अस्तित्व होता है, मूल्य नहीं। मूल्यांकन करना धर्म की अपनी विशेषता है।

दो :

दर्शन, जीवन और जगत्

दर्शन की उत्पत्ति
भारतीय परम्परा का प्रयोजन
दर्शन और जीवन
जगत् का स्वरूप
आदर्शवाद का दृष्टिकोण
कुछ मिथ्या धारणाएँ
आदर्शवाद की विभिन्न दृष्टियाँ
यथार्थवाद
यथार्थवादी विचारधाराएँ
जैन दर्शन का यथार्थवाद

दर्शन, जीवन और जगत्

दर्शन मानव-जाति के बौद्धिक क्षेत्र की एक विचित्र उपज है। विचित्र इसलिए कि अन्य ज्ञानधाराओं की अपेक्षा दर्शन का सम्बन्ध हमारे व्यावहारिक जीवन से बहुत कम है। जीवन को सुव्यवस्थित रूप से व्यतीत करने के लिए दर्शनशास्त्र शायद उतना उपयोगी नहीं है जितना कि विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र इत्यादि। दर्शनशास्त्र के अध्ययन के बिना भी यदि हमारा जीवन चल सकता है तो फिर दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति के लिए मानव-मस्तिष्क ने चिन्तन का यह भार क्यों उठाया ? यह ठीक है कि हमारे व्यावहारिक जीवन में दर्शन का अधिक मूल्य नहीं है, किन्तु साथ-ही-साथ यह भी याद रखना चाहिए कि मानव-जीवन व्यवहार के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। मनुष्य के जीवन का एक दूसरा अंग भी है, जो व्यवहार से भिन्न होता हुआ भी मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि व्यावहारिक अंग। इतना ही

नहीं, इस अंश का मूल्य व्यावहारिक अंश से कई गुना अधिक है अथवा यों कहिए कि उसका मूल्यांकन करना सामान्य मानव की शक्ति से बाहर है। काव्य, कला, दर्शन आदि इसी अंश की प्रतिष्ठा व सेवा करते हैं, इसी का परिवर्धन व परिष्कार करते हैं। ये जीवन के व्यावहारिक अंश को भी कभी-कभी मार्गदर्शन करते हैं। इस दूसरे अंश को हम आध्यात्मिक जीवन (Spiritual Life) अथवा आन्तरिक जीवन (Inner Life) कह सकते हैं। दर्शन की उत्पत्ति में यही जीवन प्रधान कारण है, ऐसा कहें तो अनुचित न होगा। सामान्यरूप से इतना समझ लेने पर आगे यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इस जीवन के कौन-कौन से विशिष्ट दृष्टिकोण दर्शन को उत्पन्न करने में सहायक बनते हैं। उन कारणों को समझ लेने पर आध्यात्मिक जीवन का पूरा चित्र सामने आ जाएगा।

दर्शन की उत्पत्ति :

सोचना मानव का स्वभाव है। वह किस रूप में सोचता है, यह एक अलग प्रश्न है, किन्तु वह सोचता अवश्य है। जहाँ सोचना प्रारम्भ होता है वहीं से दर्शन शुरू हो जाता है। इस दृष्टि से दर्शन उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव स्वयं। इस सामान्य कारण के साथ-ही-साथ मानव जीवन के आसपास की परिस्थितियाँ एवं उसके परम्परागत संस्कार भी दर्शन की दिशा का निर्माण करनें में कारण बनते हैं। प्रत्येक दार्शनिक की विचारधारा इसी आधार पर बनती है और इन्हीं कारणों की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुसार आगे बढ़ती है। स्वभाव-वैचित्र्य और परिस्थिति विशेष के कारण ही विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होते हैं। सोचने के लिए जिस ढंग की सामग्री उपलब्ध होती है उसी ढंग से चिन्तन प्रारम्भ होता है। इस सामग्री के विषय में अलग अलग मत हैं। कोई आश्चर्य को चिन्तन का अवलम्बन समझता है, तो कोई संदेह को उसका आधार मानता है। कोई बाह्य जगत् को महत्त्व देता है, तो कोई केवल आत्म-तत्त्व को ही सब कुछ समझता है। इन सब दृष्टिकोणों के निर्माण में मानव का व्यक्तित्व एवं बाह्य परिस्थितियाँ काम करती हैं।

आश्चर्य—कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि मानव के चिन्तन का मुख्य आधार एक प्रकार का आश्चर्य है। मनुष्य जब प्राकृतिक कृतियों एवं शक्तियों को देखता है तब उसके हृदय में एक प्रकार का आश्चर्य उत्पन्न होता है। वह सोचने लगता है कि यह सारी लीला कैसी है? इस लीला के पीछे किसका हाथ है? जब उसे कोई ऐसी शक्ति प्रत्यक्षरूप से दृष्टि-गोचर नहीं होती, जो इस लीला के पीछे कार्य कर रही हो, तब उसका आश्चर्य और भी बढ़ जाता है। इस प्रकार आश्चर्य से उत्पन्न हुई विचारधारा क्रमशः आगे बढ़ती जाती है और मनुष्य नाना प्रकार की युक्तियुक्त कल्पनाओं द्वारा उस विचार-परम्परा को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। यही प्रयत्न आगे जाकर दर्शन में परिवर्तित हो जाता है। प्लेटो तथा अन्य प्रारंभिक ग्रीक दार्शनिकों ने आश्चर्य के आधार पर ही दार्शनिक भित्ति का निर्माण किया था।

सन्देह—कुछ दार्शनिकों का विश्वास है कि दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य से नहीं, अपितु सन्देह से होती है। जिस समय बुद्धिप्रधान मानव बाह्य-जगत् अथवा अपनी सत्ता के किसी भी अंश के विषय में सन्देह करने लगता है, उस समय उसकी विचारशक्ति जिस मार्ग का अवलम्बन लेती है, वही मार्ग दर्शन का रूप धारण करता है। पश्चिम में अर्वाचीन दर्शन का प्रारम्भ सन्देह से ही होता है। वह प्रारम्भ बेकन से समझना चाहिए, जिसने विज्ञान और दर्शन के सुधार के लिए धार्मिक उपदेशों (Teachings of the Church) को सन्देह की दृष्टि से देखना शुरू किया। उसने सुधार का मुख्य आधार सन्देह माना और इसी आधार पर अपनी विचार-धारा चलाई। इसी प्रकार डेकार्ट ने भी सन्देह के आधार पर ही दर्शन की नींव डाली। उसने स्पष्टरूप से कहा कि दर्शन का सर्वप्रथम आधार सन्देह है। सबसे पहले उसने अपने स्वयं के अस्तित्व पर ही सन्देह किया कि मैं हूँ या नहीं? इसी सन्देह के आधार पर उसने यह निर्णय किया कि मैं अवश्य हूँ, क्योंकि यदि मेरा स्वयं का अस्तित्व ही न होता तो सन्देह करता ही कौन? जहाँ सन्देह होता है वहाँ

नहीं, इस अंश का मूल्य व्यावहारिक अंश से कई गुना अधिक है अथवा यों कहिए कि उसका मूल्यांकन करना सामान्य मानव की शक्ति से बाहर है। काव्य, कला, दर्शन आदि इसी अंश की प्रतिष्ठा व सेवा करते हैं, इसी का परिवर्धन व परिष्कार करते हैं। ये जीवन के व्यावहारिक अंश को भी कभी-कभी मार्गदर्शन करते हैं। इस दूसरे अंश को हम आध्यात्मिक जीवन (Spiritual Life) अथवा आन्तरिक जीवन (Inner Life) कह सकते हैं। दर्शन की उत्पत्ति में यही जीवन प्रधान कारण है, ऐसा कहें तो अनुचित न होगा। सामान्यरूप से इतना समझ लेने पर आगे यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इस जीवन के कौन-कौन से विशिष्ट दृष्टिकोण दर्शन को उत्पन्न करने में सहायक बनते हैं। उन कारणों को समझ लेने पर आध्यात्मिक जीवन का पूरा चित्र सामने आ जाएगा।

दर्शन की उत्पत्ति :

सोचना मानव का स्वभाव है। वह किस रूप में सोचता है, यह एक अलग प्रश्न है, किन्तु वह सोचता अवश्य है। जहाँ सोचना प्रारम्भ होता है वहीं से दर्शन शुरू हो जाता है। इस दृष्टि से दर्शन उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव स्वयं। इस सामान्य कारण के साथ-ही-साथ मानव जीवन के आसपास की परिस्थितियाँ एवं उसके परम्परागत संस्कार भी दर्शन की दिशा का निर्माण करनें में कारण बनते हैं। प्रत्येक दार्शनिक की विचारधारा इसी आधार पर बनती है और इन्हीं कारणों की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुसार आगे बढ़ती है। स्वभाव-वैचित्र्य और परिस्थिति विशेष के कारण ही विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होते हैं। सोचने के लिए जिस ढंग की सामग्री उपलब्ध होती है उसी ढंग से चिन्तन प्रारम्भ होता है। इस सामग्री के विषय में अलग अलग मत हैं। कोई आश्चर्य को चिन्तन का अवलम्बन समझता है, तो कोई संदेह को उसका आधार मानता है। कोई बाह्य जगत् को महत्त्व देता है, तो कोई केवल आत्म-तत्त्व को ही सब कुछ समझता है। इन सब दृष्टिकोणों के निर्माण में मानव का व्यक्तित्व एवं बाह्य परिस्थितियाँ काम करती हैं।

आश्चर्य—कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि मानव के चिन्तन का मुख्य आधार एक प्रकार का आश्चर्य है। मनुष्य जब प्राकृतिक कृतियों एवं शक्तियों को देखता है तब उसके हृदय में एक प्रकार का आश्चर्य उत्पन्न होता है। वह सोचने लगता है कि यह सारी लीला कैसी है ? इस लीला के पीछे किसका हाथ है ? जब उसे कोई ऐसी शक्ति प्रत्यक्षरूप से दृष्टि-गोचर नहीं होती, जो इस लीला के पीछे कार्य कर रही हो, तब उसका आश्चर्य और भी बढ़ जाता है। इस प्रकार आश्चर्य से उत्पन्न हुई विचारधारा क्रमशः आगे बढ़ती जाती है और मनुष्य नाना प्रकार की युक्तियुक्त कल्पनाओं द्वारा उस विचार-परम्परा को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। यही प्रयत्न आगे जाकर दर्शन में परिवर्तित हो जाता है। प्लेटो तथा अन्य प्रारंभिक ग्रीक दार्शनिकों ने आश्चर्य के आधार पर ही दार्शनिक भित्ति का निर्माण किया था।

सन्देह—कुछ दार्शनिकों का विश्वास है कि दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य से नहीं, अपितु सन्देह से होती है। जिस समय बुद्धिप्रधान मानव बाह्य-जगत् अथवा अपनी सत्ता के किसी भी अंश के विषय में सन्देह करने लगता है, उस समय उसकी विचारशक्ति जिस मार्ग का आलम्बन लेती है, वही मार्ग दर्शन का रूप धारण करता है। पश्चिम में अर्वाचीन दर्शन का प्रारम्भ सन्देह से ही होता है। यह प्रारम्भ बेकन से समझना चाहिए, जिसने विज्ञान और दर्शन के सुधार के लिए धार्मिक उपदेशों (Teachings of the Church) को सन्देह की दृष्टि से देखना शुरू किया। उसने सुधार का मुख्य आधार सन्देह माना और इसी आधार पर अपनी विचार-धारा फैलाई। इसी प्रकार डेकार्ट ने भी सन्देह के आधार पर ही दर्शन की नींव डाली। उसने स्पष्टरूप से कहा कि दर्शन का सर्वप्रथम आधार सन्देह है। पहले पहल उसने अपने स्वयं के अस्तित्व पर ही सन्देह किया कि मैं हूँ या नहीं ? इसी सन्देह के आधार पर उसने यह निर्णय किया कि मैं अवश्य हूँ, क्योंकि यदि मेरा खुद का अस्तित्व ही न होता तो सन्देह करता ही कौन ?[१] जहाँ सन्देह होता है वहाँ

१. "Cogito ergo sum"—I think therefore I exist.

सन्देह करने वाला भी अवश्य होता है। इसी प्रकार उसने बाह्य जगत् और ईश्वर का अस्तित्व भी सिद्ध किया। डेकार्ट का दार्शनिक विवेचन बेकन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं आगे बढ़ा हुआ था। इसीलिए वह पश्चिम के अर्वाचीन दर्शन का जनक (Father of Modern Philosophy) गिना जाता है।

व्यावहारिकता—आश्चर्य और सन्देह के सिद्धान्त पर विश्वास न करने वाले कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं, जो व्यावहारिकता को ही दर्शन की उत्पत्ति का कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि जीवन के व्यवहार-पक्ष की सिद्धि के लिए ही दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। दर्शन की यह विचारधारा व्यावहारिकतावाद (Pragmatism) के नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में यह विचारधारा दर्शन की अपेक्षा विज्ञान के अधिक समीप है। इसका दृष्टिकोण भौतिकता-प्रधान है। भारतीय परम्परा में चार्वाक दर्शन का आधार व्यावहारिकतावाद ही था।

बुद्धिप्रेम—दर्शन का आधार बुद्धिप्रेम (Love of wisdom) है, ऐसा कई दार्शनिक मानते हैं। उनकी धारणा के अनुसार दर्शन की उत्पत्ति का कोई बाह्य कारण नहीं है, जिसको आधार बनाकर दर्शन का प्रादुर्भाव हो। मानव अपनी बुद्धि से बहुत प्रेम करता है। वह अपनी बुद्धि का प्रत्येक दृष्टि से हित चाहता है। वह कभी यह नहीं चाहता कि उसकी बुद्धि अविकसित दशा में पड़ी रहे। यह दूसरी बात है कि लोगों को अपनी बुद्धि के विकास के लिए उचित वातावरण व साधन नहीं मिलते।। बुद्धिप्रेम की यह अभिव्यक्ति दर्शन के रूप में प्रकट होती है। इस धारणा के अनुसार दर्शन का कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता। बुद्धि को सन्तोष प्राप्त हो, बुद्धि का खूब विकास हो—यही दर्शन का एक मात्र प्रयोजन होता है। दर्शन अपने आप में पूर्ण होता है। उसका साध्य कोई दूसरा नहीं होता। वह स्वयं ही साधन व स्वयं ही साध्य होता है। अँग्रेजी शब्द 'फिलोसोफी' जो कि दर्शन का पर्यायवाची है, ग्रीक भाषा के दो शब्दों से मिल कर बना है। वे शब्द हैं 'फिलोस' और 'सोफिया। फिलोस (Philos) का अर्थ होता है–प्रेम (Love) और सोफिया (Sophia) का अर्थ होता है–बुद्धि (Wisdom)। इन दोनों शब्दों को जोड़ने से 'बुद्धि

का प्रेम' (Love of Wisdom) अर्थ निकलता है। यहाँ पर 'बुद्धि' शब्द से सामान्य विचारशक्ति (Rationality) या प्राकृतिक बुद्धि (Intellect) नहीं समझकर 'विवेकयुक्त बुद्धि' समझना चाहिए।

आध्यात्मिक प्रेरणा—कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं, जो दर्शन को केवल बुद्धि का खेल नहीं समझते। उनकी धारणा के अनुसार दर्शन का प्रादुर्भाव मनुष्य के भीतर रही हुई आध्यात्मिक शक्ति के कारण होता है। अपने आसपास के वातावरण से अथवा जगत् के भीतर रही हुई अन्य भौतिक साधन-सामग्री से जब मनुष्य की आत्मा को पूर्ण संतोष नहीं होता, वह सारी सामग्री में किसी-न-किसी प्रकार की न्यूनता का अनुभव करता है, उसकी आन्तरिक आवाज के अनुसार उसे शाश्वत शांति व संतोष नहीं मिलता, तब वह नई खोज प्रारंभ करता है, आध्यात्मिक पिपासा की शान्ति के लिए नवकूप का निर्माण करना शुरू करता है, आन्तरिक प्रेरणा को सन्तुष्ट करने के लिए नई राह पकड़ता है। मनुष्य के इसी प्रयत्न को दर्शन का नाम दिया गया है। वह एक ऐसी चीज देखना चाहता है जिसे सामान्य चक्षु नहीं देख सकतीं, ऐसी वस्तु का अनुभव करना चाहता है जिसे साधारण इन्द्रियां नहीं पा सकतीं। भारतीय परम्परा के एक बहुत बड़े भाग का दार्शनिक आधार यही है। वर्तमान से असंतोष और भविष्य की उज्ज्वलता का दर्शन, यही आध्यात्मिक प्रेरणा का मुख्य आधार है। जिसे वर्तमान से संतोष होता है वह भविष्य की आशा में वर्तमान को कदापि खतरे में नहीं डाल सकता। इसीलिए आध्यात्मिक प्रेरणा की सबसे पहली शर्त है, वर्तमान से असंतोष। केवल वर्तमानकालिक असंतोष से ही काम नहीं चलता, क्योंकि जब तक भविष्य की उज्ज्वलता का दर्शन नहीं होता तब तक वर्तमान को छोड़ने की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। इसीलिए वर्तमानकालीन असंतोष के साथ-ही-साथ भविष्यत्कालीन उज्ज्वलता का दर्शन भी आवश्यक है। इस प्रकार की प्रेरणा से जिस दर्शन का निर्माण होता है, वह दर्शन बहुत गम्भीर होता है, एवं उसका स्तर बहुत ऊंचा होता है। भौतिक विचारधारा का व्यक्ति उससे बहुत दूर भागने का प्रयत्न करता है। उसे उसी रूप में ग्रहण करना, उसके लिए शक्य नहीं होता।

भारतीय परम्परा का प्रयोजन :

आश्चर्य, जिज्ञासा और संशयादि कारण, जिनसे दर्शन का प्रादुर्भाव होता है, मुख्यरूप से पाश्चात्य परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय परम्परा इस विषय में क्या मानती है ? सामान्य रूप से देखने पर यही प्रतीत होता है कि भारत के प्रायः सभी दर्शनों ने दर्शन की उत्पत्ति में दुःख को कारण माना है। दुःख से मुक्ति पाना, यही भारतीय दर्शनशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है और इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए विविध दार्शनिक विचारधाराओं की उत्पत्ति हुई है। यद्यपि दुःख सब दर्शनों की उत्पत्ति का सामान्य कारण है, किन्तु दुःख क्या है, उसका क्या रूप है, उसके कितने भेद हैं, उससे छुटकारा पाने की क्या विधि है ? इत्यादि प्रश्नों के आधार पर सब दर्शनों ने भिन्न-भिन्न ढंग से अपनी विचारधारा का निर्माण किया। प्रत्येक दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति का रहस्य समझने के लिए इस विचार-धारा का ज्ञान आवश्यक है।

चार्वाक—भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन एकान्त रूप से भौतिक-वादी दर्शन है। इसने अपनी विचारधारा का आधार भौतिक सुख रखा। यद्यपि चार्वाक दर्शन के मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु अन्य दर्शन-ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में इसकी मान्यता का जो उल्लेख मिलता है, उसे देखने से यह मालूम पड़ता है कि इसकी भित्ति शुद्ध भौतिकवाद है। सुख दुःख इसी जन्म तक सीमित हैं, ऐसा उसका पक्का विश्वास है। इसी आधार पर चार्वाक दर्शन यह मानता है कि इसी जन्म में अधिक से अधिक सुख भोगना यही हमारे जीवन का लक्ष्य है। मृत्यु के बाद फिर पैदा होना पड़ता है—ऐसा कहना मिथ्या है, क्योंकि शरीर के राख हो जाने पर कौन सी चीज बचती है जो फिर जन्म लेती है ?[1] आत्मा की धारणा सर्वथा भ्रान्त है, क्योंकि चार भूतों के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र आत्मा नहीं है। जिस समय चारों भूत अमुक मात्रा में अमुक रूप से मिलते हैं उस समय शरीर बन जाता है और उसमें चेतना आ जाती है।

१—भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।

चारों भूतों के वापिस बिखर जाने पर चेतना समाप्त हो जाती है।[1] जो कुछ है वह या तो भूत है या भौतिक है। भूतों का अच्छे-से-अच्छे रूप में उपयोग करना, उनसे खूब सुख प्राप्त करना, जीवन में खूब आनंद लूटना, यही हमारे जीवन का लक्ष्य है। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। दर्शनशास्त्र हमारे लिए ऐसी व्यवस्था करता है जिससे हमें अधिक-से-अधिक सुख मिल सके। इस प्रकार चार्वाक मत के अनुसार ऐहिक सुख की सिद्धि के लिए ही दार्शनिक विचारधारा का प्रादुर्भाव होता है।

जैन—जैन दर्शन का प्रधान प्रयोजन यह है कि जीव सांसारिक दुःखों से मुक्त होकर अनन्त आध्यात्मिक सुख का उपभोग करे। यह दर्शन छः मौलिक तत्त्वों के आधार पर सारे जगत् की व्यवस्था करता है। इन छः तत्त्वों में जीव और पुद्गल ये दो तत्त्व ऐसे हैं, जिनके पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर प्राणियों को नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। जगत् के अन्दर प्राप्त होने वाला तथाकथित सुख भी इन्हीं के सम्बन्ध का परिणाम है। जैन दर्शन की ऐसी मान्यता है कि जब तक ये दोनों तत्त्व एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हो जाते, अनन्त आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति असम्भव है। अनादिकाल से परस्पर सम्बद्ध ये दोनों तत्त्व किस प्रकार अलग हो जाएं—इसका दिग्दर्शन करना, यही दर्शन का मुख्य प्रयोजन है। जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिल कर उस मार्ग का निर्माण करते हैं,[2] जिस पर चलने से जीवन और पुद्गल अन्ततोगत्वा अलग-अलग हो जाते हैं। पुद्गल से सर्वथा मुक्त जीव ही शुद्ध आत्मा है, सिद्ध है, परमात्मा है। इस प्रकार की आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से युक्त होती है। वह फिर कभी भी पुद्गल से सम्बद्ध नहीं होती। हमेशा स्वतन्त्र रहती है। इस प्रकार जैन दर्शन का उद्देश्य भी यही है कि प्राणी दुःख से छुटकारा पाकर सुख का उपभोग करे।

१—अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥३॥
—सर्वदर्शनसंग्रहः चार्वाकदर्शन

२—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थ सूत्र, १/१/

बौद्ध—बुद्ध की शिक्षाओं का ध्येय भी यही है कि प्राणी संसारी दुःख से मुक्त हो। दुःख प्रथम आर्यसत्य है। संसारावस्था के पाँच स्कन्धों को छोड़ कर दुःख और कुछ नहीं है। ये पाँच स्कन्ध हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप।[१] जिस समय ये पाँचों स्कन्ध समाप्त हो जाते हैं, दुःख स्वतः समाप्त हो जाता है। ये स्कन्ध कैसे समाप्त हो सकते हैं? इनकी परम्परा किन कारणों से बराबर चलती रहती है? परम्परा समाप्त होने के बाद क्या अवस्था होती है? इत्यादि प्रश्नों के फलस्वरूप तीन अन्य आर्य सत्य प्रादुर्भूत होते हैं। इन चारों आर्य सत्यों के आधार पर सम्पूर्ण बौद्धदर्शन विकसित होता है। आर्यसत्यों के नाम ये हैं—दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध। दुःख का स्वरूप पाँच स्कन्धों के रूप में बता दिया गया है। समुदय उसे कहते हैं जिसके कारण रागादि भावनाएं उत्पन्न होती हैं। यह मेरी आत्मा है, ये मेरे पदार्थ हैं—इत्यादि रूप ममत्व ही समुदय है।[२] मार्ग का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि 'सारे संस्कार क्षणिक हैं—कुछ भी नित्य नहीं है' इस प्रकार की वासना ही मार्ग है। सब प्रकार के दुःखों से मुक्ति मिलने का नाम ही निरोध है।[३] निरोधावस्था में आत्मा का एकान्त अभाव हो जाता है। कुछ आधुनिक विचारक इस एकान्त अभाव की परम्परा को चुनौती देते हैं। उनका कथन है कि बौद्धदर्शन प्रतिपादित मोक्षावस्था भावात्मक है। उनकी विचारधारा के अनुसार माध्यमिक का शून्यवाद (Nihilism) अर्थ ठीक नहीं। जो कुछ भी हो। यहाँ पर हम इस समस्या को अधिक महत्व न देते हुए इतना ही कहना चाहते हैं कि बौद्धदर्शन का मूल

१—दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पंच प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा, संस्कारो रूपमेव च॥

—षड्दर्शनसमुच्चय : बौद्धदर्शन

२—समुदेति यतो लोके, रागादीनां गणोऽखिलः।
आत्माऽऽत्मीयभावाख्यः, समुदयः स उदाहृतः॥ —वही

३—क्षणिकाः सर्वे संस्कारा, इत्येवं वासना यका।
स मार्ग इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते॥ —वही

आधार भी दुःखमुक्ति ही है। संसार में रहने वाले प्राणी को स्कन्धरूप दुःख से मुक्त करना—यही बौद्ध-विचारधारा का उद्देश्य है।

सांख्य—सांख्य दर्शन का प्रयोजन भी दुःखनिवृत्ति है। कपिल ने स्वरचित 'सांख्यसूत्र' में सबसे पहिले लिखा है कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ तीन प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है।[1] ईश्वरकृष्ण-रचित 'सांख्यकारिका' का प्रथम श्लोक भी इसी बात का समर्थन करता है।[2] संसार में अनेक प्रकार के दुःख होते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार उनकी तीन राशियाँ होती हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधि-भौतिक। आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के होते हैं—शारीरिक एवं मान-सिक। पाँच प्रकार के वात, पाँच प्रकार के पित्त, पाँच प्रकार के श्लेष्मा—इनके वैषम्य से जो रोग पैदा होते हैं, वह शारीरिक दुःख है। काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर आदि से जो क्लेश उत्पन्न होता है; वह मानसिक दुःख है। यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह आदि के आवेश से जो दुःख होते हैं वे आधिदैविक दुःख हैं और अन्य जंगम प्राणियों से तथा प्राकृतिक स्थावर पदार्थों से जो दुःख मिलता है, वह आधिभौतिक दुःख है। अध्यात्म, अधिदेव और अधिभूत सदा अभेद्य रूप से परस्पर बद्ध हैं। कभी किसी की प्रधानता होती है, तो कभी किसी की। जिस समय जिसकी प्रधानता होती है उस समय उसी का नाम लिया जाता है इन तीनों प्रकार के दुःखों का ऐकान्तिक-आत्यन्तिक नाश दृष्ट उपायों से नहीं हो सकता। इसीलिए ऐसे उपाय की जिज्ञासा होती है जिससे इनका समूल सार्वदिक विनाश हो जाय—ये हमेशा के लिए जड़ से खत्म हो जाएं। यह कैसे हो सकता है ? सांख्य दर्शन अपनी मान्यता के अनुसार इसका उत्तर देता है कि यह कार्य सच्चे ज्ञान से ही हो सकता है।[3] यह ज्ञान क्या है ? उसकी प्राप्ति के क्या उपाय हैं ? आदि प्रश्नों के समाधान के रूप में पुरुष और प्रकृति के आधार पर सांख्य-विचारधारा आगे बढ़ती है। यही सांख्यदर्शन की उत्पत्ति और गति का आधार है।

१—अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः अत्यन्तपुरुषार्थः।
२—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
३—ज्ञानेन चापवर्गो············

योग—सांख्य और योग में ईश्वर-विषयक एकाध विषयों को छोड़कर विशेष अन्तर नहीं है। सांख्य ज्ञान-प्रधान है जबकि योग क्रिया की प्रधानता स्वीकार करता है। ऐसी स्थिति में पतंजलि के योगसूत्रों में सांख्य से मिलती-जुलती बातें हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है कि संसार आदि से अंत तक दुःखमय ही है। जिसे हम लोग सुख समझते हैं वह वास्तव में सुख नहीं है अपितु दुःख ही है। इस बात को साधारण लोग नहीं समझ सकते। विवेकी यह अच्छी तरह से जानता है कि सांसारिक सुख परिणाम में दुःख ही देता है। यह जीवन नाना प्रकार की वृत्तियों एवं वासनाओं से परिपूर्ण है। विविध प्रकार की वृत्तियां एवं वासनाएं चित्त के भीतर परस्पर कलह किया करती हैं। एक वृत्ति की पूर्ति से चित्त में सुख होता है तो दूसरी के भंग से चित्त खिन्न हो जाता है। इन सब दुःखों का मूलकारण द्रष्टा और दृश्य, पुरुष और प्रकृति का संयोग है। उस संयोग का मुख्य हेतु अविद्या है—मिथ्याज्ञान है। उसको दूर करने का एक मात्र उपाय है विवेक ख्याति—तत्व ज्ञान—सच्चा ज्ञान। इस विवेक-ख्याति से ही सब कर्म और क्लेशों की निवृत्ति होती है।[1] इस प्रकार सांख्य और योग का उद्देश्य प्रायः एक है। योग ने सांख्यदर्शन के मूल सिद्धान्तों को ज्यों-का-त्यों लेकर क्रियापक्ष पर जोर दिया। विवेकख्याति के लिए क्रियापक्ष को आवश्यक माना। क्रिया के आधाररूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकृत की। योग का यह ईश्वर न्यायवैशेषिक के ईश्वर के समान जगत्-कर्ता न होकर प्रेरणा-प्राप्ति का साधनमात्र है।

न्याय—गौतम ने अपने न्यायसूत्र में भी यही लिखा है कि दर्शन का प्रयोजन अपवर्गप्राप्ति है। उसने प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा- हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थान- इस प्रकार से सोलह पदार्थों की सत्ता मानी और कहा कि इन सोलह

१—परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। दृष्टदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। तस्य हेतुरविद्या। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

—योगसूत्र—अ० २, सू० १५, १७, २४, २६।

पदार्थों का सच्चा ज्ञान होने से दुःख और उसके कारणों की परम्परा का क्रमशः क्षय होता है। इस क्षय के अनन्तर अपवर्ग-मोक्ष-निःश्रेयस मिलता है।[1] मोक्षावस्था में आत्मा को न दुःख होता है, न सुख। दुःख-सुखादि, जो कि संसारावस्था में आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, अपवर्ग में उससे अत्यन्त विच्छिन्न हो जाते हैं। आत्मा के बुद्धि-आदि गुणों का अत्यन्त उच्छेद ही मोक्ष है। इस अवस्था में रहने वाली आत्मा अपने असली स्वरूप में होती है, जहाँ उसके साथ बुद्धि-आदि गुण नहीं रहते।

वैशेषिक—'वैशेषिक-सूत्र' के रचयिता कणाद के शब्दों में भी यही झलक है कि निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए ही धर्म का प्रादुर्भाव होता है। भारतीय परम्परा में धर्म और दर्शन में उतना भेद नहीं है जितना कि पाश्चात्य परम्परा में। धर्म शब्द में दर्शन का समावेश व दर्शन शब्द में धर्म का समावेश हमारी परम्परा में बहुत साधारण बात है। कणाद ने अपने सूत्रों में जगह-जगह धर्म शब्द का प्रयोग किया है। ऐसा होते हुए भी उसका सम्प्रदाय वैशेषिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है, न कि वैशेषिक धर्म के रूप में। धार्मिक मान्यताओं की तर्कयुक्त सिद्धि ही हमारे यहां दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। कणाद ने लिखा है—धर्म वह पदार्थ है जिससे सांसारिक अभ्युदय और पारमार्थिक निःश्रेयस दोनों मिलते हैं।[2] वैशेषिक दर्शन का यही प्रयोजन है।

पूर्व मीमांसा—'मीमांसासूत्र' का सर्व प्रथम सूत्र है—'अथातो धर्म-जिज्ञासा'। इसके भाष्य के रूप में शबर ने कहा है—'तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्यः। स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे।' धर्म पुरुष को निःश्रेयस की प्राप्ति कराता है—कल्याण से जोड़ता है अतः धर्म अवश्य जानना चाहिए, यही भाष्यकार का अभिप्राय है। मनुष्य धर्म द्वारा ही कल्याण-मार्ग की आराधना कर सकता है, अतः उसे धर्म का ज्ञान होना आवश्यक है। धर्म के स्वरूप को ठीक तरह से

१—न्यायसूत्र, १/२।

२—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

—वैशेषिकसूत्र, १/२

समझने के लिए, यह जानना जरूरी है कि धर्म क्या है, उसके साधन क्या हैं, धर्माभास और साधनाभास क्या हैं, धर्म का अन्तिम प्रयोजन कैसे पूर्ण किया जा सकता है, मतभेद और विवाद में पड़े हुए धर्म का उद्धार कैसे किया जा सकता है ? आदि । इन प्रश्नों की मीमांसा-युक्ति-युक्त परीक्षा का नाम ही दर्शन है । यद्यपि मीमांसाशास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है, इतना होते हुए भी उसका अन्तिम लक्ष्य वही है जो अन्य भारतीय दर्शनों का है ।

वेदान्त—'मीमांसासूत्र' में जो पहला सूत्र है, ठीक वही सूत्र 'ब्रह्मसूत्र' में भी है, अन्तर केवल इतना ही है कि पहले में धर्म शब्द है और दूसरे में ब्रह्म शब्द । वेदान्त का प्रयोजन है ब्रह्मज्ञान । वह ब्रह्म कैसा है ? कोई भी वस्तु जिसके अधिकार के बाहर नहीं है, जो सब कुछ है, सब कुछ जिसमें है । जिसका स्वरूप चेतना है, जो चित्शक्ति रूप है, जो आत्मा ही है । ब्रह्म को जानने का अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म एक अलग पदार्थ है, और जानने वाला एक अलग तत्त्व है । ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है । वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का कोई भेद नहीं रहता । शांकर वेदान्त का कथन है कि भेद ही सब दुःखों का मूल है । जहाँ द्वैत रहता है वहीं दुःख रहता है । अद्वैत ही सच्चा सुख है ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा की साधना का मुख्य प्रयोजन दुःखमुक्ति है । चार्वाक की दृष्टि भौतिकवादी है । उसका मुख्य लक्ष्य भौतिक सुख की वृद्धि करना है । इसी जन्म में अधिक-से-अधिक सुख का भोग करना उसे इष्ट है । वह इसी सुख को जीवन-लक्ष्य समझता है । दर्शनशास्त्र का जन्म इसीलिए होता है कि वह हमारे इस ध्येय को गति प्रदान करता है । दर्शन शास्त्र हमारे लिए ऐसी व्यवस्था करता है जिसके आधार पर हमें अधिक-से-अधिक सुख मिलता है । जैन दर्शन की धारणा अनन्त सुख की प्राप्ति की है ही । पुद्गल-तत्त्व को आत्म-तत्त्व से सर्वथा विच्छिन्न कर देना, यही सबसे बड़ा सुख है । जब तक ये दोनों तत्त्व एक दूसरे से सर्वथा अलग नहीं हो जाते, अनन्त सुख की प्राप्ति या प्रादुर्भाव असम्भव है । अनादि काल से एक दूसरे से मिले हुए ये दोनों तत्त्व किस

प्रकार अलग-अलग हो सकते हैं, यह दिखाना दर्शन का मुख्य प्रयोजन है। दूसरे शब्दों में आत्मा अपने असली रूप में किस प्रकार आ सकती है, इसका दिग्दर्शन कराना दर्शन का ध्येय है। बुद्ध की शिक्षाओं का सार भी यही है कि दुःख से कैसे मुक्ति मिले। पाँच स्कन्धों की परिसमाप्ति ही दुःखमुक्ति है। इस परिसमाप्ति का मार्ग बताना दर्शनशास्त्र का ध्येय है। सांख्य की मान्यता के अनुसार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति कैसे संभव है? इस बात की खोज करने के लिए दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। योगदर्शन भी इसी बात का समर्थन करता है। वह क्रिया-पक्ष पर विशेष भार देता है। न्याय-दर्शन का प्रयोजन अपवर्ग—प्राप्ति है। दुःख और उसके कारणों की परम्परा का क्षय करना उसका ध्येय है। दुःख के कारणों की परम्परा का क्षय होने पर अपवर्ग अर्थात् निःश्रेयस मिलता है। वैशेषिक लोग भी निःश्रेयस की प्राप्ति को जीवन-लक्ष्य मानते हैं। सांसारिक अभ्युदय और पारमार्थिक निःश्रेयस—इन दोनों की प्राप्ति ही दर्शन का प्रयोजन है। मीमांसक भी निःश्रेयस की प्राप्ति को महत्त्व देते हैं। वे कहते हैं कि धर्म से पुरुष को निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, अतः धर्म अवश्य जानना चाहिए। धर्म के स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान करना—इसी का नाम दर्शन है। वेदान्त का प्रयोजन ब्रह्मज्ञान है। यही सबसे बड़ा सुख है, यही सबसे बड़ा तत्त्व है। इस तत्त्व का साक्षात्कार करना—ब्रह्ममय हो जाना, यही वेदान्त को इष्ट है।

दर्शन और जीवन :

जीवन के साथ दर्शन का क्या सम्बन्ध है, इसका ठीक-ठीक उत्तर प्राप्त हो जाने पर हम यह सहज ही में समझ सकते हैं कि जीवन में दर्शन का क्या महत्त्व है। जब हम यह मानते हैं कि मनुष्य का स्वभाव सोचना या चिंतन है अथवा यों कहिए कि चिन्तन से ही मनुष्य सचमुच मनुष्य बनता है, चिन्तन ही एक ऐसा विशेष गुण है, जो मनुष्य को वास्तविक रूप में मनुष्य बनाता है तो यह समझना कठिन नहीं है कि जीवन और दर्शन कितने समीप हैं। जबतक चिन्तन या

सोचना मानव का आवश्यक स्वभाव बना रहेगा तबतक मानव-जीवन में हमेशा दर्शन रहेगा। चिन्तन मानव के जीवन से दूर हो जाय, यह अभी तक तो संभव प्रतीत नहीं होता। ऐसी दशा में हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि जहाँ-जहाँ मानव रहेगा, दर्शन अवश्य रहेगा। दर्शन के अभाव में मानव का अस्तित्व ही असंभव है। यह एक दूसरा प्रश्न है कि दर्शन का स्तर क्या है? किसी समाज की विचारधारा अधिक विकसित हो जाती है, तो किसी की प्रारम्भिक अवस्था में ही रहती है। इन्हीं अवस्थाओं के आधार पर हम दर्शन के स्तर का भी निश्चय करते हैं। जीवन में दर्शन रहेगा अवश्य, चाहे वह किसी भी स्तर पर रहे।

दार्शनिक इतिहास को देखने से पता चलता है कि मनुष्य की विचारधारा या चिन्तन-शक्ति का प्रमुख केन्द्र उसका जीवन ही रहा है। उसने सोचना प्रारम्भ तो किया अपने जीवन पर, किन्तु जीवन के साथ-साथ रहने वाली या तत्सम्बद्ध अनेक समस्याओं पर भी उसे सोचना पड़ा, क्योंकि उन समस्याओं का समाधान किए बिना जीवन का पूरा चिन्तन संभव न था। जीवन के सर्वाङ्गीण चिन्तन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था कि जीव से सम्बन्धित जगत् के अन्य तत्त्वों का भी अध्ययन किया जाता और हुआ भी ऐसा ही। ऐसा होते हुए भी मनुष्य ने दूसरी समस्याओं को इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया कि जीवन का मूल प्रश्न गौण हो जाता। कहीं-कहीं पर उससे यह त्रुटि अवश्य हुई, किन्तु वह शीघ्र ही संभलता गया और अपने क्षेत्र को बराबर संभालता रहा। दर्शन का मुख्य प्रयोजन, जीवन का चिन्तन या मनन है, ऐसा कहने का अर्थ इतना ही है कि उस चिन्तन या मनन का केन्द्र जीवन है। जीवन के साथ-साथ अन्य चीजों को भी लिया जाता है, किन्तु गौण रूप से, अर्थात् उसी सीमा तक जहाँ तक कि जीवन के चिन्तन में वे चीजें सहायक बनें। बाधक बनने की हालत में उन्हें छोड़ दिया जाता है। जीवन के मूल तत्त्वों का अध्ययन करना और उन्हें समझने का प्रयत्न करना और विवेक की कसौटी पर कसे हुए तत्त्वों के अनुसार आचरण करना—यही दर्शन का जीवन के साथ वास्तविक सम्बन्ध है।

दार्शनिक होने का अर्थ विचारक होना तो है ही, साथ-साथ ही यह समझना भी है कि जीवन का उन विचारों के साथ कितना सामंजस्य है ? जीवन के मूल तत्त्वों पर उनका क्या प्रभाव है ? जीवन की मौलिकता से वे कितने मिले हुए हैं ? उनकी शैली जीवन को कितनी गति प्रदान करती है ? वृत्तियों के नियन्त्रण में उनका कितना हाथ रहता है ? इन सारे प्रश्नों का चिन्तन ही सच्चे विचारक की कसौटी है। सच्चा दार्शनिक जीवन के इन मौलिक तत्त्वों व प्रश्नों को आधार बना कर ही अपने चिन्तन क्षेत्र में आगे बढ़ता है और बढ़ता-बढ़ता यहाँ तक बढ़ जाता है कि चिन्तन की सीमा को साहस के साथ पार करता हुआ बहुत दूर निकल जाता है, जहाँ से वापिस लौटना संभव नहीं। चिन्तन व मनन के नियन्त्रित क्षेत्र को पार कर जीवन का साक्षात्कार करता हुआ न जाने कहाँ चला जाता है ? जाता हुआ दिखाई देता है, किन्तु कहाँ जाता है, इसका पता नहीं लगता।

जगत् का स्वरूप :

दर्शन और जीवन का सम्बन्ध समझ लेने के पश्चात् हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि जिस जगत् में हमारा जीवन व दर्शन फलता-फूलता है, उस जगत् का स्वरूप भी समझें। जगत् का स्वरूप समझते समय हमें यह भी मालूम हो जायगा कि व्यक्ति के जीवन का जगत् के साथ क्या सम्बन्ध है। जीवन और जगत् का सम्बन्ध ज्ञात हो जाने पर दर्शन का जगत् के मूल्यांकन में कितना हाथ है, यह भी समझ में आ जायगा। दर्शन के क्षेत्र में जगत् का विश्लेषण करने वाली दो मुख्य विचारधाराएँ हैं। एक विचारधारा यथार्थवाद के नामसे प्रसिद्ध है और दूसरी विचारधारा आदर्शवाद के रूप में जानी जाती है। यथार्थवाद और आदर्शवाद का झगड़ा कोई नया नहीं है। यह झगड़ा बहुत लम्बे काल से चला आरहा है। इस झगड़े का मुख्य आधार भौतिक सत्ता (Material Existence) है। हाल ही की वैज्ञानिक शोधों ने इस झगड़े को और प्रोत्साहन प्रदान किया है। जड या भूत के स्वरूप और जगत् की रचना के

प्रश्नों को लेकर आधुनिक वैज्ञानिकों ने जो नई-नई खोजें की हैं उन्हें लेकर दार्शनिक क्षेत्र में एक नई हलचल मच गई है। कुछ भी हो, आज भी दर्शन की दोनों विचारधाराएँ समान बल से अपने-अपने पक्ष को लेकर आगे बढ़ रही हैं और अपनी-अपनी धारणा एवं तर्क-शक्ति के बल पर जगत् के स्वरूप को समझने का प्रयत्न कर रही हैं। साधारण व्यक्ति भौतिक या जड़ जगत् की सत्ता में कभी संदेह नहीं करता। वह कदापि यह नहीं सोचता कि जिस भौतिक जगत् का मैं अपनी इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर रहा हूँ वह जगत् उस रूप में झूठा या प्रतीतिमात्र है। उसका वास्तविक आधार चेतना या चैतन्य है। बर्गसां ने तो यहाँ तक कह दिया कि हमारी भाषा ठोस पदार्थों की भाषा है।[1] हम अपनी भाषा द्वारा ठोस पदार्थों का ही ठीक-ठीक वर्णन कर सकते हैं। हम कई बार मानसिक प्रवृत्तियों (Mental process) का वर्णन कर सकते हैं और उन प्रवृत्तियों के लिए भावना, प्रेरणा, भावुकता आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं किन्तु वास्तव में इन सारी प्रवृत्तियों का मौलिक आधार व महत्त्व भौतिक ही होता है। इन प्रवृत्तियों के मूल में भौतिक प्रेरणा ही कार्य करती है, अथवा यों कहिए कि इन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव भौतिक प्रेरणा को आलम्बन बनाकर ही होता है। भौतिक आधार के अभाव में ये प्रवृत्तियाँ साधारण व्यक्ति की समझ में आ ही नहीं सकतीं। इतना ही नहीं, इनका कथन भी भौतिक आधारशिला पर ही टिक सकता है। आदर्शवाद और यथार्थवाद में मौलिक भेद इसी भौतिक तत्त्व का है। आदर्शवाद भौतिक तत्त्व की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। यथार्थवाद इस धारणा को खुली चुनौती देता है। उसकी दृष्टि में भौतिक तत्त्व उसी रूप में स्वतन्त्र एवं सत्य है, जिस रूप में आध्यात्मिक तत्त्व स्वतंत्र एवं सत्य है। पाश्चात्य परम्परा का दार्शनिक इतिहास देखने से पता लगता है कि सबसे पहले ग्रीक दार्शनिक पारमेनाइड्स ने ईसा से ५०० वर्ष पूर्व इस बात की घोषणा की थी कि ज्ञान और ज्ञेय (Thought and the

---

१. Our Language is a Language of solids.

Object of Thought) में कोई भेद नहीं है। ज्ञान को छोड़कर ज्ञेय कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय वास्तव में एक ही हैं। प्लेटो ने आध्यात्मिक तत्त्व की सत्ता पर जोर दिया, किन्तु पूर्ण रूप से आदर्शवादी न बन सका। एरिस्टोटल तो यथार्थवादी था ही। चौदहवीं शताब्दी में निकोलस को आदर्शवाद की थोड़ी-सी झलक मिली, किन्तु वह वहीं शान्त हो गई। आदर्शवाद और यथार्थवाद का जो रूप आज हमारे सामने है उसका बीज डेकार्ट की विचार-धारा में मिलता है। डेकार्ट ने विस्तार (Extension) और विचार (Thought)-के भेद से भौतिक तत्त्व और आध्यात्मिक तत्त्व में भेद डाला। वह यथार्थवादी था किन्तु उसके बाद धीरे-धीरे आदर्श-वाद का जोर बढ़ता गया।

आदर्शवाद का दृष्टिकोण :

कुछ लोग यह समझते हैं कि आदर्शवाद वह सिद्धान्त है, जो स्पष्ट रूप से दिखाई देने वाले जगत् को यथार्थ न समझ कर उसके मूल्यांकन या स्वरूप-निर्णय में कुछ कमी कर देता है। जगत् का स्वरूप जैसा दिखाई देता है, वैसा नहीं है, किन्तु अलग ही प्रकार का है, जो दृश्यमान जगत् से थोड़ी कमी लिए हुए है—अर्थात् बहुत सी ऐसी बातें हमें इस जगत् में दिखाई देती हैं, जो वस्तुतः जगत् में नहीं हैं। कुछ दार्शनिकों का यह मत है कि 'आदर्शवाद' पद का प्रयोग, उन सब दर्शनशास्त्रों के लिए किया गया है, जो यह मानते हैं कि विश्व की व्यवस्था के निर्माण में आध्यात्मिक तत्त्व का प्रमुख हाथ है। उनकी धारणा के अनुसार प्रकृति का अवलम्बन या आधार आत्म-तत्त्व है।[१] ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आदर्शवाद का वास्तविक स्वरूप क्या है ? 'आदर्शवाद' पद से हमें क्या बोध होना चाहिए ? आदर्शवाद वह सिद्धान्त या विश्वास है जिसके अनुसार विचार-शक्ति (Thought) या तर्क (Reason) तत्त्व की अभिव्यक्ति का माध्यम है अर्थात् तत्त्व का यही स्वभाव है कि

---

१. Prolegomena to an Idealistic Theory of Knowledge, पृ० १.

वह विचार या तर्क के माध्यम द्वारा अपने आपको प्रकट करता है। दूसरे शब्दों में विचार या तर्क से असम्बद्ध या स्वतन्त्र तत्त्व की प्रतीति हमारे लिए सर्वथा असम्भव है। हमें जो कुछ प्रतीत होता है, अपनी विचारशक्ति या तर्कबल के आधार पर ही। प्रतीति के इस माध्यम को छोड़कर हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जो तत्त्वज्ञान में सहायक सिद्ध हो सके। हमारा विचार या हमारा युक्ति-बल जिस प्रकार का तत्त्वज्ञान कराता है, हमें उसी प्रकार का तत्त्व-ज्ञान होता है। आदर्शवाद की इस व्याख्या के अनुसार मानव-बुद्धि (Human mind) ही एक ऐसा साधन है, जिसे आधार बना कर तत्त्व अपने को अभिव्यक्त करता है।

कुछ मिथ्या धारणाएँ :

कई लोगों का यह विश्वास है कि आदर्शवाद एक ऐसा सिद्धान्त है, जो छिपे या खुले तौर से यह सिद्ध करना चाहता है कि विश्व की यह सम्पूर्ण रचना झूठी है—पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग का यह पूरा प्रदेश मिथ्या है। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। यह ठीक है कि विश्व अपने वास्तविक रूप में वैसा नहीं है जैसा कि दिखाई देता है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वह बिलकुल झूठा है—सर्वथा मिथ्या है। आदर्शवाद की दृष्टि में उसका वास्तविक रूप कुछ और ही है। वह विश्व को विज्ञान या साधारण बुद्धि की धारणा तक ही सीमित नहीं करता, अपितु उसे इन सीमाओं से थोड़ा आगे ले जाता है।

कुछ लोग बर्कले जैसे अधूरे आदर्शवादियों को आदर्शवाद का आदर्श समझकर आदर्शवाद पर यह आरोप लगाने के लिए उतारू हो जाते हैं कि आदर्शवाद यह मानता है कि हमारा दर्शन (Perception) ही बाह्य पदार्थों की उत्पत्ति का कारण है। बर्कले की यह धारणा कि दर्शन ही सत् है अथवा सत्ता का अर्थ दर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है,[1] ठीक नहीं है। वह तत्त्व या सत्ता को

१. Esse est percipi.

व्यक्तिगत दर्शन (Individual perception) तक ही सीमित कर देता है। आगे जाकर वह दर्शन के स्थान पर धारणा (Conception) शब्द को अपना लेता है और कहता है कि धारणा ही सत् है,[1] किन्तु फिर भी वह आदर्शवादी नहीं कहा जा सकता। सच्चा आदर्शवाद यह कभी नहीं मानता कि दर्शन, धारणा, विचारशक्ति, तर्क, युक्ति या बुद्धि तत्त्व अथवा सत्ता का निर्माण करते हैं। वह तो कहता है कि विचार या बुद्धि का कार्य निश्चय या निर्णय करना है। निर्माण और निर्णय भिन्न-भिन्न चीजें हैं। विचार का कार्यक्षेत्र तत्त्व को समझना अर्थात् अपने माध्यम द्वारा तत्त्व का निर्णय करना है। तत्त्व एक ऐसी सत्ता है जो उससे भी बड़ी है, जो उसके निर्णय का विषय बनती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सत्य या सत्ता विचार का कार्य नहीं, अपितु विषय है। विषय के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह कार्य भी हो। तत्त्व और विचार में विषयविषयिभाव सम्बन्ध है, न कि कार्यकारणभाव सम्बन्ध। कहने का तात्पर्य यही है कि आदर्शवाद जगत् की वास्तविक बाह्य सत्ता में कदापि अविश्वास नहीं करता। हां, इतना अवश्य है कि उसकी अन्तिम सत्ता उसी रूप में नहीं मानता, जिस रूप में कि वह साधारण प्रतीति का विषय बनती है। यद्यपि वे पदार्थ जिन्हें हम जानते हैं, अपनी सत्ता के लिए हम पर निर्भर नहीं रहते हैं। हम उन्हें जानें या न जानें, वे जगत् में रहते ही हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे ज्ञाता से स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। इतना होते हुए भी पदार्थ-विषयक सम्पूर्ण निर्णय ज्ञान से पूर्ण सम्बद्ध होता है। ज्ञान से असम्बद्ध पदार्थ-निर्णय कदापि संभव नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि जिस ढंग से हमें पदार्थ-ज्ञान होता है, उसकी एक निश्चित विधि एवं मार्ग है और उस विधि की सीमा के अन्दर रह कर ही हम वस्तुओं का ज्ञान कर सकते हैं। ऐसी दशा में यदि यह कहा जाय कि हम वास्तविक जगत् या अदृश्यजगत् (Noumenon) को नहीं जान सकते, किन्तु हमारा ज्ञान दृश्यजगत् (Phenomenon) तक ही सीमित रहता है तो कोई बुरा नहीं। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि पदार्थ हमारी दृष्टि

१. Esse est concipi.

में वैसा ही प्रतिभासित होता है जैसा कि हम उसे जानते हैं। हमारा ज्ञान पदार्थ और विचार के पारस्परिक सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, ऐसी हालत में वस्तुतः में पदार्थ क्या है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह हम अपने साधारण ज्ञान से कैसे जान सकते हैं। इससे यह फलित होता है कि पदार्थ अपने आप में (Thing-in-itself-Ding an sich) क्या है, यह जानना हमारे लिए असम्भव है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम सत्य का स्पष्टीकरण करने में सफल नहीं हो सकते। वास्तव में सत्य क्या है, इसका अन्तिम निर्णय करना हमारे अधिकार से बाहर है। हम जगत् को जिस रूप में देखते हैं वह रूप केवल चैतन्य के माध्यम द्वारा हमारे सामने आता है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जगत् का अन्तिम रूप आध्यात्मिक होना चाहिए, क्योंकि आध्यात्मिकता के अभाव में ज्ञान की संभावना ही नहीं रहती। आध्यात्मिक (चैतन्य) और जड़ दो प्रकार की स्वतन्त्र सत्ता मानने पर उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता! दो परस्पर विरोधी सत्ताएं आपस में ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकतीं। इसके अतिरिक्त सम्बन्ध का क्या स्वरूप है और वह दोनों सत्ताओं को कैसे जोड़ता है, इसके लिए किसी अन्य सम्बन्ध की आवश्यकता रहती है अथवा नहीं, इत्यादि प्रश्नों को हल करना बहुत कठिन है। तात्पर्य यही है कि आदर्शवाद अनुमान द्वारा इस निर्णय पर पहुँचता है कि जगत् का अन्तिम और वास्तविक स्वरूप आध्यात्मिक है। वह आध्यात्मिक सत्ता से स्वतन्त्र जड़ तत्त्व की सत्ता स्वीकार नहीं करता। यह आध्यात्मिक तत्त्व क्या है, व्यक्ति और जगत् की अभिव्यक्ति का आधार क्या है, ज्ञान, विचार, अनुभव, बुद्धि आदि का आध्यात्मिक सत्ता में कैसे अन्तर्भाव होता है—इत्यादि प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न आदर्शवादियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। हम उन्हें समझने का प्रयत्न करेंगे।

आदर्शवाद की विभिन्न दृष्टियां :

आदर्शवाद के अनेक दृष्टिकोणों में एक दृष्टिकोण प्लेटो का भी है। प्लेटो ग्रीक दार्शनिक है। उसकी यह धारणा थी कि तत्त्व विचारों का एक

सुसंगठित राज्य है। प्रत्येक विचार (Idea) अनादि-अनंत एवं अपरिवर्तनशील है।[1] जब हम यह कहते हैं कि विचार ही तत्त्व है तो इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वे वैयक्तिक मस्तिष्क के आश्रित एवं परतंत्र हैं। विचार अपने आपमें स्वतंत्र, अनादि, अनंत एवं अपरिवर्तनशील हैं; ऐसा समझकर ही हमें प्लेटो की दार्शनिक विचार-धारा का अध्ययन करना चाहिए। ये विचार ही हमारे इस दृश्य जगत् का निर्माण करते हैं। यह निर्माण क्यों व कैसे होता है? इसका उत्तर देते हुए प्लेटो कहता है कि इस प्रश्न का इसके अतिरिक्त कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है कि किसी-न-किसी प्रकार ऐसा हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम जिस जगत् का अनुभव करते हैं, वह जगत् वास्तव में अन्तिम सत्य नहीं है। अन्तिम सत्य तो विचारों का एक संगठित समाज है जो नित्य एवं अनादि-अनंत है।

बर्कले का नाम भी आदर्शवादी दार्शनिक के रूप में लिया जा सकता है; यद्यपि वह पूर्ण आदर्शवादी नहीं है। ऐसा होते हुए भी वह आधुनिक युग के आदर्शवाद का निर्माता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। बर्कले ने अपने पूर्वज लॉक के इस मत का खण्डन किया कि वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते हैं—आत्मगत एवं वस्तुगत। आत्मगत धर्म का अर्थ होता है—ऐसे गुण, जो वास्तव में पदार्थ में तो नहीं होते किन्तु ज्ञाता के ज्ञान का ऐसा स्वभाव होता है कि वह उन गुणों का वस्तु में आरोप कर देता है। उदाहरण के रूप में वर्ण को लीजिए। वास्तव में पदार्थ में वर्ण नहीं होता किन्तु ज्ञाता के नेत्र, मस्तिष्क व दर्शन का ऐसा स्वभाव होता है कि उसे इन सब कारणों की उपस्थिति में वस्तु में वर्ण दिखाई देता है। इसी प्रकार से रस आदि गुणों को भी समझ लेना चाहिए। इन गुणों को लॉक ने (Secondary qualities) या (Subjective qualities) नाम दिया है। वस्तुगत धर्म, वह धर्म या गुण है, जो वास्तव में पदार्थ में होता है। दृष्टान्त के लिए संख्या ले लीजिए। यदि मेरे सामने पांच घट पड़े हैं तो वास्तव में वे पांच हैं। मेरी दृष्टि उन्हें पांच नहीं बना देती, अपितु वे अपने आप में पांच हैं।

1. Eternal and Immutable.

इसी प्रकार आकार आदि के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार के गुणों को लोक की भाषा में (Primary qualities) या (Objective qualities) कहते हैं। बर्कले ने लोक की इस धारणा का खण्डन किया। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि वस्तु में इस प्रकार का भेद डालना निरी भ्रान्तता है। वास्तव में पदार्थ के सारे ही गुण आत्मगत होते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि अमुक-गुण तो वस्तु के अपने गुण हैं और अमुक गुण हमारी कल्पना द्वारा वस्तु पर थोपे गए हैं। हमें तथाकथित वस्तुगत धर्म का ज्ञान भी ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि आत्मगत धर्म का। ऐसी स्थिति में हम यह कैसे कह सकते हैं कि अमुक धर्म तो वस्तु का अपना धर्म है और अमुक धर्म ज्ञाता द्वारा आरोपित है। वास्तव में वस्तु में ऐसा कोई धर्म नहीं है जो आत्मगत न हो। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सारी वस्तु ही आत्मगत है क्योंकि विविध धर्मों या गुणों से अतिरिक्त या भिन्न वस्तु अपने आप में कुछ नहीं है। तात्पर्य यह है कि बर्कले के मतानुसार ज्ञाता स्वयं ही वस्तु का निर्माण करता है। ज्ञाता के दर्शन या ज्ञान से भिन्न कोई बाह्य पदार्थ नहीं होता। ज्ञाता का ज्ञान खुद ही बाह्य पदार्थ का आकार धारण करता है और वह ऐसा प्रतिभासित होता है मानों अपने से भिन्न कोई बाह्य पदार्थ हो। वास्तव में जितने भी बाह्य पदार्थ किसी को दिखाई देते हैं—किसी के अनुभव में आते हैं, सब अनुभवकर्ता के अपने दिमाग़ की उपज है—ज्ञाता की अपनी विचारधारा की कृति है। बर्कले की इस धारणा का स्पष्ट मन्तव्य यह है कि व्यक्ति की विचारधारा ही बाह्य पदार्थों की सत्ता का निर्माण करती है। जगत् अपने आप में कुछ नहीं है। व्यक्ति स्वयं जगत् का निर्माण करता है और स्वयं मिटाता है। वास्तव में व्यक्ति का चित्त या मन (Mind) ही अन्तिम तत्त्व है। सारा संसार उसी का खेल है। बर्कले के इस आदर्शवाद को आत्मगत आदर्शवाद या स्वगत आदर्शवाद (Subjective Idealism) कह सकते हैं।

कान्ट का आदर्शवाद दूसरे ही प्रकार का है। उसकी धारणा के अनुसार हमें वास्तविक पदार्थ का ज्ञान हो ही नहीं सकता। हमारा जितना भी ज्ञान या अनुभव है वह दृश्यजगत् तक ही सीमित है। यह कैसे? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कान्ट कहता है कि हमारे ज्ञान की

उत्पत्ति में बहुत से ऐसे कारण हैं जिनकी उपस्थिति में हमें पदार्थ अपने आप में क्या है अर्थात् पदार्थ का अपना वास्तविक स्वरूप क्या है, इसका ज्ञान नहीं हो सकता। मान लीजिए, मैं एक घट का ज्ञान कर रहा हूँ। मेरा यह घटज्ञान किस प्रकार का होगा ? इस घटज्ञान में समय अवश्य रहेगा, क्योंकि मैं किसी-न-किसी समय में ही घट का अनुभव कर सकता हूँ। इसके अतिरिक्त इसमें स्थान का हिस्सा भी रहेगा ही, क्योंकि मेरा यह घटज्ञान किसी न किसी जगह पर पड़े हुए घट के विषय में ही होगा। इन दोनों कारणों के अतिरिक्त मैं उस घट को अस्ति या नास्ति अर्थात् है या नहीं है अथवा कार्य या कारण या अन्य किसी रूप में ही जानूँगा, अथवा इन सब रूपों में जानूँगा। कहने का तात्पर्य यह है कि मेरा घटज्ञान काल, आकाश और विचार की किसी न किसी श्रेणी या वर्ग का उल्लंघन नहीं कर सकता। कान्ट ज्ञान की उत्पत्ति में तीन प्रकार की अवस्थाओं की सीमा स्वीकृत करता है। ज्ञान किसी न किसी काल में उत्पन्न होता है, किसी न किसी आकाश-स्थान से सम्बन्ध रखता है और बारह विचार-कोटियों (Twelve Categories of Thought) में से किसी न किसी विचार-कोटि का आश्रय लेता है। आकाश और काल को वह अन्तर्दृष्टि (Intuition) के दो अखण्ड रूप मानता है।

इस विवेचन को समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा ज्ञान कैसा है ? हम किसी भी पदार्थ को उसी रूप में जानते हैं, जिस रूप में कि हमें उसका उपरोक्त स्थिति में ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो हमारे ज्ञान में काल की मर्यादा है, आकाश की मर्यादा है और साथ-ही-साथ विचार की भी मर्यादा है। हमें इन सब मर्यादाओं के बीच पदार्थ जैसा दिखाई देता है, हम उसे उसी रूप से जानते हैं। असल में पदार्थ कैसा है अर्थात् काल, आकाश और विचार की सीमाओं से परे उसका क्या रूप है, इसका ज्ञान हमें नहीं हो सकता। हम दृश्यजगत् का ज्ञान कर सकते हैं किन्तु पारमार्थिक—वास्तविक जगत् का ज्ञान करना हमारे अधिकार से बाहर है। जगत् जिस रूप में हमारे सामने प्रतिभासित होता है उस रूप में हम उसे जान सकते हैं, अपने असली रूप में नहीं। इस प्रकार ज्ञान का व्यावहारिक जगत् या दृश्यजगत् (Pheno-

menon) और पारमार्थिक जगत् (Noumenon) के रूप में विभाजन करता है।

हेगल ने जगत् का अन्तिम तत्त्व विचार माना। उसने कहा कि विचार की भूमिका पर ही सारा जगत् टिक सकता है। यह विचार तत्त्व बर्कले की तरह वैयक्तिक न होकर सार्वत्रिक है। साथ ही साथ सापेक्ष न होकर निरपेक्ष है। हेगल यह भी मानता है कि तर्क, हेतु आदि इसी विचार के पर्याय हैं। विचार, तर्क, हेतु आदि में कोई भेद नहीं है। यह निरपेक्ष विचार (Absolute Thought) स्थितिशील (Static) न होकर गतिशील (Dynamic) है। इसी गतिशीलता के कारण हेगल के दर्शन में डाइलेक्टिक (Dialectic) का जन्म होता है जो 'वधि (Thesis), निषेध (Anti-thesis) और समन्वय (Synthesis) के रूप में परिणत होता है। निरपेक्ष सार्वत्रिक सत्य तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि विधि और निषेध का सामना करते हुए समन्वय तक पहुँचा जाय। यह समन्वय की भूमिका ही अन्तिम है। इस भूमिका पर पहुँचते ही जगत् की सारी विप्रतिपत्ति (Contradiction) शान्त हो जाती है। विश्व का सम्पूर्ण विरोध, जो कि विधि और निषेध रूप से हमारे सामने आता है, स्वतः शान्त हो जाता है। विधि और निषेध वास्तव में तभी तक परस्पर विरोधी मालूम होते हैं जब तक कि वे हमारे सीमित अनुभव के स्तर पर रहते हैं। असीम स्तर पर पहुँच जाने पर उनका विरोध अपने आप ही शान्त हो जाता है क्योंकि वहाँ पर एक प्रकार की आध्यात्मिक एकता (Spiritual Unity) रहती है। सार्वत्रिक निरपेक्ष तत्त्व के पेट में सब समा जाते हैं। इसी स्थिति का नाम समन्वय है। समन्वय की इस स्थिति में किसी का नाश या अभाव नहीं होता अपितु सबको उचित स्थान प्राप्त हो जाता है। यही हेगल का निरपेक्ष आदर्शवाद या विचारवाद है।

हेगल के बौद्धिक नेतृत्व का अनुसरण करते हुए ब्रे डले ने यह सिद्ध किया कि द्रव्य, गुण, कर्म, आकाश, काल, कार्य, कारण आदि का आधार अनेक विरोधी विचारों को उत्पन्न करता है। उसने इन सब प्रतीयमान तत्त्वों को आभास (Appearance) कहा। वास्तविक तत्त्व

(Reality) के लिए यह आवश्यक है कि वह सम्बन्ध-निरपेक्ष (None-relational) हो, ऐसा कह कर ब्रैडले ने यह सिद्ध किया कि सार्वत्रिक 'अनुभव' ही अन्तिम तत्त्व है। इस 'अनुभव' के भीतर बुद्धि, वेदना और इच्छा तीनों रहते हैं। अपनी प्रसिद्ध कृति अपियरेन्स एण्ड रियलिटी (Appearance and Reality) में इस विषय पर ब्रैडले ने बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। हमारी साधारण बुद्धि को किस प्रकार अनेक विप्रतिपत्तियों का सामना करना पड़ता है, इसका बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है। उसमें यही सिद्ध किया गया है कि निरपेक्ष अन्तिम सत्य का ग्रहण हमारी सामान्य बुद्धि से बाहर की चीज है। वह सत्यनीत होते हुए प्रत्यक्ष अनुभव अथवा साक्षात्कार का विषय है। बुद्धि की सारी विप्रतिपत्ति वहाँ विलीन हो जाती है। अथवा यों कहिए कि हमारी साधारण बुद्धि, जो कि विप्रतिपत्ति से परिपूर्ण है, वहाँ इस रूप में नहीं रहती। उस दशा में वह तत्त्व के साथ एकरूप हो जाती है। जगत् के पदार्थ तभी तक आभासरूप प्रतीत होते हैं जब तक कि उनका ज्ञान, अनुभव या ग्रहण सामान्य बुद्धि द्वारा होता है। इस प्रकार की प्रतीति अपने सीमित रूप में 'आभास' कही जाती है। इस प्रकार का आभास माया या भ्रम नहीं है, अपितु सीमित एवं सापेक्ष सत्य है। उसे हम पूर्ण सत्य अथवा तत्त्व नहीं कह सकते। पूर्ण सत्य निरपेक्ष एवं असीम होता है, और वही सत्य अन्तिम तत्त्व है। इस प्रकार ब्रैडले के मतानुसार तत्त्व के अनेक स्तर या क्रम (Degrees) होते हैं। अन्तिम क्रम निरपेक्ष एवं पूर्ण होता है और वही अन्तिम तत्त्व है।

बोसांके ने ब्रैडले की पद्धति का अनुसरण करते हुए तत्त्व को तार्किक एवं बौद्धिक नींव पर खड़ा किया। उसने बौद्धिक शक्ति पर विशेष जोर दिया। इतना होते हुए भी बाह्य जगत् की सत्ता का अपलाप नहीं किया। उसने कहा कि विचार या तर्क का सार मानसिक शक्ति में नहीं, अपितु वस्तु की बाह्य व्यवस्था में है। यदि हम यह कहें

कि तत्त्व का मानसिक प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रहता है तो हम दोनों में एकता ला सकते हैं।[१]

बोसांकेट की धारणा के अनुसार विचार या तर्क का लक्ष्य 'पूर्ण' (Whole) है। यह 'पूर्ण' स्वभाव से ही निर्माण करने वाला है। जब यह विचार अपनी पूर्ण शक्ति का प्रयोग करता है—पूर्णता तक पहुँच जाता है, तभी तत्त्व की सम्पूर्णता का निर्माण होता है। यह पूर्णता आध्यात्मिक अद्वैत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह आध्यात्मिक अद्वैत ही अनुभव की एकता है। यह अन्तिम आध्यात्मिक तत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है। बाह्य जगत् अनुभव की एकता—आध्यात्मिक तत्त्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है। बोसांकेट ने अनुभव के साथ ही साथ मूल्य (Value) पर भी जोर दिया और कहा कि आध्यात्मिक तत्त्व में मूल्य की एकता (Unity of Values) का भी समावेश है। इस प्रकार बोसांकेट का आदर्शवाद बुद्धि—तर्क—विचार पर विशेष भार देता हुआ आध्यात्मिक एकता की ओर बढ़ जाता है। आदर्शवाद की इस धारा को हम आध्यात्मिक अद्वैतवाद कह सकते हैं।

इस प्रकार हमने संक्षेप में पाश्चात्य आदर्शवादी विचारधाराओं का परिचय देने का प्रयत्न किया है। अब हम यह चाहते हैं कि इसी ढंग से भारतीय आदर्शवादी परंपरा का भी संक्षिप्त परिचय हो जाय।

बौद्धदर्शन की महायान शाखा और अद्वैत वेदान्त, भारतीय आदर्शवाद के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों परम्पराओं में भारतीय आदर्शवाद अच्छी तरह समा सकता है, ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। बौद्धदर्शन की मुख्यरूप से दो धाराएँ हैं—हीनयान और महायान। इनमें से हीनयान खुले रूप से यथार्थवादी है, इसमें कोई संशय नहीं। महायान के पुनः दो भेद हैं—माध्यमिक और योगाचार। माध्यमिक विचारधारा के अनुसार तत्त्व 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' कहा गया है।[२] मानवीय बुद्धि की चारों कोटियाँ तत्त्व-ग्रहण की योग्यता से

१—Life and Philosophy in Contemporary British Philosophy, पृष्ठ ६१

२—चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।

रहित है। हमारी सामान्य बुद्धि में इतनी योग्यता नहीं कि वह अन्तिम तत्त्व तक पहुँच सके। वह केवल संवृति-सत्य (प्रपंच) तक ही सीमित है। यह संवृतिसत्य वास्तविक एवं अन्तिम सत्य नहीं है। हमारा साधारण ज्ञान परमार्थ सत्य तक नहीं पहुँच सकता। यह अन्तिम सत्य क्या है? इस प्रश्न को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद है। कुछ विचारक कहते हैं कि माध्यमिक परम्परा इस अन्तिम तत्त्व को शून्य मानती है अर्थात् यह अन्तिम तत्त्व विधिरूप न होकर निषेधरूप है। दूसरे शब्दों में शून्य का अर्थ यह हो सकता है कि वह तत्त्व सर्वथा असत् है—अभावात्मक है। इस प्रकार इन विचारकों की मान्यतानुसार माध्यमिक का दूसरा अर्थ शून्यवाद हो जाता है और यही कारण है कि माध्यमिक शून्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ विचारक ऐसे हैं, जो माध्यमिक प्रतिपादित तत्त्व को असत् या शून्य नहीं मानते। उनकी धारणानुसार यह अन्तिम तत्त्व विधिरूप है—सत् है। वे शून्य शब्द का प्रयोग अवश्य करते हैं किन्तु असत् की सिद्धि के लिए नहीं, अपितु सत् की सिद्धि के लिए। वे कहते हैं कि शून्य का दो अर्थों में प्रयोग करना चाहिये—एक स्वभाव-शून्य और दूसरा प्रपंच-शून्य। प्रातिभासिक तत्त्व स्वभावशून्य है अर्थात् उसका अपना कोई स्वभाव अथवा स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह केवल प्रपंच या प्रतिभासमात्र है, इसलिए वह अन्तिम तत्त्व नहीं है। वास्तविक तत्त्व प्रपंचशून्य है अर्थात् सब प्रकार के प्रपंच या प्रतिभास से रहित है। वह अपने आप में अन्तिम तत्त्व है। वही अन्तिम तत्त्व है। जैसा कि कहा गया है: "बुद्ध ने दो सत्यों के आधार पर धर्म-देशना की। उनमें एक लोकसंवृति सत्य है और दूसरा पारमार्थिक सत्य है।"[1] "पारमार्थिक सत्य आत्म-साक्षात्कार का विषय है, शान्त है, प्रपंच रहित है, निर्विकल्प है, एक है। यही तत्त्व का लक्षण है।"[2]

योगाचार विज्ञानाद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञानाद्वैत का अर्थ है केवल विज्ञान ही सत् है—तत्त्व है। लंकावतारसूत्र में इस तत्त्व को 'आलयविज्ञान' कहा गया है। यह तत्त्व ग्राह्य-ग्राहक भाव से विनिर्मुक्त है। बुद्धि से विवेचन करने पर हम इस तत्त्व का कोई भी स्वरूप निश्चित नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में यह तत्त्व अनभिलाप्य एवं निःस्वभाव है।[1]

असंग एवं वसुबन्धु ने इसी तत्त्व को 'विज्ञप्तिमात्रता' कहा है। विज्ञप्तिमात्रता का पूर्ण वर्णन हमारी शक्ति से बाहर है। साधारण बुद्धि इसका वर्णन करने में असमर्थ है।[2]

विज्ञानाद्वैतवादप्रतिपादित विज्ञप्तिमात्रता या विज्ञान क्षणिक है या नित्य है? इस प्रश्न का उत्तर दो रूपों में मिलता है। कुछ विद्वान् प्राचीन आचार्यों की कृतियों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि योगाचार नित्यवादी है। उनका कथन है कि विज्ञानाद्वैत में क्षणिकत्व की कल्पना पीछे के तर्कयुग के आचार्यों की देन है। कुछ विचारक मूलतः विज्ञानाद्वैत को क्षणिक मानते हैं। वे कहते हैं कि क्षणिक विज्ञान-परम्परा ही विज्ञानाद्वैत का मूलभूत सिद्धान्त है। योगाचार ने कभी भी नित्यवाद को स्वीकृत नहीं किया। वह हमेशा से अनित्यवादी अर्थात् क्षणिकवादी रहा है।[3] जो कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि योगाचार केवल विज्ञान को ही अन्तिम तत्त्व मानता है।

अद्वैत वेदान्त ब्रह्म को अन्तिम तत्त्व मानता है। यही ब्रह्म आत्मा के नाम से भी जाना जाता है। ब्रह्म और आत्मा दो तत्त्व नहीं हैं, अपितु ब्रह्म ही आत्मा है और आत्मा ही ब्रह्म है। हमारे सीमित ज्ञान का असीम आधार यही तत्त्व है। यद्यपि हम अपने सीमित ज्ञान के आधार पर असीम ब्रह्म का वर्णन नहीं कर सकते, तथापि हमारी बुद्धि को

१—बुद्ध्या विविच्य..............

लंकावतारसूत्र, पृ० ११६

२—विंशतिका, का० २२।

३—Indian Philosophy : डा० सी० डी० शर्मा, पृ० १६६

कुछ सन्तोष प्राप्त हो, इस दृष्टि से कहीं-कहीं ब्रह्म का वर्णन करते समय उसे नित्य, अपरिवर्तनशील, शाश्वत, अनन्त, निरपेक्ष आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। वह न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न वह किसी का आश्रय है, न उसका कोई आधार है, वह अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, न उसे कोई मार सकता है, न वह किसी को मार सकता है। यह आत्म तत्त्व या ब्रह्म तत्त्व स्वयंसिद्ध है, क्योंकि सिद्धि और असिद्धि दोनों ही की सिद्धि उसकी सिद्धि के विना असिद्ध है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि यदि अद्वैत वेदान्त का यह अन्तिम तत्त्व नित्य और अपरिवर्तनशील है, तो फिर जगत् के सारे पदार्थ प्रतिक्षण बदलते क्यों रहते हैं? इस कठिनाई को दूर करने के लिए अद्वैत वेदान्त तत्त्व को तीन रूपों में देखता है—

१—व्यावहारिक सत्ता।
२—प्रातिभासिक सत्ता।
३—पारमार्थिक सत्ता।[1]

जाग्रत अवस्था का साधारण ज्ञान व्यावहारिक सत्ता का प्रतीक है। व्यावहारिक सत्ता की दृष्टि से हमारा साधारण ज्ञान सच्चा है, अथवा यों कहिए कि जाग्रत अवस्था के ज्ञान के विषयीभूत पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता है। भ्रमावस्था में जो पदार्थ प्रतिभासित होते हैं उनकी प्रातिभासिक सत्ता है। इस सत्ता का व्यावहारिक सत्ता से खण्डन हो जाता है। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक सत्ता है अर्थात् ब्रह्म ही अन्तिम सत्ता है—आत्मा ही निरपेक्ष तत्त्व है। जाग्रत दशा की सत्ता इस सत्ता से बाधित हो जाती है। इस सत्ता से बढ़कर दूसरी कोई ऐसी सत्ता नहीं है, जिससे यह बाधित हो, क्योंकि यही सबसे बड़ी है—अनन्त है—निरपेक्ष है—एक है—सर्वव्यापी है। इसी तत्त्व को 'प्रपंचस्य एकायनम्'[2] और 'भूमा' भी कहा गया है। यद्यपि यह सब का आधार है, किन्तु अपने

१—वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ २५।

२—प्रपंचस्यैकायनमनन्तरमवाह्यं कृत्स्नं.........

—शांकरभाष्य, १।४।६।१९

आधार के लिए इसे किसी अन्य की आवश्यकता नहीं रहती। यह अप्रतिष्ठित और अनाश्रित है।[1] इस तत्त्व का ज्ञान तत्त्वमय होने पर ही हो सकता है, तत्त्व से अलग रहने पर नहीं। इसीलिये कहा गया है कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है—ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति। उस अवस्था में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता।

यथार्थवाद :

यह स्पष्ट ही है कि यथार्थवाद आदर्शवाद की तरह जड़ तत्त्व का अपलाप नहीं करता। चार्वाक-जैसे कुछ यथार्थवादी दर्शन ऐसे तो मिल सकते हैं, जो स्वतन्त्र चेतन तत्त्व न मानते हों, किन्तु ऐसा कोई भी यथार्थवादी दर्शन न मिलेगा, जो जड़ तत्त्व का अपलाप करता हो। तात्पर्य यह है कि यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार जड़तत्व असत् नहीं है, अपितु सत् है। भौतिक तत्त्व आभास नहीं अपितु यथार्थ है। इस भौतिक या जड़ तत्व का आधार कोई चेतन तत्त्व या विचारधारा नहीं है, अपितु यह स्वयं अपने आप में अपना आधार है। इसका कोई अन्य आध्यात्मिक आश्रय नहीं है, अपितु यह स्वाश्रित है—स्वप्रतिष्ठित है।

अब प्रश्न यह है कि क्या सचमुच जड़ या भौतिक तत्त्व है? जिसे मैं गुलाब का फूल समझ रहा हूँ, या गुलाब के फूल के रूप में देख रहा हूँ, क्या वह सचमुच कोई ऐसी चीज है, जो मेरे ज्ञान से भिन्न स्वतन्त्र जड़ पदार्थ है? जिस समय मैं उसे नहीं देखता हूँ, क्या उस समय भी वह फूल उसी रूप में मौजूद है? क्या वह फूल वास्तव में फूल रूप से सत्य है, या केवल मेरी कल्पना की उत्पत्ति ही है, जिसका स्वप्न के पदार्थ की तरह वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है? उसका आधार सार्वत्रिक चेतना है, या वह स्वयं अपना आधार है? यथार्थवाद इन सब प्रश्नों को हल करने का प्रयत्न करता है। उसकी दृष्टि में गुलाब के फूल की उसी तरह स्वतन्त्र सत्ता है, जिस

१—'अप्रतिष्ठितोऽनाश्रितो भूमा क्वचिदपि'
—छान्दोग्य, ७।२४।१।

तरह कि मेरी उससे भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है। जिस प्रकार मेरी चैतन्य शक्ति अपने अस्तित्व के लिए फ़ूल की सत्ता पर निर्भर नहीं है, उसी प्रकार फ़ूल की सत्ता भी अपने अस्तित्व के लिए मुझ पर निर्भर नहीं है। इतना ही नहीं, अपितु किसी अन्य चैतन्य शक्ति, ज्ञान, विचारधारा या आध्यात्मिक तत्त्व पर भी अवलम्बित नहीं है। वह अपने आप में सत् है, जड़ रूप से सत् है, भौतिक रूप से सत् है, आध्यात्मिक तत्त्व से भिन्न स्वतन्त्र रूप से सत् है। उसकी सत्ता का आधार न कोई वैयक्तिक विचारधारा है, और न किसी प्रकार की सार्वभौम ज्ञानधारा या सार्वत्रिक आध्यात्मिक सत्ता है। वह स्वयं सत् है, स्वयं यथार्थ है, स्वयं तत्त्व है। हाँ, यह ठीक है कि उसका किसी अन्य तत्त्व से सम्बन्ध हो सकता है, वह किसी ज्ञान के लिए ज्ञेय बन सकता है, किन्तु उसकी सत्ता या अस्तित्व किसी पर निर्भर नहीं है। वह अपने कारणों से उत्पन्न होता है, और ज्ञान अपने कारणों से उत्पन्न होता है। चेतन और जड़ में ज्ञाताज्ञेय सम्बन्ध हो सकता है, उत्पाद्योत्पादक सम्बन्ध नहीं।

बाह्य भौतिक पदार्थों की सिद्धि के लिए यथार्थवादी अनेक हेतु उपस्थित करते हैं। उनमें प्रधान हेतु यह है कि यदि बाह्य पदार्थ न हो, तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (Sensation) नहीं हो सकता। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिए यह आवश्यक है कि उस प्रत्यक्ष का कोई बाह्य कारण विद्यमान हो। बाह्य कारण के अभाव में यह व्यवस्था नहीं हो सकती कि अमुक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का अमुक विषय है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष उसी पदार्थ को अपना विषय बनाता है, जो उसकी सीमा के भीतर होता है। प्रत्येक इन्द्रिय की भिन्न-भिन्न योग्यता होती है, और उसी योग्यता के अनुसार वह इन्द्रिय किसी पदार्थ को अपना विषय बनाती है। चक्षुरिन्द्रिय की अपनी सीमा है, घ्राणेन्द्रिय की अपनी योग्यता है, रसनेन्द्रिय का अपना क्षेत्र है। इसी प्रकार दूसरी इन्द्रियों की भी अपनी-अपनी मर्यादाएँ हैं। बाह्य पदार्थ अमुक दूरी पर अमुक स्थिति में अमुक योग्यता वाला हो तो वह अमुक परिस्थिति में अमुक व्यक्ति की अमुक इन्द्रिय का अमुक सीमा तक विषय बन सकता है। इस प्रकार बाह्य पदार्थ की मर्या-

दाओं के साथ-साथ इन्द्रिय की भी मर्यादाएँ होती हैं। यदि वास्तव में स्वतन्त्र रूप से बाह्य पदार्थ न हो तो ये सारी सीमाएँ व्यर्थ हो जाएँगीं। भ्रम, स्वप्न या अन्य किसी विकृत अवस्था का उदाहरण देकर इस सत्य को अन्यथा सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन सब अवस्थाओं का वास्तविक आधार साधारण और जाग्रत अवस्था है। जब तक हम यह नहीं समझ लेते कि हमारी जाग्रत दशा का साधारण और अविकृत ज्ञान या अनुभव सच्चा है—यथार्थ है—तब तक हमें यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि स्वप्न या भ्रमावस्था का विकृत ज्ञान झूठा है—अयथार्थ है—मिथ्या है—भ्रम है। जाग्रत दशा का ज्ञान हमें स्पष्ट रूप से यह बताता है कि हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय बाह्य पदार्थ है जो, आध्यात्मिक या विचारमात्र न होकर भौतिक स्वभाव वाला है। मेरे चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष-का विषय, जिसे मैं गुलाब का फूल कहता हूँ, आध्यात्मिक या विचारमात्र न होकर भौतिक स्वभाव वाला है। यदि उसकी भौतिक रूप सत्ता न होती, तो मैं किसी भी जगह, किसी भी समय, किसी भी इन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष कर लेता। वह मेरी चक्षुरिन्द्रिय की मर्यादाओं से सीमित न होता, उसी प्रकार मेरी चक्षुरिन्द्रिय भी उसकी सीमाओं से मर्यादित न होती। ज्ञान और पदार्थ, विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय—इन सारी समस्याओं का संतोषजनक समाधान यही है कि जगत् में एक ही तत्त्व नहीं है, अपितु अनेक तत्त्व हैं।

दूसरी बात यह है कि एक ही वस्तु अनेक व्यक्तियों के ज्ञान का विषय बनती है। यदि उस वस्तु की स्वतन्त्र भौतिक सत्ता नहीं है तो यह कैसे संभव हो सकता है? उदाहरण के तौर पर, मेरे सामने एक मेज पड़ी हुई है। जिस समय मैं उस मेज को देख रहा हूँ, उस समय मेरे पास बैठे हुए दो मित्र भी उसी मेज को देख रहे हैं। नपने पर यह भी निश्चित हो रहा है कि जितनी दूरी मेरे सामने से है ठीक उतनी ही दूरी उनके सामने से भी है, क्योंकि हम लोग बिलकुल सीधी पंक्ति में बैठे हुए हैं। रंग भी प्रायः एक-सा दिखाई दे रहा है। (प्रायः इसलिए कि रंग का कोई बाह्य नापतोल

नहीं है) लम्बाई-चौड़ाई भी सबको एक सरीखी दिखाई दे रही है..........इत्यादि। इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि हमारे सामने कोई ऐसी वस्तु अवश्य पड़ी हुई है, जो हमारे ज्ञान का विषय बन रही है। वह वस्तु हम सबसे भिन्न कोई स्वतंत्र पदार्थ है। रसल के शब्दों में "यद्यपि विभिन्न व्यक्ति एक मेज को थोड़ी-सी विभिन्नता से देख सकते हैं, फिर भी जिस समय वे मेज को देखते हैं, प्रायः एक सरीखी चीज ही देखते हैं। इससे सहज ही इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि सब व्यक्तियों के ज्ञान का विषय एक ही स्थिर पदार्थ है।"[१]

भौतिक पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने का दूसरा कारण यह है कि इस प्रकार की मान्यता के आधार पर गणित-शास्त्र की प्रक्रिया शीघ्र ही समझ में आ सकती है। यदि बाह्य पदार्थों की वास्तविक सत्ता न मानी जाय, तो गणित का कोई भी नियम किसी स्थान पर लागू नहीं हो सकता। यह ठीक है कि गणित-शास्त्र की उत्पत्ति का आधार विचार-व्यापार (Conceptional process) है, किन्तु विचार-व्यापार का आधार क्या है, यह सोचने पर हमें बाह्य पदार्थों की शरण लेनी ही पड़ती है। विचार का सारा व्यापार ठोस पदार्थों के आधार पर चलता है। हमारा कोई भी ऐसा विचार-व्यापार नहीं है, जिसकी जड़ में ठोस वस्तु की सत्ता न हो। 'केवल विचार' की कल्पना केवल कल्पना है, वास्तविक सत्य नहीं। और फिर 'केवल कल्पना' भी अपने आप में किसी-न-किसी वस्तु को छिपाए रखती है।

भौतिक पदार्थ और आध्यात्मिक तत्त्व के स्वरूप में इतना अधिक अन्तर है कि दोनों अभिन्न हो ही नहीं सकते। आत्मा का स्वभाव संवेदन या ज्ञान है, जबकि जड़ रूपादि गुणों से युक्त है। ज्ञान या संवेदन आत्मा के भीतर रहता है, जबकि भौतिक पदार्थ हमारी इंद्रियों के विषय बनते हैं और बाह्यसत्ता का उपभोग करते हैं। मान लीजिए, मेरे सामने इस समय एक पत्थर पड़ा हुआ है,

---

१—The Problems of Philosophy, पृष्ठ २१

जिसका मुझे इंद्रिय-प्रत्यक्ष हो रहा है। यह इंद्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान है, क्योंकि मैं उस प्रत्यक्ष का अनुभव कर रहा हूँ—मुझे उसका संवेदन हो रहा है। एक आदर्शवादी की दृष्टि से पत्थर से लगा कर ज्ञान तक सब कुछ एक ही कोटि में है। जो ज्ञान का स्वभाव है वही पत्थर का स्वभाव है। पत्थर ज्ञान से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। यह एक अलग प्रश्न है कि पत्थर, जो कि ज्ञान रूप है, मेरे ज्ञान तक ही सीमित है, या उसका क्षेत्र सारा विश्व है। जहाँ तक उसके स्वभाव का प्रश्न है, वह ज्ञानरूप है, चेतनारूप है, विचाररूप है। इन आध्यात्मिक धर्मों को छोड़कर उसके भीतर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जिसे हम वास्तविक कह सकें। यथार्थवादी इसका निराकरण करते हुए कहता है कि पत्थर भी ज्ञान है और मेरा तद्विषयक प्रत्यक्ष भी ज्ञान है। ऐसी स्थिति में मैं उस पत्थर से दूसरे व्यक्ति का सिर फोड़ सकता हूँ, किन्तु तद्विषयक अपने ज्ञान से नहीं, ऐसा क्यों ? आदर्शवादी इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकता। यथार्थवादी स्पष्ट रूप से कहता है कि ज्ञान का स्वभाव और बाह्य पदार्थ का स्वभाव दोनों बिलकुल भिन्न हैं। दो ऐसे तत्त्व कि जिनका स्वभाव सर्वथा भिन्न है, एक नहीं हो सकते। भौतिक तत्त्व का स्वभाव भिन्न है, आध्यात्मिक तत्त्व का स्वभाव भिन्न है। ऐसी दशा में दोनों एक नहीं हो सकते।

इन सब हेतुओं के आधार पर यह कहना अनुचित नहीं कि भौतिक पदार्थों की ज्ञान से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है। जिस प्रकार आध्यात्मिक तत्त्व की सत्ता का कोई अन्य आधार नहीं है, किन्तु वह स्वयं सत् है, ठीक उसी प्रकार जड़ या भौतिक तत्त्व भी अपनी सत्ता के लिए किसी दूसरे तत्त्व का मुँह नहीं ताकता। वह स्वयं सत् है, स्वतन्त्र है, अपने बल पर टिका हुआ है। सामान्य रूप से यथार्थवाद का यही दृष्टिकोण है। यह भौतिक तत्त्व एक है या अनेक है, उसका ज्ञान और आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है, अनेक होने पर उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है, आत्मा भौतिक तत्त्व से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ है या केवल उसी का परिणाम है, इत्यादि अनेक समस्याओं को सुलझाने के लिए यथार्थवादियों ने भिन्न-भिन्न

दृष्टिकोणों का आश्रय लिया है। अब हम इन दृष्टिकोणों को समझने का प्रयत्न करते हुए इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

यथार्थवादी विचारधाराएँ :

सामान्य रूप से यथार्थवाद के तीन भेद हैं—(१) जड़ाद्वैतवाद (२) द्वैतवाद (३) नानार्थवाद। जड़ाद्वैतवाद केवल एक तत्त्व स्वीकार करता है। वही तत्त्व जगत् का मुख्य कारण है। चैतन्य आदि अन्य जितने भी तथाकथित तत्त्व हैं, उसी तत्त्व का रूपान्तर मात्र हैं। प्रारंभिक ग्रीक दार्शनिक थेलिस, एनाक्सिमेनेस, हेराक्लिटस एक ही तत्त्व में विश्वास करते थे। थेलिस केवल अप् तत्त्व को प्रधान मानता था। उसकी दृष्टि में अन्य सारे पदार्थ उसी के रूपान्तर मात्र थे। एनाक्सिमेनेस ने वायु को प्रधान तत्त्व माना। इसी प्रकार हेराक्लिटस की दृष्टि में तेज ही सब कुछ था। आत्मा भी तेज का ही एक रूप है, ऐसा उसका दृढ़ विश्वास था। एनाक्सिमान्डर ने सामान्य जड़मात्र स्वीकार किया। उसने उस सामान्य तत्त्व को विशेष नाम न देकर जड़ या भूतसामान्य के रूप में ही रखा।

द्वैतवाद इस सिद्धान्त को न मानकर कुछ आगे बढ़ता है और जड़ तत्त्व के साथ एक चेतन तत्त्व भी जोड़ देता है। उसकी दृष्टि में जगत् में दो मुख्य तत्त्व होते हैं—एक जड़ और दूसरा चैतन्य जितने भौतिक पदार्थ हैं, सभी जड़ तत्त्व के अन्तर्गत आ जाते हैं। जितना आध्यात्मिक तत्त्व है, सारा चैतन्य के अन्दर आजाता है॥ ग्रीक दार्शनिक एनाक्सागोरस ने जड़ तत्त्व के साथ-ही-साथ आत्म-तत्त्व भी स्वीकृत किया जिसे उसने (Nous) नूस कहा है। गति और परिवर्तन का मुख्य कारण यही नूस है, ऐसा उसने प्रतिपादित किया है। एम्पिडोकल्स के विषय में थोड़ा सा मतभेद है, फिर भी यह निश्चित है कि उसने राग और द्वेष (Love and Hate) नामक तत्त्व की सत्ता स्वीकृत की। एरिस्टोटल को भी द्वैतवादी कह सकते हैं। मध्यकालीन दार्शनिक धारा तो द्वैतवाद के जल से ही प्रवाहित होती है। भारतीय दर्शन में सांख्य, मीमांसा द्वैतवाद के पक्के समर्थक हैं।

नानार्थवाद, तत्त्व की संख्या को दो तक ही सीमित नहीं रखता। उसकी दृष्टि दो से आगे बढ़ती हुई असंख्य और अनन्त तक पहुँच जाती है। बाद के ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रिट्स आदि परमाणुवादी (Atomists) नानार्थवाद के अन्तर्गत आते हैं। नानार्थवादी अनेक तत्त्वों को अन्तिम सत्य मानते हैं। वे एक या दो तत्त्वों को मुख्य न मानकर अनेक तत्त्वों को मुख्य और स्वतन्त्र मानते हैं। सभी तत्व अपने आप में पूर्ण और स्वतन्त्र होते हैं। उन्हें अपनी पूर्णता या सत्ता के लिए दूसरे तत्त्व पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। लाइबनित्स नानार्थवादी तो था, किन्तु भौतिकवाद का कट्टर विरोधी था, अतः उसे हम यथार्थवाद की दृष्टि से नानार्थवादी नहीं कह सकते। उसके अनन्त मोनाड (Infinite Monads) आध्यात्मिक प्रकृति के थे अतः हम उसे आध्यात्मिक नानार्थवादी कह सकते हैं। भारतीय परम्परा में चार्वाक, जैन, हीनयान बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक आदि दार्शनिक विचारधाराएँ नानार्थवादी कही जा सकती हैं।

इस प्रकार संक्षेप में यथार्थवाद के तीनों दृष्टिकोणों को समझ लेने के बाद भारतीय यथार्थवादी विचारधारा को जरा अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

मीमांसा के अनुसार ज्ञान और ज्ञेय भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। ज्ञेय के अभाव में ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। यह ज्ञेय तत्त्व जब इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है, तभी ज्ञान उत्पन्न होता है।[1] प्रभाकर और कुमारिल दोनों आचार्यों ने ज्ञान और ज्ञेय के इस सम्बन्ध को माना है और अपनी-अपनी कृतियों में इस सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया है।

सांख्य दर्शन स्पष्टरूप से दो तत्त्व मानता है। ये दोनों तत्त्व अपने आप में सत् हैं। ये तत्त्व हैं—पुरुष और प्रकृति। दोनों शाश्वत हैं और एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। पुरुष की सत्ता प्रकृति पर निर्भर

१—'द्रव्यजातिगुणेष्विन्द्रियसंयोगोत्था सा प्रत्यक्षा प्रतीतिः'

—प्रकरणपंचिका, पृ० ५२।

नहीं है, और प्रकृति की सत्ता पुरुष से भिन्न है। पुरुष न तो वास्तव में बद्ध होता है, न मुक्त। संसार का जितना भी प्रपंच और खेल है, सब प्रकृति की ही माया है। पुरुष तो एक द्रष्टामात्र है, जो चुपचाप सब कुछ देखा करता है। वह न तो कुछ करता है, न वास्तव में कुछ भोगता है। प्रकृति जड़ है और पुरुष चित् है। प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से दस इन्द्रियाँ, मन और पाँच तन्मात्राएँ, ये सोलह और इन सोलह में से पाँच तन्मात्राओं से पाँच भूत, इस प्रकार एक ही प्रकृति से सारे संसार की उत्पत्ति होती है।

रामानुज भी चित् तत्त्व और जड़ तत्त्व दोनों को स्वतन्त्र मानता है। चित् ज्ञान का आश्रय है। ज्ञान और चित् दोनों का शाश्वत सम्बन्ध है। जड़ तत्त्व तीन भागों में विभक्त है—पहला वह, जिसमें केवल सत्त्व है। दूसरा वह, जिसमें तीनों गुण-सत्त्व, रजस् और तमस् हैं। तीसरा वह, जिसमें एक भी गुण नहीं है। यह तत्त्व नित्य है, ज्ञान से भिन्न है और चित् से स्वतन्त्र है। यह परिवर्तनशील है। यद्यपि रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी है, किन्तु वह यह कभी नहीं मानता कि जड़ और चित् किसी समय ब्रह्म में मिलकर एक रूप हो जाएँगे। दोनों तत्त्व हमेशा स्वतन्त्र रूप से जगत् में रहेंगे। इस दृष्टि से दोनों तत्त्वों का आधार ब्रह्म भले ही हो, किन्तु दोनों कभी भी एक रूप न होंगे। अतः रामानुज को यथार्थवादी कहना उचित ही है।

मध्व तो स्पष्ट रूप से द्वैतवादी है। वह रामानुज की तरह विशिष्टाद्वैत में विश्वास नहीं रखता। उसकी दृष्टि में जड़ और चित् दोनों सर्वथा स्वतन्त्र एवं भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। उनका कोई सामान्य आधार नहीं है। वे अपने आप में पूर्ण स्वतन्त्र एवं सत् हैं। वे ब्रह्म या अन्य किसी भी तत्त्व के गुण नहीं हैं अपितु स्वयं द्रव्य हैं।

न्याय और वैशेषिक पक्के यथार्थवादी हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं। वैशेषिक दर्शन द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—इस प्रकार सात पदार्थों को यथार्थ मानता है। नैयायिक लोग प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थ मानते हैं।

हीनयान बौद्ध विचारधारा के दो भेद हैं—वैभाषिक और सौत्रान्तिक। वैभाषिक सर्वास्तिवादी हैं। सर्वास्तिवादी का अर्थ है 'सब कुछ है'—इस सिद्धान्त को मानने वाला। यहाँ पर सब कुछ से तात्पर्य जड़ और चैतन्य से है। आन्तरिक और बाह्य दोनों तत्त्व ज्ञान और जड़ रूप से सत् हैं। ये नित्य न होकर अनित्य हैं, अर्थात् स्थायी न होते हुए क्षणिक हैं। सौत्रान्तिक भी यही मानता है कि ज्ञान और जड़ पदार्थ दोनों ही क्षणिक हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिक में मुख्य भेद यह है कि वैभाषिक बाह्य अर्थ का सीधा प्रत्यक्ष मान लेता है, जबकि सौत्रान्तिक की मान्यता के अनुसार ज्ञान के आकार से बाह्य अर्थ का अनुमान लगाया जाता है। अर्थ के अनुसार ज्ञान में आकार आता है और उस आकार से अर्थ का ज्ञान होता है। अर्थ का ज्ञान सीधा अर्थ से नहीं होता, अपितु तदाकार बुद्धि से होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो वैभाषिक की मान्यता के अनुसार ज्ञान, बुद्धि या चेतना निराकार है, जबकि सौत्रान्तिक उसे साकार मानता है। जैसा पदार्थ होता है वैसा ही बुद्धि में आकार आ जाता है। उसी आकार से हमें बाह्य पदार्थ के आकार का ज्ञान होता है। वैभाषिक की धारणा के अनुसार बाह्य पदार्थ का सीधा प्रत्यक्ष होता है। सौत्रान्तिक के मतानुसार बाह्य पदार्थ का सीधा प्रत्यक्ष न होकर बुद्धि के आकार के द्वारा उसका ज्ञान होता है। वैभाषिक का पदार्थज्ञान प्रत्यक्ष (Direct) है और सौत्रान्तिक का पदार्थज्ञान परोक्ष (Indirect)—ऐसा भी कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों ही बाह्य अर्थ की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास रखते हैं, जो कि यथार्थवाद के लिए आवश्यक है।

चार्वाक पूर्ण रूप से जड़वादी है। वह चेतना या आत्मा नामक भिन्न तत्त्व नहीं मानता। जिसे हम लोग आत्मा कहते हैं वह वास्तव में जड़ से भिन्न तत्त्व नहीं है अपितु उसी का रूपान्तर है। जगत् चार भूतों की ही रचना है। ये चार भूत अन्तिम सत्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कोई स्वतन्त्र तत्त्व या सत्य नहीं है। ये चार भूत हैं—पृथ्वी, अप्, तेज और वायु। इन चार भूतों का एक विशिष्ट संयोग

आत्मोत्पत्ति का कारण है। यद्यपि इन चारों तत्त्वों में भिन्न-भिन्न रूप से चेतना नहीं है, तथापि जिस समय ये चारों तत्त्व एक विशिष्ट रूप में एकत्र होते हैं उस समय उनसे चेतना उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार चेतना भूत से भिन्न नहीं है, अपितु भौतिक है। चार्वाक दर्शन का यह पक्का विश्वास है कि दुनियाँ में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो न भूत हो न भौतिक हो। प्रत्येक पदार्थ या तो भूत है या भौतिक है। जो न तो भूत है न भौतिक ही है वह केवल असत् है—अभाव है। चार्वाक की इस मान्यता को दृष्टि में रखते हुए हम उसे जड़ाद्वैतवादी कह सकते हैं किन्तु यह जड़ाद्वैत ग्रीक दार्शनिक थेलिस, एनाक्सिमेनेस, हेराक्लिटस आदि के ढंग का न होकर नानार्थवाद के ढंग का है। उसे चतुर्भूतवादी या चतुर्भूतजड़ाद्वैतवादी कहना भी अनुचित नहीं है।

जैन दर्शन का यथार्थवाद :

साधारणतया जैन दर्शन दो तत्त्व मानता है—जीव और अजीव। जीव तत्त्व का अर्थ है वह तत्त्व जिसमें चेतना है, ज्ञान है, उपयोग है। चेतना, ज्ञान और उपयोग प्रायः एक ही अर्थ के वाचक हैं। अजीव तत्त्व अचेतन है—जड़ है। इन दो तत्त्वों के आधार पर ही पांच, छः या नव तत्त्व बनते हैं। मुख्य रूप से दो ही तत्त्व हैं, किन्तु इन दोनों तत्त्वों के विश्लेषण या अवस्थाविशेष से भिन्न-भिन्न संख्यक तत्त्वों की रचना व बोध होता है। अनुयोगद्वार (सूत्र १२३) में कहा गया है—'अविसेसिए दव्वे, विसेसिए जीवदव्वे अजीवदव्वे य' अर्थात् सामान्यरूप से द्रव्यद्रव्य रूप से एक है, विशेषरूप से द्रव्य जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य रूप से दो हैं। यह विभाजन अपेक्षाकृत है। केवल द्रव्य की दृष्टि से देखा जाय तो एक ही तत्त्व होगा और वह होगा द्रव्यसामान्य। यह द्रव्य सामान्य वेदान्त या चार्वाक की तरह केवल चेतन या केवल जड़ नहीं है, अपितु उसके भीतर जड़ और चेतन दोनों आते हैं और दोनों ही यथार्थ हैं। इसीलिए विशेषरूप से द्रव्य के दो भेद किए गए हैं—जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य। यहाँ पर इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जैन दर्शन में तत्त्व, द्रव्य, सत्,

पदार्थ, अर्थ आदि शब्दों का प्राय: एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। आगमों में 'सत्' शब्द का प्रयोग बहुत कम है। वहाँ प्राय: द्रव्य शब्द का ही प्रयोग है और द्रव्य को ही तत्त्व कहा गया है।

भगवती सूत्र में महावीर और गौतम के बीच एक संवाद है। गौतम महावीर से पूछते हैं–'भगवन् ! यह लोक क्या है ?' महावीर उत्तर देते हैं–'गौतम ! यह लोक पंचास्तिकाय रूप है। पंचास्तिकाय ये हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय'। यहाँ पर काल की स्वतन्त्र रूप से गणना नहीं की गई है। कई स्थानों पर काल को स्वतन्त्र रूप से गिना गया है।[१] कहीं कहीं पर काल के स्थान में अद्धासमय शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार काल को मिला देने से कुल छः द्रव्य हो जाते हैं। प्रत्येक द्रव्य जीव और अजीव के विश्लेषण से बनते हैं। जीवद्रव्यको जीवास्ति काय कहा गया। अजीवद्रव्य के पाँचभेद किए गए—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल (अद्धासमय)।

जीव की भिन्न-भिन्न वृत्तियों के अनुसार उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं और उन्हीं अवस्थाओं के आधार पर तत्त्व के नवभेद किये गये हैं। इन अवस्थाओं में अजीव का भी हाथ रहता है। नव भेद ये हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, पाप, पुण्य, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन नव भेदों में कुछ जीव की अपनी अवस्थाएँ हैं, कुछ अजीव की अपनी अवस्थाएँ हैं, व कुछ दोनों की मिश्रित अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार जैन दर्शन विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न तत्त्व मानता है। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि उसका दृष्टिकोण पूर्ण रूप से यथार्थवादी है। वह चेतन और अचेतन दोनों तत्त्वों को यथार्थ मानता है। इन्हीं तत्त्वों को जीव और अजीव कहा गया है।

१—'तत्त्व' की चर्चा का प्रकरण देखिए।

जैनदर्शन और उसका आधार

जैन धर्म या जैन दर्शन
भारतीय विचार-प्रवाह की दो धाराएँ
ब्राह्मण-संस्कृति
श्रमण शब्द का अर्थ
जैन परम्परा का महत्त्व
जैन दर्शन का आधार
आगम युग
आगमों का वर्गीकरण
आगमों पर टीकाएँ
दिगम्बर आगम
स्थानकवासी आगमग्रन्थ
आगमप्रामाण्य का सार
आगमयुग का अन्त
आदि...............
अनेकान्तस्थापना-युग
सिद्धसेन आदि आचार्य

जैन-दर्शन और उसका आधार

जैन परम्परा दर्शन के अन्तर्गत आती है या उसका समावेश धर्म के अन्दर होता है ? यह हम जानते हैं कि दर्शन तर्क और हेतु-वाद पर अवलम्बित है, जब कि धर्म का आधार मुख्य रूप से श्रद्धा है। श्रद्धा और तर्क दोनों का आश्रय मानव है, तथापि इन दोनों में प्रकाश और अन्धकार-जितना अन्तर है। श्रद्धा जिस बात को सर्वथा सत्य मानती है, तर्क उसी बात को फूँक से उड़ा देता है। श्रद्धा के लिए जो सर्वस्व है, तर्क की दृष्टि में उसीका सर्वथा अभाव हो सकता है। जो वस्तु श्रद्धा के लिए आकाश-कुसुमवत् होती है, हेतु उसी के पीछे अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। ऐसी स्थिति में क्या यह संभव है कि एक ही परम्परा धर्म और दर्शन दोनों हो सके ? भारतीय विचारधारा तो यही बताती है कि दर्शन और धर्म साथ-साथ चल सकते हैं। श्रद्धा और तर्क के सहानवस्थान रूप विरोध को भारतीय परम्परा आचार और विचार के विभाजन से शान्त करती है। प्रत्येक परम्परा दो दृष्टियों से अपना विकास करती है। एक ओर आचार की दिशा में उसकी गति या स्थिति का निर्माण होता है,

और दूसरी ओर बुद्धि एवं तर्क-शक्ति के संतोष के लिए विचार का विकास होता है। श्रद्धालु व्यक्तियों की सन्तुष्टि के लिए आचार-मार्ग सहायक होता है, तथा चिन्तनशील व्यक्तियों की तृप्ति के लिए विचार-परम्परा का पूर्ण सहयोग मिलता है।

जैन धर्म या जैन दर्शन :

बौद्ध परम्परा में हीनयान और महायान के रूप में आचार और विचार की दो धाराएँ मिलती हैं। हीनयान मुख्यरूप से आचारपक्ष पर भार देता है। महायान का विचारपक्ष पर अधिक भार है। बौद्ध दर्शन में प्राण डालने का कार्य यदि किसी ने किया है तो महायान परम्परा ने ही। शून्यवाद-माध्यमिक तथा योगाचार विज्ञानाद्वैतवाद ने बौद्ध-विचारधारा को इतना दृढ़ एवं पुष्ट बना दिया कि आज भी दर्शन जगत् उसका लोहा मानता है। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के नाम से वेदान्त में भी यही हुआ। कई विद्वानों का यह विश्वास है कि मीमांसा और वेदान्त एक ही मान्यता के दो बाजू हैं। एक बाजू पूर्वमीमांसा (प्रचलित नाम मीमांसा) है और दूसरा बाजू उत्तरमीमांसा (वेदान्त) है। पूर्व-मीमांसा आचार पक्ष है एवं उत्तरमीमांसा विचार पक्ष है। मीमांसा-सूत्र और वेदान्तसूत्र एक ही ग्रन्थ के दो विभाग हैं—दो अध्याय हैं। आचारपक्ष की स्थापना मीमांसासूत्र का विषय है। परन्तु वेदान्तसूत्र का प्रयोजन विचार पक्ष की सिद्धि है। सांख्य और योग भी विचार और आचार का प्रतिनिधित्व करते हैं। सांख्य का मुख्य प्रयोजन तत्त्वनिर्णय है। योग का मुख्य ध्येय चित्तवृत्ति का निरोध है—'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः'[1]। इसी प्रकार जैन-परम्परा भी आचार और विचार के भेद से दो भागों में विभाजित की जा सकती है। यद्यपि इस प्रकार के दो भेदों का स्पष्ट उल्लेख इस परम्परा में नहीं मिलता, तथापि यह निश्चित है कि आचार और विचार रूप दोनों धाराएँ इसमें बराबर प्रवाहित होती रही हैं। आचार के नाम पर अहिंसा का जितना विकास जैन परम्परा में हुआ है, उतना भारतीय

१. पातंजल योग दर्शन १, २

परम्परा की किसी अन्य धारा में शायद ही हुआ, अथवा यों कहिए कि नहीं हुआ। यह जैन परम्परा के लिए गौरव का विषय है। विचार की दृष्टि से अनेकान्तवाद का जो समर्थन जैन दर्शन के साहित्य में मिलता है, उसका शतांश भी अन्य दर्शनों में नहीं मिलता; यद्यपि प्रायः सभी दर्शन किसी न किसी रूप में अनेकान्तवाद का समर्थन करते हैं। अनेकान्तवाद के आधार पर फलित होने वाले अन्य अनेक विषयों पर जैनाचार्यों ने प्रतिभायुक्त ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका यथावसर परिचय दिया जायगा। इतना ही नहीं अपितु कई बातें जैन दर्शन में ऐसी भी हैं, जो आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी यथार्थ हैं। यद्यपि वैज्ञानिक पद्धति से जैनाचार्य किसी प्रकार के आविष्कारात्मक प्रयोग न कर सके, किन्तु उनकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म तथा अर्थग्राही थी कि उनकी अनेक बातें आज भी विज्ञान की कसौटी पर कसी जा सकती हैं। शब्द, अणु, अन्धकारादि विषयक अनेक ऐसी मान्यताएँ हैं, जो आज की वैज्ञानिक दृष्टि से विरुद्ध नहीं हैं। यह एक अलग प्रश्न है कि वैज्ञानिक सत्य कहाँ तक ठीक हैं? तात्पर्य यह है कि जैनपरम्परा धर्म और दर्शन दोनों का मिला-जुला रूप है। दर्शन की कुछ मान्यताएँ विज्ञान की दृष्टि से भी ठीक है। आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्तवाद का प्रतिनिधित्व करने वाली जैन परम्परा धर्म और दर्शन दोनों को अपने अंक में छिपाए हुए हैं। अस्तु, धर्म की दृष्टि से वह जैन धर्म है। दर्शन की दृष्टि से वह जैन दर्शन है।

भारतीय विचार-प्रवाह की दो धाराएँ :

भारतीय संस्कृति अनेक प्रकार के विचारों का ऐतिहासिक विकास है। इस संस्कृति में न जाने कितनी धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं। अनेकता में एकता और एकता में अनेकता—यही हमारी संस्कृति की प्राचीन परम्परा है। यहाँ पर अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ बहीं। प्राचीनता और नवीनता का संघर्ष बराबर होता रहा। इस संघर्ष में नवीनता पनपती रही, किन्तु प्राचीनता सर्वथा नष्ट न हो सकी। नवीनता और प्राचीनता दोनों का ही यथोचित सम्मान होता रहा। किसी समय प्राचीनता को विशेष सम्मान मिला

तो कभी नवीनता का विशेष आदर हुआ। दोनों एक दूसरे से प्रभावित भी होते रहे, और वह प्रभाव काफी स्थायी भी होता रहा। विविधताओं के वैसे तो अनेक रूप रहे हैं, किन्तु ये सारी विविधताएँ दो रूपों में बाँटी जा सकती हैं :—एक वैदिक परम्परा और दूसरी अवैदिक परम्परा। ये दोनों परम्पराएँ क्रमशः ब्राह्मण-परम्परा और श्रमण-परम्परा के नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मण-परम्परा अधिक प्राचीन है या श्रमण-परम्परा ? इस प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर देना जरा कठिन है।

ब्राह्मण-परम्परा का प्राचीनतम उपलब्ध आधार वैदिक साहित्य है। वेदों से अधिक प्राचीन साहित्य दुनिया के किसी भी भाग में उपलब्ध नहीं है। दुनिया की कोई भी दूसरी संस्कृति इतने प्राचीन साहित्य का दावा नहीं कर सकती। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। इसी सत्य के आधार पर ब्राह्मण-संस्कृति का यह दावा है कि वह दुनिया की प्राचीनतम संस्कृति है।

दूसरी ओर श्रमण-संस्कृति के उपासक यह दावा करते हैं कि श्रमण-संस्कृति किसी भी दृष्टि से वैदिक संस्कृति से कम प्राचीन नहीं है। औपनिषदिक साहित्य, जो कि वेदों (संहिता-मंत्रभाग) के बाद का साहित्य है. श्रमण-परम्परा से पूर्णरूप से प्रभावित है। वैदिक मान्यताओं का उपनिषद् के तत्त्वज्ञान से बहुत विरोध है। जो आचार और विचार वैदिक भाग में उपलब्ध होते हैं, उनसे भिन्न आचार-विचार उपनिषदों में मिलते हैं। यह ठीक है कि उपनिषद् ब्राह्मण-परम्परा द्वारा मान्य हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे श्रमण-परम्परा के प्रभाव से सर्वथा अछूते हैं। वास्तव में उपनिषद् का निर्माण करने वाले ऋषियों ने वैदिक मान्यताओं के प्रति एक प्रकार का छिपा विद्रोह किया और उस विद्रोह के पीछे श्रमण-परम्परा का मुख्य हाथ था।

ब्राह्मण-परम्परा का यह दावा कि वह भारत की या विश्व की सबसे पुरानी सस्कृति है, ठीक नहीं। उसी प्रकार श्रमण-परम्परा की यह धारणा कि उसी के प्रभाव से उपनिषदों के ऋषियों की दृष्टि में अकस्मात् परिवर्तन हुआ, मिथ्या है। ये दोनों धारणाएँ

इसलिए मिथ्या हैं कि इनका आधार मात्र ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। कुछ सहस्र वर्षों के उपलब्ध साहित्य को देखकर, केवल उसी पर से किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँच जाना, सबसे बड़ी ऐतिहासिक भूल है। कौन धारा प्राचीन है, इसका जब हम निर्णय करते हैं, तो उसका अर्थ होता है—कौन सबसे प्राचीन है। जहाँ पर सबसे प्राचीनता का प्रश्न आता है, वहाँ पर ऐतिहासिक दृष्टि कभी सफल नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं अधूरी है। जब तक वह अपने-आपको पूर्ण न बनाये, उसका निर्णय हमेशा अधूरा रहेगा—सापेक्ष रहेगा—सीमित रहेगा। अपनी मर्यादा का उल्लंघन किए बिना उसका जो निर्णय होगा, वह सम्भवतः सत्य हो सकता है। इतिहास का आधार बाह्य सामग्री है। जितनी सामग्री उपलब्ध होगी, उतने ही परिमाण में उसका निर्णय सत्य या असत्य होगा। वर्तमान समय का इतिहास इस बात का दावा नहीं कर सकता कि उसकी सामग्री पूर्ण है, क्योंकि जहाँ पूर्णता है वहाँ मतभेद नहीं हो सकता और जहाँ मतभेद नहीं है वहाँ इतिहास स्वयं समाप्त हो जाता है। बात यह है कि जहाँ मतभेद नहीं है वहाँ सब कुछ एक है, और जहाँ सर्वस्व है वहाँ पूर्णता है—वहाँ न भूत है, न वर्तमान है, न भविष्य है।

सत्य यह है कि अपने-आप में दोनों विचारधाराएँ अनादि हैं। न तो ब्राह्मण-परम्परा अधिक प्राचीन है और न श्रमण-परम्परा। दोनों सदैव साथ-साथ चली हैं और साथ-साथ चलती रहेंगी। ये दोनों परम्पराएँ ऐतिहासिक परम्पराएँ नहीं हैं, अपितु मानव-जीवन की दो धाराएँ हैं। इन दोनों धाराओं का आधार दो सम्प्रदाय-विशेष नहीं हैं, अपितु सम्पूर्ण मानवजाति है। मानव स्वयं इन दो धाराओं का स्रोत है। दूसरे शब्दों में ये दोनों धाराएँ मनोवैज्ञानिक सत्य पर अवलम्बित हैं। मानव का स्वाभाविक प्रवाह ही ऐसा है कि वह इन दोनों धाराओं में प्रवाहित होता है। कभी वह एक धारा को अधिक महत्त्व देता है तो कभी दूसरी को। सत्तारूप से दोनों धाराएँ उसमें हमेशा मौजूद रहती हैं। जब तक कि वह मानवता के स्तर पर रहता है, उससे सर्वथा ऊपर नहीं

उठ जाता अथवा नीचे नहीं गिर जाता, तब तक वह इन दोनों धाराओं में प्रवाहित होता ही रहता है। ब्राह्मण संस्कृति या वैदिक संस्कृति दोनों धाराओं में से एक धारा की प्रतीक है। श्रमण-संस्कृति या संत-संस्कृति दूसरी धारा पर अधिक भार देती है। एक समय ऐसा आता है जिस समय पहली धारा का मानव समाज पर अधिक प्रभाव रहता है। दूसरा समय ऐसा होता है, जब दूसरी धारा का विशेष प्रभाव होता है। यह परम्परा न कभी प्रारम्भ हुई है और न कभी समाप्त होगी। यह प्रवाह अनादि है, अनन्त है। दोनों धाराएँ इस प्रवाह में रही हैं, आज भी हैं और आगे भी रहेंगी। उन पर न काल का विशेष प्रभाव है, न विकास का ही कोई खास असर है। काल और विकास उन्हीं के दो रूप हैं।

ब्राह्मण संस्कृति :

ब्राह्मण और श्रमण परम्पराओं में उतना ही अन्तर है, जितना भोग और त्याग, हिंसा और अहिंसा, शोषण और पोषण, अन्धकार और प्रकाश में अन्तर है। एक धारा मानव-जीवन के बाह्य स्वार्थ का पोषण करती है तो दूसरी धारा मनुष्य के आत्मिक विकास को बल प्रदान करती है। एक का आधार वैषम्य है तो दूसरी का आधार साम्य है। इस प्रकार ब्राह्मण और श्रमण परम्परा का वैषम्य एवं साम्यमूलक इतना अधिक विरोध है कि महाभाष्यकार पतंजलि ने अहि-नकुल एवं गो-व्याघ्र जैसे शाश्वत विरोध वाले उदाहरणों में ब्राह्मण-श्रमण को भी स्थान दिया। जिस प्रकार अहि और नकुल, गौ और व्याघ्र में जन्मजात विरोध है, ठीक उसी प्रकार ब्राह्मण और श्रमण में स्वाभाविक विरोध है।[1] आचार्य हेमचन्द्र भी अपने ग्रन्थ में इसी बात का समर्थन करते हैं।[2] इन उदाहरणों को उपस्थित करने का अर्थ यह नहीं कि ब्राह्मण और श्रमण, समाज में एक साथ नहीं रह सकते। इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि जीवन के ये दो पक्ष एक दूसरे के विरोधी हैं।

१—महाभाष्य २, ४, ६

२—सिद्धहैम ३, १. १४१

जीवन की ये दो वृत्तियाँ विरोधी आचार और विचार को प्रकट करती हैं। ये दोनों धाराएँ मानव-जीवन के भीतर रही हुई दो भिन्न स्वभाव-वाली वृत्तियों की प्रतीक मात्र हैं।

ब्राह्मण परम्परा का उपलब्ध मान्य साहित्य वेद है। वेद से हमारा अभिप्राय उस भाग से है, जो संहिता-मंत्रप्रधान है। यह परम्परा मूल में 'ब्रह्मन्' के आसपास शुरू और विकसित हुई है, ऐसा प्रतीत होता है। 'ब्रह्मन्' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ पर हम केवल दो अर्थों को समझने का प्रयत्न करेंगे। पहला स्तुति या प्रार्थना और दूसरा यज्ञयागादि कर्म। वैदिक मन्त्रों और सूक्तों की सहायता से जो नाना प्रकार की प्रार्थनाएँ एवं स्तुतियाँ की जाती हैं, वह 'ब्रह्मन्' कहलाता है। वैदिक मन्त्रों द्वारा होने वाला यज्ञ-यागादि कर्म भी 'ब्रह्मन्' कहलाता है। इसका प्रमाण यह है कि उन मन्त्रों एवं सूत्रों का पाठ करने वाला एवं यज्ञयागादि कर्म कराने वाला पुरोहितवर्ग 'ब्राह्मण' वर्ग कहलाता है।

इस परम्परा के लिए 'शर्मन्' शब्द का प्रयोग भी होता है। यह 'शृ' धातु से बनता है, जिसका अर्थ होता है—हिंसा करना। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'शर्मन्' का अर्थ हिंसा करने वाला तो ठीक है, किन्तु किसकी हिंसा ? इस प्रश्न का उत्तर–'शृणाति अशुभम्' अर्थात् जो अशुभ की हिंसा करे वह 'शर्मन्' इस व्युत्पत्ति से मिलता है। जहाँ तक अशुभ की हिंसा का प्रश्न है वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु अशुभ क्या है, इस प्रश्न का जहाँ तक सम्बन्ध है, वैदिक परम्परा में मनुष्य के बाह्य स्वार्थ में बाधक प्रत्येक चीज अशुभ हो जाती है। याज्ञिक हिंसा का समर्थन इसी आधार पर हुआ है। "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" कह कर "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" का नारा लगाने का आधार मनुष्य का भौतिक स्वार्थ ही है। यज्ञ का अर्थ उत्सर्ग या त्याग है, यह ठीक है, किन्तु किसका उत्सर्ग ? यहाँ पर फिर वैदिक परम्परा वही आदर्श सामने रखती है। त्याग और उत्सर्ग के नाम पर दूसरे प्राणियों को सामने रख देती है और भोग और आनन्द के नाम पर मनुष्य स्वयं सामने आ धमकता है। अपने सुख के लिए दूसरे की आहुति देना, यही इस परम्परा का आदर्श

रहा है। यह आदर्श मनुष्य की स्वार्थ-पूर्ति का सबसे बड़ा आधार है। यह आधार कृत्रिम नहीं, अपितु स्वाभाविक है। इसी का नाम मात्स्य-न्याय-मत्स्य-गलागल (Logic of fish) है। संसार की गतिविधि में इस न्याय का सबसे अधिक भाग है—सबसे बड़ा हाथ है। हमारी साधारण प्रवृत्तियों का यही आधार है। हमारी यही वृत्ति वर्ग-संघर्ष को उत्पन्न करती है। इसी वृत्ति के कारण समाज में वैषम्य पैदा होता है। यही भावना उच्च और नीच, छोटा और बड़ा, श्रेष्ठ और निकृष्ट, स्पृश्य और अस्पृश्य, सेवक और स्वामी, शोषक और शोषित वर्गों के प्रति उत्तरदायी है।

श्रमण संस्कृति :

यह धारा मानव के उन गुणों का प्रतिनिधित्व करती है, जो उसके वैयक्तिक स्वार्थ से भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में श्रमण-परम्परा साम्य पर प्रतिष्ठित है। यह साम्य मुख्य रूप से तीन बातों में देखा जा सकता है:—(१) समाज विषयक (२) साध्य विषयक (३) प्राणी जगत् के प्रति दृष्टि विषयक[1]। समाज-विषयक साम्य का अर्थ है—समाज में किसी एक वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व या कनिष्ठत्व न मान कर गुणकृत एवं कर्मकृत श्रेष्ठत्व या कनिष्ठत्व मानना। श्रमण-संस्कृति, समाज-रचना एवं धर्म-विषयक अधिकार की दृष्टि से जन्मसिद्ध वर्ण और लिंगभेद को महत्त्व न देकर व्यक्ति द्वारा समाचरित कर्म और गुण के आधार पर ही समाज-रचना करती है। उसकी दृष्टि में जन्म का उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि पुरुषार्थ और गुण का। मानव-समाज का सही आधार व्यक्ति का प्रयत्न एवं कर्म है, न कि जन्मसिद्ध तथाकथित श्रेष्ठत्व। केवल जन्म से कोई[2] श्रेष्ठ या हीन नहीं होता। हीनता और श्रेष्ठता का वास्तविक आधार स्वकृत कर्म है। साध्य विषयक साम्य का अर्थ है, अभ्युदय का एक सरीखा रूप। श्रमण-संस्कृति का साध्य-विषयक आदर्श वह अवस्था है, जहाँ किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। वह एक

१—जैन धर्म का प्राण, पृ० १

२—भगवती सूत्र, ६, ६, ३८३

ऐसा आदर्श है—जहाँ ऐहिक एवं पारलौकिक सभी स्वार्थों का अन्त हो जाता है। वहाँ न इस लोक के स्वार्थ सताते हैं, न परलोक का प्रलोभन व्याकुलता उत्पन्न करता है। वह ऐसी साम्यावस्था है, जहाँ कोई किसी से कम योग्य अथवा अधिक योग्य नहीं रहने पाता। वह अवस्था योग्यता और अयोग्यता, अधिकता और न्यूनता, हीनता और श्रेष्ठता—सभी से परे है।

जहाँ विषमता मूलतः नष्ट हो जाती है वहाँ भेदभाव का कोई अर्थ नहीं। प्राणी-जगत् के प्रति दृष्टिविषयक साम्य का अर्थ है—जीव जगत् के प्रति पूर्ण साम्य। ऐसी समता कि जिसमें न केवल मानवसमाज या पशु-पक्षीसमाज ही समाविष्ट हो, अपितु वनस्पति-जैसे अत्यन्त सूक्ष्म जीवसमूह का भी समावेश हो। यह दृष्टि विश्व-प्रेम की अद्भुत दृष्टि है। विश्व का प्रत्येक प्राणी चाहे वह मानव हो या पशु, पक्षी हो या कीट, वनस्पति हो या अन्य क्षुद्र जीव—सब आत्मवत् हैं। किसी भी प्राणी का वध करना अथवा उसे कष्ट पहुँचाना, आत्मवध व आत्मपीड़ा के समान है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भूमिका पर प्रतिष्ठित यह साम्यदृष्टि श्रमण-परम्परा का प्राण है। सामान्य जीवन को ही अपना चरम लक्ष्य मानने वाला साधारण व्यक्ति इस भूमिका पर नहीं पहुँच सकता। यह भूमिका स्व और पर के अभेद की पृष्ठभूमि है। यही पृष्ठभूमि श्रमण-संस्कृति का सर्वस्व है।

श्रमण-परम्परा की अनेक शाखाएँ रही हैं और आज भी मौजूद हैं। जैन, बौद्ध, चार्वाक, आजीवक आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जैन और बौद्ध परम्पराएँ तो स्पष्ट रूप से श्रमण संस्कृति की शाखाएँ हैं। चार्वाक और आजीवक भी इसी परम्परा की शाखाएँ हैं, किन्तु दुर्भाग्य से आज उनका मौलिक साहित्य उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि निश्चित रूप से इनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसा होते हुए भी इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि ये दोनों परम्पराएँ वैदिक परम्परा की विरोधी रही हैं। इन परम्पराओं ने भी वैदिक परम्परा से लोहा लेने

में कोई कमी न रखी। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक परम्पराएँ भी श्रमण संस्कृति को आधार बनाकर प्रचलित हुईं जिनमें से कुछ वैदिक परम्परा के प्रभाव से प्रभावित हो उसमें समा गईं। वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का इतिहास इस मत की बहुत कुछ पुष्टि करता है। कुछ लोग सांख्य सम्प्रदाय के विषय में भी यही धारणा रखते हैं। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि श्रमण संस्कृति की दो मुख्य शाखाएँ आज भी जीवित हैं और वे हैं जैन और बौद्ध। ये परम्पराएँ आज भी खुले तौर पर यह कहती हैं कि हम अवैदिक हैं।

जैन और बौद्ध, दोनों परम्पराएँ वेदों को प्रमाण नहीं मानतीं। वे यह भी नहीं मानतीं कि वेद का कर्ता ईश्वर है अथवा वेद अपौरुषेय है। ब्राह्मण वर्ग का जाति की दृष्टि से या पुरोहित के नाते गुरुपद भी स्वीकार नहीं करतीं। उनके अपने-अपने ग्रन्थ हैं, जो निर्दोष आप्त व्यक्ति की रचनाएँ हैं। उनके लिए वे ही ग्रंथ प्रमाणभूत हैं। जाति की अपेक्षा व्यक्ति की पूजा करना दोनों को मान्य, है और उस व्यक्ति-पूजा का आधार है गुण और कर्म। दोनों परम्पराओं के साधक और त्यागी वर्ग के लिए श्रमण, भिक्षु, अनगार, यति, साधु, परिव्राजक, अर्हत्, जिन आदि शब्दों का प्रयोग होता रहा है। एक 'निर्ग्रन्थ' शब्द ऐसा है, जिसका प्रयोग जैन-परम्परा के साधकों के लिए ही हुआ है। यह शब्द जैन ग्रन्थों में 'निग्गंथ' और बौद्ध ग्रन्थों में 'निग्गंठ' के नाम से मिलता है। इसीलिए जैनशास्त्र को 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' भी कहा गया है। यह 'निग्गंथ पावयण' का संस्कृत रूप है।

'श्रमण' शब्द का अर्थ :

श्रमण-परम्परा के लिए प्राकृत साहित्य में 'समण' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन-सूत्रों में जगह-जगह 'समण' शब्द आता है, जिसका अर्थ होता है साधु। उक्त 'समण' शब्द के तीन रूप हो सकते हैं :—श्रमण, समन और शमन। श्रमण शब्द 'श्रम्' धातु से बनता है। 'श्रम्' का अर्थ होता है—परिश्रम करना।

तपस्या का दूसरा नाम परिश्रम भी है।[1] जो व्यक्ति अपने ही श्रम से उत्कर्ष की प्राप्ति करते हैं, वे श्रमण कहलाते हैं। समन का अर्थ होता है समानता। जो व्यक्ति प्राणी मात्र के प्रति समभाव रखता है, विषमता से हमेशा दूर रहता है, जिसका जीवन विश्व-प्रेम और विश्वबन्धुत्व का प्रतीक होता है, जिसके लिए स्व-पर का भेद-भाव नहीं होता, जो प्रत्येक प्राणी से उसी भाँति प्रेम करता है जिस प्रकार खुद से प्रेम करता है, उसका किसी के प्रति द्वेष नहीं होता और न किसी के प्रति उसका राग ही होता है, वह राग और द्वेष की तुच्छ भावना से ऊपर उठकर सबको एक दृष्टि से देखता है। उसका विश्व-प्रेम घृणा और आसक्ति की छाया से सर्वथा अछूता रहता है। वह सबसे प्रेम करता है किन्तु उसका प्रेम राग की कोटि में नहीं आता। वह प्रेम एक विलक्षण प्रकार का प्रेम होता है, जो राग और द्वेष दोनों की सीमा से परे होता है। राग और द्वेष साथ-साथ चलते हैं, किन्तु प्रेम अकेला ही चलता है।

शमन का अर्थ है—शान्त करना। जो व्यक्ति अपनी वृत्तियों को शान्त करने का प्रयत्न करता है, अपनी वासनाओं का दमन करने की कोशिश करता है और अपने इस प्रयत्न में बहुत कुछ सफल होता है वह श्रमण-संकृति का सच्चा अनुयायी है। हमारी ऐसी वृत्तियाँ, जो उत्थान के स्थान पर पतन करती हैं, शान्ति की बजाय अशान्ति उत्पन्न करती हैं, उत्कर्ष की जगह अपकर्ष लाती हैं वे जीवन को कभी सफल नहीं होने देतीं। ऐसी अकुशल वृत्तियों को शान्त करने से ही सच्चे लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार की कुवृत्तियों को शान्त करने से ही आध्यात्मिक विकास हो सकता है। श्रमण संस्कृति के मूल में श्रम, सम और शम, ये तीनों तत्त्व विद्यमान हैं। यही 'श्रमण' शब्द का रहस्य है।

जैन-परम्परा का महत्त्व :

श्रमण संस्कृति की अनेक धाराओं में जैन-परम्परा का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह हम देख चुके हैं कि श्रमण संस्कृति की दो मुख्य धाराएँ आज भी जीवित हैं। उनमें से बौद्ध परम्परा का

१—'श्राम्यन्तीति श्रमणा : तपस्यन्तीत्यर्थः' दशवैकालिकवृत्ति १, ३

भारतीय जीवन से विशेष सम्बन्ध नहीं रह गया है। यद्यपि उसका थोड़ा बहुत प्रभाव किसी न किसी रूप में आज भी मौजूद है और आगे भी रहेगा, किन्तु भारतीय जीवन के निर्माण और परिवर्तन में जैन-परम्परा का जो हाथ अतीत में रहा है, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा, वह कुछ विलक्षण है। यद्यपि आज की प्रचलित जैन विचारधारा, भारत के बाहर अपना प्रभाव न जमा सकी, किन्तु भारतीय विचारधारा और आचार को बदलने में इसने जो महत्त्वपूर्ण काम किया है, वह इस देश के जन-जीवन के इतिहास में बहुत समय तक अमर रहेगा।

जैन-परम्परा और बौद्ध-परम्परा श्रमण-संस्कृति के अन्तर्गत हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जैन-परम्परा और बौद्ध-परम्परा दोनों एक हैं। जैन-परम्परा जैन-परम्परा है और बौद्ध-परम्परा बौद्ध-परम्परा है। श्रमण-परम्परा दोनों में प्रवाहित होने वाली एक सामान्य परम्परा है। श्रमण-परम्परा की दृष्टि से दोनों एक हैं, किन्तु परस्पर की अपेक्षा से दोनों भिन्न हैं। बुद्ध और महावीर दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। बुद्ध की परम्परा आज बौद्ध-धारा के नाम से प्रसिद्ध है और महावीर की परम्परा जैन-धारा के नाम से प्रसिद्ध है। यह बात हम भारतीयों के लिए विवाद से परे है। हमलोग इन दोनों परम्पराओं को भिन्न परम्पराओं के रूप में देखते आए हैं। इसके विरुद्ध कुछ विदेशी विद्वान् यहाँ तक लिखने लग गये थे कि बुद्ध और महावीर एक ही व्यक्ति हैं, क्योंकि जैन और बौद्ध परम्परा की मान्यताओं में बहुत भारी समानता है। प्रो० लासेन आदि की इस मान्यता का खंडन करते हुए प्रो० वेबर ने यह खोज की कि जैनधर्म बौद्धधर्म की एक शाखा-मात्र है। प्रो० याकोबी ने इन दोनों मान्यताओं का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया कि जैन और बौद्ध दोनों सम्प्रदाय स्वतन्त्र हैं। इतना ही नहीं, अपितु जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय से भी प्राचीन है। ज्ञातृपुत्र महावीर तो उस सम्प्रदाय के अन्तिम तीर्थंकर मात्र हैं।[1] इस प्रकार जैन-परम्परा का स्वतन्त्र

१—Sacred Books of the East, Vol. 22, Introduction, पृ० १८-१९

अस्तित्व स्वीकार करने में अब किसी को आपत्ति नहीं रही है। इतना ही नहीं अपितु ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर तो यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि बौद्ध-परम्परा पर जैन-परम्परा का पूरा प्रभाव है। कुछ भी हो, जैन-परम्परा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, यह निर्विवाद सत्य है। इस परम्परा का भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रभाव है। आचार और विचार दोनों पर इसकी अमिट छाप है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि जैन परम्परा के आचार और विचार की भित्ति क्या है। जैन-परम्परा द्वारा मान्य आचार और विचार के मौलिक सिद्धान्त क्या हैं। किन सिद्धान्तों पर जैनाचार और जैन विचार खड़े हैं ?

जैनाचार की मूलभित्ति अहिंसा है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन जैन-परम्परा में मिलता है उतना शायद ही किसी अन्य परम्परा में हो। प्रत्येक आत्मा, चाहे वह पृथ्वी-सम्बन्धी हो, चाहे वह जलगत हो, चाहे उसका आश्रय कीट अथवा पतंग हो, चाहे वह पशु और पक्षी में रहती हो, चाहे उसका निवासस्थान मानव हो—तात्त्विक दृष्टि से उसमें कोई भेद नहीं है। जैनदृष्टि का यह साम्यवाद भारतीय संस्कृति के लिए गौरव की चीज है। इसी साम्यवाद के आधार पर जैन-परम्परा यह घोषणा करती है कि सभी जीव जीना चाहते हैं। कोई वास्तव में मरने की इच्छा नहीं करता। इसलिए हमारा यह कर्तव्य है कि हम मन से भी किसी का वध करना न सोचें।[1] शरीर से किसी की हत्या कर देना तो पाप है ही, किन्तु मन से तद्विषयक संकल्प करना, यह भी पाप है। मन, वचन और काया से किसी जीव को सन्ताप न पहुँचाना, उसका वध न करना, उसे पीड़ा न पहुँचाना—यही सच्ची अहिंसा है।[2] वनस्पति से लेकर मानव तक की अहिंसा की यह कहानी जैन परम्परा की विशिष्ट देन है। विचारों में एक आत्मा—एक ब्रह्म का आदर्श अन्यत्र भी मिल सकता है किन्तु आचार पर जितना भार जैन परम्परा ने दिया है उतना अन्यत्र नहीं मिल सकता। आचार-विषयक अहिंसा का यह उत्कर्ष

१—आचारांग सूत्र—१, १, ६
२—आचारांग सूत्र १, ४, १

जैन-परम्परा की अपनी देन है, जो आज भी अधिकांश भारतीय जनता के जीवन में विद्यमान है। जैन-परम्परा के अनुयायी तो इससे पूरे-पूरे प्रभावित हैं ही, इसमें कोई संशय नहीं।

अहिंसा को केन्द्र मानकर अमृषावाद, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह का आदर्श सामने रखा गया। यथाशक्ति जीवन को स्वावलम्बी, सादा और सरल बनाने के लिए ही श्रमण-परम्परा ने इन सब बातों को अधिक महत्त्व दिया। असत्य का त्याग, अनधिकृत वस्तु का अग्रहण और संयम का परिपालन अहिंसा की पूर्ण साधना के लिए आवश्यक हैं। साथ-ही साथ अपरिग्रह का जो आदर्श है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परिग्रह के साथ आत्मविकास की घोर शत्रुता है। जहाँ परिग्रह रहता है वहाँ आत्मविकास नहीं रह सकता। परिग्रह मनुष्य के आत्मपतन का बहुत बड़ा कारण है। दूसरे शब्दों में परिग्रह पाप का बहुत बड़ा संग्रह है। जितना अधिक परिग्रह बढ़ता जाता है उतना ही अधिक पाप बढ़ता जाता है। मानव-समाज में वैषम्य उत्पन्न करने का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व परिग्रह-बुद्धि पर है। परिग्रह का दूसरा नाम ग्रन्थि भी है। जितनी अधिक गाँठ बाँधी जाती है उतना ही अधिक परिग्रह बढ़ता है। किसी की गाँठ मन तक ही सीमित रहती है तो कोई बाह्य वस्तुओं की गाँठें बाँधता है। यह गाँठ जब तक नहीं खुलती तब तक विकास का द्वार बन्द रहता है। महावीर ने ग्रन्थिभेदन पर बहुत अधिक भार दिया। इसीलिए उनका नाम निर्ग्रन्थ पड़ गया और उनकी परम्परा भी निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई। जैन-परम्परा को छोड़ अन्य किसी परम्परा को यह नाम नहीं दिया गया। अपरिग्रह का मार्ग विश्वशान्ति का प्रशस्त मार्ग है। इस मार्ग का उल्लंघन करने वाला संसार को स्थायी शान्ति नहीं दे सकता। वह स्वयं पतनोन्मुख होता है, साथ ही साथ अन्य प्राणियों को भी अपदस्थ करता है—नीचे गिराता है। स्वाधीनता की रक्षा के लिए अपरिग्रह अत्यन्त आवश्यक है।

आचार की इस भूमिका पर कर्मवाद का जन्म हो
वाद का अर्थ है कार्य-कारणवाद। प्रत्येक

कारण होता है और प्रत्येक कारण किसी न किसी कार्य को उत्पन्न करता ही है। यह कारण और कार्य का पारस्परिक सम्बन्ध ही जगत् की विविधता और विचित्रता को भूमिका है। हमारा कोई कर्म व्यर्थ नहीं जाता। हमें किसी भी प्रकार का फल बिना कर्म के नहीं मिलता। कर्म और फल का यह अविच्छेद्य सम्बन्ध ही आचारशास्त्र को नींव है। यह एक अलग प्रश्न है कि व्यक्ति के कर्मों का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है और समाज के कर्म व्यक्ति के जीवन-निर्माण में कितने अंश में उत्तरदायी हैं? इतना निश्चित है कि बिना कर्म के किसी प्रकार का फल नहीं मिल सकता। बिना कारण के कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। कर्मवाद का अर्थ यही है कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार होता है और भविष्य का निर्माण वर्तमान के आधार पर। व्यक्ति अपनी मर्यादा के अनुसार वर्तमान और भविष्य को परिवर्तित कर सकता है, किन्तु यह परिवर्तन भी कर्मवाद का ही अंग है। जैन-परम्परा नियतिवाद (Determinism) में विश्वास न करके इच्छा-स्वातन्त्र्य (Freedom of will) को महत्त्व देती है किन्तु अमुक सीमा तक। प्राणी की राग-द्वेषात्मक भावनाओं को जैनदर्शन में भावकर्म कहा गया है, उक्त भावकर्म के द्वारा आकृष्ट सूक्ष्म भौतिक परमाणु द्रव्यकर्म है। इस प्रकार जैनदर्शन का कर्मवाद चैतन्य और जड़ के सम्मिश्रण द्वारा अनादिकालीन परम्परा से विधिवत् अग्रसर होती हुई एक प्रकार की द्वन्द्वात्मक आन्तरिक क्रिया है। इस क्रिया के आधार पर ही पुनर्जन्म का विचार किया जाता है। इस क्रिया की समाप्ति ही मोक्ष है। जैनदर्शन-प्रतिपादित चौदह गुणस्थान इसी क्रिया का क्रमिक विकास है, जो अन्त में आत्मा के असली रूप में परिणत हो जाता है। आत्मा का अपने स्वरूप में वास करना, यही जैनदर्शन का परमेश्वर-पद है। प्रत्येक आत्मा के भीतर यह पद प्रतिष्ठित है। आवश्यकता है उसे पहचानने की। 'जे अप्पा से परमप्पा' अर्थात् 'जो आत्मा है वही परमात्मा है'—जैन परम्परा की यह घोषणा साम्य-

दृष्टि का अन्तिम स्वरूप है, समभाव का अन्तिम विकास है, समानता का अन्तिम दावा है।

विचार में साम्यदृष्टि की भावना पर जो जोर दिया गया है उसी में से अनेकान्त दृष्टि का जन्म हुआ है। अनेकान्त दृष्टि तत्त्व को चारों ओर से देखती है। तत्त्व का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अनेक प्रकार से जाना जा सकता है। वस्तु के अनेक धर्म होते हैं। किसी समय किसी की दृष्टि किसी एक धर्म पर भार देती है तो किसी समय दूसरे की दृष्टि किसी दूसरे धर्म पर जोर देती है। तत्त्व की दृष्टि से उस वस्तु में सारे धर्म हैं। इसीलिए वस्तु को अनेक धर्मात्मक कहा गया है। अपेक्षा-भेद से दृष्टिभेद का प्रतिपादन करना और उस दृष्टिभेद को वस्तु धर्म का एक अंश समझना, यही अनेकान्तवाद है। अपेक्षाभेद को दृष्टि में रखते हुए अनन्त-धर्मात्मक तत्त्व का प्रतिपादन 'स्याद्' शब्द द्वारा हो सकता है, अतः अनेकान्तवाद का नाम स्याद्वाद भी है। स्याद्वाद का यह सिद्धान्त जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में भी मिलता है। मीमांसा, सांख्य और न्यायदर्शन में यत्र-तत्र अनेकान्तवाद बिखरा हुआ मिलता है। बुद्ध का विभज्यवाद स्याद्वाद का ही निषेधात्मक रूपान्तर है। इतना होते हुए भी किसी दर्शन ने स्याद्वाद को सिद्धान्तरूप से स्वीकृत नहीं किया। अपने पक्ष की सिद्धि के लिए उन्हें यत्रतत्र स्याद्वाद का आश्रय अवश्य लेना पड़ा; परन्तु उन्होंने जानबूझ कर उसे अपनाया हो ऐसी बात नहीं है। जैन परम्परा ने जैसे अहिंसा पर अधिक भार दिया है वैसे ही अनेकान्तवाद पर भी अत्यधिक भार दिया है। दूसरे शब्दों में अनेकान्तवाद जैन-दर्शन का प्राण है। जैन-परम्परा का प्रत्येक आचार और विचार अनेकान्त-दृष्टि से प्रभावित है। जैन-विचारधारा का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, जिस पर अनेकान्त-दृष्टि की छाप न हो। जैन-दार्शनिकों ने इस विषय पर एक नहीं, अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। अनेकान्त-दृष्टि के आधार पर ही नयवाद का विकास हुआ है। स्याद्वाद और नयवाद जैन परम्परा की अमूल्य सम्पत्ति है। जैन दार्शनिक साहित्य के मुख्य आधार अनेकान्त दृष्टि की भूमि में उत्पन्न होने वाले एवं बढ़ने वाले स्या-

द्वाद और नयवाद हैं। आगमिक साहित्य से लेकर आज तक का साहित्य स्याद्वाद और नयवाद के मौलिक सिद्धान्तों से भरा हुआ है। जैन विद्वानों का यह दृष्टिकोण विश्व की दार्शनिक परम्परा में अद्वितीय है।

जैनदर्शन का आधार :

जैन दर्शन पर आज जो साहित्य उपलब्ध है, उसे मोटे तौर पर पाँच भागों में बाँटा जा सकता है। यह साहित्य महावीर से लगाकर आज तक के विकास को हमारे सामने उपस्थित करता है। विकास का क्रम इस प्रकार है :—(१) आगमयुग, (२) अनेकान्त-स्थापनयुग, (३) प्रमाणशास्त्र-व्यवस्थायुग (४) नवीनन्याय[1]युग, (५) आधुनिक युग—सम्पादन एवं अनुसंधान।

आगमयुग :

इस युग की काल-मर्यादा महावीर के निर्वाण अर्थात् वि० पू० ४७० से प्रारम्भ होकर प्रायः एक हजार वर्ष तक जाती है। महावीर के विचारों का सार उनके गणधरों ने शब्दबद्ध किया। स्वयं महावीर ने कुछ नहीं लिखा। जैनागम तीर्थंकरप्रणीत[2] कहे जाते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि अर्थरूप से तीर्थंकर प्रणेता है और ग्रन्थरूप से गणधर। आगमों का प्रामाण्य गणधर-कृत होने से नहीं, अपितु तीर्थङ्कर को वीतरागता एवं सर्वज्ञत्व के कारण है। गणधरों के अतिरिक्त अन्य स्थविर भी आगम-रचना करते हैं।[3] स्थविर-कृत आगम 'अंगबाह्य' कहलाते हैं और गणधरकृत आगम 'अंगप्रविष्ट' कहलाते हैं। तीर्थङ्कर के मुख्य शिष्य गणधर कहलाते हैं। अन्य प्रकार के श्रमण, जो या तो सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी होते हैं या दशपूर्व-धर, वे स्थविर कहलाते हैं। गणधर और स्थविर दोनों के ग्रन्थों का आधार तीर्थङ्कर-प्रणीत तत्त्वज्ञान ही होता है। इसीलिए उनकी

१—जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन, पृ० १

२—नन्दीसूत्र, ४०

३—विशेषावश्यक भाष्य, गा० ५५०

रचनाएँ प्रमाणभूत मानी जाती हैं। दूसरी बात यह है कि चतुर्दशपूर्वधर (पूर्ण श्रुतज्ञानी) और दशपूर्वधर वे ही साधक हो सकते हैं, जो नियमतः सम्यग्दृष्टि होते हैं। अतः उनके ग्रन्थ मूल आगम से विरुद्ध नहीं हो सकते। इस प्रकार गणधरकृत एवं स्थविरकृत दोनों प्रकार के आगमों का प्रामाण्य स्वीकृत किया गया है।

आज आगमों के जो संस्करण उपलब्ध हैं, वे अपने प्रस्तुत रूप में देवर्धिगणि क्षमा-श्रमण के समय के हैं। कालक्रम से स्मृति का लोप होते हुए देखकर महावीर के निर्वाण से लगभग ९६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र में लम्बे काल के दुर्भिक्ष के बाद जैन-श्रमणसंघ एकत्रित हुआ। एकत्रित हुए श्रमणों ने परस्पर पूछ कर ११ अंग व्यवस्थित किए। बारहवें अंग दृष्टिवाद का कुछ कारणों से संग्रह न हो सका। यह प्रथम वाचना है।

दूसरी वाचना मथुरा में हुई। बारह वर्ष के दुष्काल के कारण ग्रहण-गुणन-अनुप्रेक्षा के अभाव में सूत्र नष्ट होने लगे। आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में मथुरा में साधुसंघ एकत्रित हुआ। जिसको जो याद रह सका उसके आधार पर श्रुत पुनः व्यवस्थित कर लिया गया। इस वाचना का काल सम्भवतः वीर निर्वाण संवत् ८२७ से ८४० तक के बीच का है।

लगभग इसी समय वल्लभी में भी नागार्जुन सूरि ने श्रमणसंघ को एकत्रित करके आगमों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया था।

लगभग डेढ़ सौ वर्ष के उपरान्त पुनः वल्लभीनगर में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमणसंघ एकत्रित हुआ। इस समय पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय एकत्रित किए गए सिद्धान्तों के उपरान्त जो जो ग्रन्थ-प्रकरण मौजूद थे उन सबको भी लिखा कर सुरक्षित करने का निश्चय किया गया तथा दोनों वाचनाओं के सिद्धान्तों का परस्पर समन्वय किया गया। वर्तमान में जो आगम-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनका अन्तिम स्वरूप इसी समय स्थिर हुआ था।

आगमों का वर्गीकरण :

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगमों का उल्लेख हो चुका है। १२ अंग अंगप्रविष्ट हैं और शेष ग्रन्थ अंगबाह्य। इसके अतिरिक्त निम्न वर्गीकरण विशेष प्रसिद्ध है :—

(१) अंग :

१–आचार, २–सूत्रकृत, ३–स्थान, ४–समवाय, ५–उपासक दशा, ६–भगवती, ७–ज्ञातृधर्मकथा, ८–अन्तकृद्दशा, ९–अनुत्तरौपपातिक दशा, १०–प्रश्नव्याकरण, ११–विपाक, और १२–दृष्टिवाद (जो उपलब्ध नहीं है)

(२) उपांग :

१–औपपातिक, २–राजप्रश्नीय, ३–जीवाभिगम, ४–प्रज्ञापना, ५–सूर्यप्रज्ञप्ति, ६—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ७–चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८–कल्पिका, ९–कल्पावतंशिका, १०–पुष्पिका, ११–पुष्पचूलिका, १२–वृष्णिदशा।

(३) मूल :

१—आवश्यक, २–दशवैकालिक, ३–उत्तराध्ययन, ४–पिण्डनिर्युक्ति अथवा ओघनिर्युक्ति।

(४) चूलिका सूत्र :

१–नन्दी सूत्र, २–अनुयोगद्वार सूत्र।

(५) छेद सूत्र :

१–निशीथ, २–महानिशीथ, ३–बृहत्कल्प, ४–व्यवहार, ५–दशाश्रुतस्कन्ध, ६–पंचकल्प।

(६) प्रकीर्णक :

१–चतुःशरण, २–आतुरप्रत्याख्यान, ३–भक्तपरिज्ञा, ४–संस्तारक, ५–तन्दुलवैचारिक, ६–चन्द्रवेध्यक, ७–देवेन्द्रस्तव, ८–गणिविद्या, ९–महाप्रत्याख्यान, १०–वीरस्तव।

उपरोक्त ग्रन्थ जैन परम्परा की बहुत बड़ी निधि हैं। इनकी भाषा प्राकृत है। कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जिनके कर्त्ता का नाम मिलता है। उदाहरण के लिए दशवैकालिक के कर्त्ता शय्यंभवाचार्य हैं, प्रज्ञापना श्यामा-

चार्यकृत है। दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार के कर्त्ता भद्रबाहु स्वामी हैं। ज्ञान की प्रायः सभी शाखाएँ उपर्युक्त सूत्रों में आ जाती हैं। कुछ सूत्रों का सम्बन्ध जैन आचार से है जैसे आचारांग, दशवैकालिक आदि। कुछ उपदेशात्मक हैं—जैसे उत्तराध्ययन, प्रकीर्णक आदि। कुछ सूत्र तत्कालीन भूगोल और खगोल पर लिखे गए हैं—जैसे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि। जैन साधुओं के आचार सम्बन्धी औत्सर्गिक और आपवादिक नियमों के लिए छेदसूत्र लिखे गए। कुछ सूत्र ऐसे हैं जिनमें आदर्श चरित्र दिए गए हैं—जैसे उपासकदशा, अनुत्तरौपपातिक दशा आदि। कुछ सूत्र ऐतिहासिक और कल्पित कथाओं के संग्रह हैं—जैसे ज्ञातृधर्मकथा आदि। विपाकसूत्र शुभ और अशुभ कर्मों का कथायुक्त वर्णन है। भगवती सूत्र में महावीर के साथ हुए प्रश्नोत्तर एवं संवाद संगृहीत हैं।

सूत्रकृत, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, भगवती, नन्दी, स्थानांग, समवाय और अनुयोग मुख्य रूप से दार्शनिक विषयों की चर्चा करते हैं।

सूत्रकृतांग में तत्कालीन दार्शनिक मन्तव्यों का निराकरण किया गया है। भूताद्वैतवाद का निराकरण करके आत्मा की पृथक् सिद्धि की गई है। ब्रह्माद्वैतवाद के स्थान पर नानात्मवाद की स्थापना की गई है। कर्म और उसके फल की सिद्धि की गई है। जगदुत्पत्ति-विषयक ईश्वरवाद का खण्डन करके यह दिखाया गया है कि संसार अनादि-अनन्त है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद आदि का निराकरण करके तर्कसंगत क्रियावाद की स्थापना की गई है।

प्रज्ञापना में जीव के विविध भावों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

राजप्रश्नीय में पार्श्वनाथ की परम्परा के केशीश्रमण ने श्रावस्ती के राजा प्रदेशी द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में नास्तिकवाद का निराकरण करके आत्मा और परलोक आदि विषयों को दृष्टांत एवं युक्ति पूर्वक समझाया है।

भगवती सूत्र में नय, प्रमाण, सप्तभंगी, अनेकान्तवाद आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

नन्दीसूत्र ज्ञान के स्वरूप और उसके भेद आदि का वर्णन करने वाला एक अच्छा ग्रन्थ है।

स्थानांग में आत्मा, पुद्गल, ज्ञान आदि विषयों पर अच्छी चर्चा है। इसमें सात निह्नवों का भी वर्णन है। महावीर के सिद्धान्तों की एकांगी बातों को लेकर एकान्तवाद का प्रचार करने वाले निह्नव कहे गए हैं।

समवायांग में भी ज्ञान, नय, प्रमाण आदि विषयों पर काफी चर्चा है।

अनुयोग में शब्दार्थ की प्रक्रिया का वर्णन मुख्य है। प्रसंगवशात् प्रमाण, नय तथा तत्त्व का सुन्दर निरूपण किया गया है।

आगमों पर टीकाएँ :

उपर्युक्त आगमों की अनेक टीकाएँ मिलती हैं। कुछ टीकाएँ प्राकृत में हैं तो कुछ संस्कृत में। कुछ गद्य में लिखी गई है तो कुछ पद्य में। प्राकृत में जो टीकाएँ हुई हैं वे निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि के नाम से प्रसिद्ध हैं। निर्युक्ति और भाष्य पद्य में हैं और चूर्णि गद्य में। उपलब्ध निर्युक्तियां प्रायः भद्रबाहु (द्वितीय) की रचनाएँ हैं। उनका समय विक्रम संवत् ४००-६०० तक का है। निर्युक्तियों में कहीं-कहीं दार्शनिक विषयों पर सुन्दर विवेचन मिलता है। प्रमाण, नय, ज्ञान, आत्मा, निक्षेप आदि विषयों पर अच्छी चर्चा मिलती है।

भाष्यकारों में संघदासगणि और जिनभद्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका समय विक्रम की सातवीं शताब्दी है। विशेषावश्यक भाष्य जिनभद्र की सुन्दर कृति है। इसमें तत्त्व का व्यवस्थित एवं युक्तियुक्त विवेचन मिलता है। संघदासगणिका बृहत्कल्प भाष्य साधुओं के आहार-विहार के नियमों का दार्शनिक एवं तार्किक विवेचन है।

चूर्णियों का समय लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी है। चूर्णिकारों में जिनदास महत्तर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने नन्दी आदि अनेक सूत्रों पर चूर्णियाँ लिखी हैं। चूर्णियाँ संक्षिप्त एवं सरल हैं। कहीं-कहीं कथाओं का भी समावेश किया गया है।

संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का विशेष महत्त्व है। जैन आगमों पर प्राचीनतम संस्कृत टीका इन्हीं की है। इनका समय संवत् ७५७ से ८५७ के बीच का है। हरिभद्र ने प्राकृत चूर्णियों के आधार से ही टीका लिखी है। बीच-बीच में दार्शनिक दृष्टि का विशेष उपयोग किया है। हरिभद्र के बाद शीलांक सूरि ने संस्कृत टीकाएँ लिखीं। इनका

काल दशवीं शताब्दी है। उनके बाद प्रसिद्ध टीकाकार शान्त्याचार्य हुए। उन्होंने उत्तराध्ययन पर बृहत् टीका लिखी। इनके बाद प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेव हुए। इन्होंने नव अंगों पर टीकाएँ लिखीं। इनका समय सं० १०७२ से ११३५ तक का है। इसी समय मलधारी हेमचन्द्र भी हुए जिन्होंने विशेषावश्यक-भाष्य पर वृत्ति लिखी। आगमों पर संस्कृत टीका लिखने वालों में मलयगिरि का विशेष स्थान है। इनकी टीकाएँ दार्शनिक चर्चा के साथ-ही-साथ सुन्दर भाषा में हैं। प्रत्येक विषय पर सुस्पष्ट ढंग से लिखने में इन्हें अच्छी सफलता मिली है। ये बारहवीं शताब्दी के विद्वान् थे।

इन टीकाओं के अतिरिक्त अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन गुजराती और राजस्थानी में संक्षिप्त टीकाएँ मिलती हैं। इन्हें 'टबा' कहते हैं। टबाकारों में लोकागच्छ के आचार्य धर्मसिंह मुनि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका समय अठारहवीं शताब्दी है।

दिगम्बर आगम :

दिगम्बर परम्परा का विश्वास है कि वीरनिर्वाण के बाद श्रुत का क्रमशः ह्रास होता गया। यहाँ तक कि ६८३ वर्ष के बाद कोई अंगधर या पूर्वधर आचार्य रहा ही नहीं। हाँ, अंग और पूर्व के अंशमात्र के ज्ञाता कुछ आचार्य अवश्य हुए हैं। अंग और पूर्व के अंशधर आचार्यों की परम्परा में होने वाले पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों ने 'षट्खण्डागम' की रचना दूसरे अग्राह्यणीय पूर्व के अंश के आधार से की और आचार्य गुणधर ने पाँचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद के अंश के आधार से 'कषायपाहुड' की रचना की।[1]

इस प्रकार ऊपर लिखे गए आगम और उनकी टीकाएँ श्वेताम्बर परम्परा को ही मान्य हैं। दिगम्बर परम्परा के मतानुसार प्राचीन आगम लुप्त हो गए। उनके आधार से लिखे गए षट्खण्डागम, कषायपाहुड आदि ग्रन्थ आगम की ही भाँति प्रमाणभूत हैं। षट्खण्डागम और कषायपाहुड के अतिरिक्त महाबन्ध का नाम भी उल्लेखनीय है, जिसकी

१—धवला, पु० १, प्रस्ता० पृ० ७१

रचना भूतवलि आचार्य ने की है। इन तीनों ग्रन्थों का विषय जीव और कर्म से सम्बन्धित है। मूलग्रन्थों में दार्शनिक चर्चा का कोई खास स्थान नहीं है। हाँ, बाद में लिखी जाने वाली टीकाओं में खंडन-मंडन खूब मिलता है। षट्खण्डागम की रचना पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों द्वारा और कषायपाहुड की रचना आचार्य गुणधर द्वारा विक्रम की दूसरी शताब्दी के बाद हुई है और उनपर धवला और जयधवला जैसी टीकाओं की रचना वीरसेनाचार्य ने नवमी शताब्दी में की है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द-कृत ग्रन्थ आगम के समान ही प्रमाणभूत माने गये हैं। उनके ग्रन्थों में प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, अष्टपाहुड, नियमसार आदि प्रसिद्ध हैं। आत्मा, ज्ञान, सप्त-भंगी, द्रव्य, गुण आदि सभी विषयों पर कुन्दकुन्द ने अपनी कलम चलाई है। व्यावहारिक और नैश्चयिक दृष्टियों पर विशेष भार दिया है। अमृत चन्द्र आदि विद्वानों ने उनके ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। कुन्दकुन्द का समय अभी विवादास्पद है। कुछ लोग उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी मानते हैं तो कुछ पाँचवीं और छठी शताब्दी।[1]

स्थानकवासी आगमग्रन्थ :

श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा के मत से दृष्टिवाद को छोड़कर सभी अंग सुरक्षित हैं—जैसा कि श्वेताम्बर (मूर्तिपूजक) परम्परा मानती है। अंगबाह्य ग्रन्थों में बारह उपांग वे ही हैं, जो श्वेताम्बरों को मान्य हैं। इन तेईस ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ भी सुरक्षित हैं, ऐसी इस परम्परा की मान्यता है :—

४ छेद :—१—व्यवहार, २—बृहत्कल्प, ३—निशीथ, ४—दशा-श्रुतस्कन्ध।

४ मूल :— १—दशवैकालिक, २—उत्तराध्ययन, ३—नन्दी, ४—अनुयोग।

इनके अतिरिक्त एक आवश्यक सूत्र भी है।

१—जैन दार्शनिक साहित्य का इतिहास, पृ० ३०

काल दशवीं शताब्दी है। उनके बाद प्रसिद्ध टीकाकार शान्त्याचार्य हुए। उन्होंने उत्तराध्ययन पर बृहत् टीका लिखी। इनके बाद प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेव हुए। इन्होंने नव अंगों पर टीकाएँ लिखीं। इनका समय सं० १०७२ से ११३५ तक का है। इसी समय मलधारी हेमचन्द्र भी हुए जिन्होंने विशेषावश्यक-भाष्य पर वृत्ति लिखी। आगमों पर संस्कृत टीका लिखने वालों में मलयगिरि का विशेष स्थान है। इनकी टीकाएँ दार्शनिक चर्चा के साथ-ही-साथ सुन्दर भाषा में हैं। प्रत्येक विषय पर सुस्पष्ट ढंग से लिखने में इन्हें अच्छी सफलता मिली है। ये बारहवीं शताब्दी के विद्वान् थे।

इन टीकाओं के अतिरिक्त अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन गुजराती और राजस्थानी में संक्षिप्त टीकाएँ मिलती हैं। इन्हें 'टबा' कहते हैं। टबाकारों में लोकागच्छ के आचार्य धर्मसिंह मुनि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका समय अठारहवीं शताब्दी है।

दिगम्बर आगम :

दिगम्बर परम्परा का विश्वास है कि वीरनिर्वाण के बाद श्रुत का क्रमशः ह्रास होता गया। यहाँ तक कि ६८३ वर्ष के बाद कोई अंगधर या पूर्वधर आचार्य रहा ही नहीं। हाँ, अंग और पूर्व के अंशमात्र के ज्ञाता कुछ आचार्य अवश्य हुए हैं। अंग और पूर्व के अंशधर आचार्यों की परम्परा में होने वाले पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों ने 'षट्खण्डागम' की रचना दूसरे अग्रायणीय पूर्व के अंश के आधार से की और आचार्य गुणधर ने पाँचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद के अंश के आधार से 'कषायपाहुड' की रचना की।[1]

इस प्रकार ऊपर लिखे गए आगम और उनकी टीकाएँ श्वेताम्बर परम्परा को ही मान्य हैं। दिगम्बर परम्परा के मतानुसार प्राचीन आगम लुप्त हो गए। उनके आधार से लिखे गए षट्खण्डागम, कषायपाहुड आदि ग्रन्थ आगम की ही भाँति प्रमाणभूत हैं। षट्खण्डागम और कषायपाहुड के अतिरिक्त महाबन्ध का नाम भी उल्लेखनीय है, जिसकी

१—धवला, पु० १, प्रस्ता० पृ० ७१

रचना भूतवलि आचार्य ने की है। इन तीनों ग्रन्थों का विषय जीव और कर्म से सम्बन्धित है। मूलग्रन्थों में दार्शनिक चर्चा का कोई खास स्थान नहीं है। हाँ, बाद में लिखी जाने वाली टीकाओं में खंडन-मंडन खूब मिलता है। षट्खण्डागम की रचना पुष्पदन्त और भूतवलि आचार्यों द्वारा और कषायपाहुड की रचना आचार्य गुणधर द्वारा विक्रम की दूसरी शताब्दी के बाद हुई है और उनपर धवला और जयधवला जैसी टीकाओं की रचना वीरसेनाचार्य ने नवमी शताब्दी में की है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द-कृत ग्रन्थ आगम के समान ही प्रमाणभूत माने गये हैं। उनके ग्रन्थों में प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, अष्टपाहुड, नियमसार आदि प्रसिद्ध हैं। आत्मा, ज्ञान, सप्त-भंगी, द्रव्य, गुण आदि सभी विषयों पर कुन्दकुन्द ने अपनी कलम चलाई है। व्यावहारिक और नैश्चयिक दृष्टियों पर विशेष भार दिया है। अमृत चन्द्र आदि विद्वानों ने उनके ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। कुन्दकुन्द का समय अभी विवादास्पद है। कुछ लोग उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी मानते हैं तो कुछ पाँचवीं और छठी शताब्दी।[1]

स्थानकवासी आगमग्रन्थ :

श्वेताम्वर स्थानकवासी परम्परा के मत से दृष्टिवाद को छोड़कर सभी अंग सुरक्षित हैं—जैसा कि श्वेताम्वर (मूर्तिपूजक) परम्परा मानती है। अंगवाह्य ग्रन्थों में बारह उपांग वे ही हैं, जो श्वेताम्वरों को मान्य हैं। इन तेईस ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ भी सुरक्षित हैं, ऐसी इस परम्परा की मान्यता है :—

४ छेद :—१—व्यवहार, २—बृहत्कल्प, ३—निशीथ, ४—दशा-श्रुतस्कन्ध।

४ मूल :— १—दशवैकालिक, २—उत्तराध्ययन, ३—नन्दी, ४—अनुयोग।

इनके अतिरिक्त एक आवश्यक सूत्र भी है।

१—जैन दार्शनिक साहित्य का इतिहास, पृ० ७०

इस प्रकार ११ अंग+१२ उपांग+४ छेद+४ मूल+व १ आवश्यक=इस प्रकार कुल ३२ सूत्र हैं।

इन ३२ सूत्रों के अतिरिक्त निर्युक्ति आदि टीकाएँ इस परम्परा को स्वतः प्रमाणत्वेन मान्य नहीं हैं।

आगमप्रामाण्य का सार :

१—श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा—११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, २ चूलिका सूत्र, ६ छेद सूत्र, १० प्रकीर्णक—इस प्रकार ४५ आगम ग्रन्थ तथा निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य आदि टीकाएँ।

२—श्वेताम्बर स्थानकवासी एवं श्वेताम्बर तेरापन्थी परम्परा—११ अंग, १२ उपांग, ४ छेद, ४ मूल, व १ आवश्यक-इस प्रकार ३२ आगम ग्रंथ।

३—दिगम्बर परम्परा—ये सभी आगम ग्रंथ लुप्त। षट्खण्डागम, कषायपाहुड, महाबन्ध—इस प्रकार तीन मूल ग्रंथ एवं धवला, जयधवला आदि टीकाएँ। कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थ प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि मूलग्रन्थ एवं टीकाएँ।

आगमयुग का अन्त :

आगम-साहित्य ज्ञान की विविध शाखाओं का एक बहुत बड़ा भांडार है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इतना होते हुए भी किसी एक विषय को लेकर संक्षिप्त और सरल ढङ्ग से जो प्रतिपादन होना चाहिए उसकी इसमें कमी है। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं कि आगमों में किसी विषय का संक्षिप्त एवं व्यवस्थित प्रतिपादन है ही नहीं। कहीं-कहीं बहुत सरल एवं संक्षिप्त प्रतिपादन अवश्य मिलता है। किन्तु प्रत्येक विषय पर इस प्रकार की सामग्री नहीं है। दूसरी बात यह है कि आगम की शैली में पुनरुक्ति की मात्रा भी कुछ अधिक है। यह मात्र आगम की शैली का दोष नहीं है, क्योंकि उस समय के साहित्य की परम्परा ही ऐसी थी। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, कुछ ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जो आकार से छोटे हों और विषय का संक्षिप्त प्रतिपादन करने वाले हों। सिद्धान्त की मुख्य-मुख्य बातें जिनमें मिल जाएँ, किन्तु उनका बहुत विस्तार न हो। इसी आवश्यकता

की पूर्ति के लिए आगमेतर ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई। यद्यपि आगे जाकर पुनः विस्तार का आश्रय लेना पड़ा और यह ठीक भी था, क्योंकि ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा था और दार्शनिक वाद-विवाद बढ़ने लग गये थे। आचार्य उमास्वाति ने जैन-तत्त्वज्ञान, आचार, खगोल, भूगोल आदि अनेक विषयों का संक्षेप में प्रतिपादन करने की दृष्टि से प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' लिखा। ग्रन्थ की भाषा भी प्राकृत न रखकर संस्कृत रखी। आगमेतर साहित्य का बीजवपन यहीं से होता है।

आचार्य उमास्वाति और तत्त्वार्थसूत्र :

उमास्वाति कब हुए, इस विषय में अभी कोई निश्चित मत नहीं है। वाचक उमास्वाति का प्राचीन से प्राचीन समय विक्रम की पहली शताब्दी और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय तीसरी-चौथी शताब्दी है।[1] इन तीन-चार सौ वर्ष के बीच में उनका समय पड़ता है।

आचार्य उमास्वाति सर्वप्रथम संस्कृत-लेखक हैं, जिन्होंने जैनदर्शन पर अपनी कलम उठाई। उनकी भाषा शुद्ध एवं संक्षिप्त है। शैली में सरलता एवं प्रवाह है। उनका 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य है। इसकी शैली सूत्र-शैली है,यह नाम से ही स्पष्ट है। इसमें दस अध्याय हैं जिनमें जैन दर्शन और जैन आचार का संक्षिप्त निरूपण है। खगोल और भूगोल विषयक मान्यताओं का भी वर्णन है। यों कहना चाहिए कि यह ग्रन्थ जैन तत्त्व-ज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, आत्मविद्या, पदार्थविज्ञान, कर्मशास्त्र आदि अनेक विषयों का संक्षिप्त कोष है।

प्रथम अध्याय में ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली निम्न बातों पर प्रकाश डाला गया है :—ज्ञान और दर्शन का स्वरूप, नयों का लक्षण, ज्ञान का प्रामाण्य।[2] सर्वप्रथम दर्शन का अर्थ बताया गया है। तदनन्तर प्रमाण और नय रूप से ज्ञान का विभाग किया गया है। फिर मति आदि पाँच

१—पं० सुखलाल जी कृत तत्त्वार्थसूत्र विवेचन, पृ० ६

२—ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैव लक्षणम्
ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितम् ॥
राजवार्तिक, पृ० ६८

नववें अध्याय में संवर, उसके साधन और भेद, निर्जरा और उसके उपाय, साधक और उनकी मर्यादा पर विशद विवेचन है।

दसवें अध्याय में केवल ज्ञान के हेतु, मोक्ष का स्वरूप, मुक्तात्मा की गति व स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

तत्त्वार्थ पर टीकाएँ :

तत्त्वार्थ सूत्र पर एक भाष्य मिलता है जो उमास्वाति की अपनी ही रचना है। इसके अतिरिक्त 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की एक संक्षिप्त किन्तु अति महत्त्वपूर्ण टीका मिलती है। यह टीका आचार्य पूज्यपाद की कृति है जो छठी शताब्दी में हुए थे। ये दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे। अकलंक ने 'राजवार्त्तिक' की रचना की। यह टीका बहुत विस्तृत एवं सर्वाङ्गपूर्ण है। दर्शन के प्रत्येक विषय पर किसी-न-किसी रूप में प्रकाश डाला गया है। कहीं-कहीं खण्डन-मण्डन की दृष्टि की मुख्यता है। विद्यानन्द कृत 'श्लोकवार्तिक' भी बहुत महत्त्वपूर्ण टीका है। ये दोनों दिगम्बर परम्परा के अनुयायी थे। इनके अतिरिक्त सिद्धसेन और हरिभद्र ने क्रमश. बृहत्काय और लघुकाय वृत्तियों की रचना की। ये दोनों श्वेताम्बर परम्परा के उपासक थे। इन सभी टीकाओं में दार्शनिक दृष्टिकोण ही प्रधान रूप से मिलता है। जैन दर्शन की आगे की प्रगति पर इन टीकाओं का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। ये टीकाएँ आठवीं-नवीं शताब्दी में लिखी गईं। जिस प्रकार दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' पर धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' लिखा और उसी को केन्द्रबिन्दु मान कर समग्र बौद्ध-दर्शन विकसित हुआ, उसी प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र की इन टीकाओं के आसपास जैन दार्शनिक साहित्य का बड़ा विकास हुआ। इन टीकाओं के अतिरिक्त बारहवीं शताब्दी में मलयगिरि ने और चौदहवीं शताब्दी में चिरन्तन मुनि ने भी तत्त्वार्थ पर टीकाएँ लिखीं। अठारहवीं शताब्दी में नव्यन्याय शैली के प्रकाण्ड पण्डित यशोविजय ने भी अपनी टीका लिखी। दिगम्बर परम्परा के श्रुतसागर, विबुधसेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव, अभयनन्दी आदि विद्वानों ने भी तत्त्वार्थ सूत्र पर अपनी-अपनी टीकाएँ लिखी थीं। बीसवीं शताब्दी में पं० सुखलाल जी संघवी आदि

ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों में विभाजन किया गया है। उसके बाद मति ज्ञान की उत्पत्ति और उसके भेदों पर प्रकाश डाला गया है। तदुपरान्त श्रुतज्ञान का वर्णन है। फिर अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान और उनके भेद-प्रभेद तथा पारस्परिक अन्तर का कथन है। तत्पश्चात् पाँचों ज्ञानों का तारतम्य बतलाते हुए उनका विषय-निर्देश एवं उनकी सहचारिता का दिग्दर्शन कराया गया है। तदनन्तर मिथ्याज्ञानों का निर्देश है। अन्त में नय के भेदों का कथन है।

दूसरे अध्याय में जीव का स्वरूप, जीव के भेद, इन्द्रियभेद, मृत्यु और जन्म की स्थिति, जन्मस्थानों के भेद, शरीर के भेद और जातियों का लिंग, विभाग, आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

तीसरे अध्याय में अधोलोक के विभाग, नारक जीवों की दशा, द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र आदि का वर्णन, इत्यादि भौगोलिक विषयों पर काफी चर्चा है।

चौथे अध्याय में देवों की विविध जातियाँ, उनके परिवार, भोग, स्थान, समृद्धि, जीवनकाल और ज्योतिर्मण्डल आदि दृष्टियों से खगोल का वर्णन किया गया है।

पांचवें अध्याय में निम्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है :—द्रव्य के मुख्य भेद, उनकी परस्पर तुलना, उनकी स्थिति, क्षेत्र एवं कार्य, पुद्गल का स्वरूप, भेद और उत्पत्ति, सत् का स्वरूप, नित्य का लक्षण, पौद्गलिक बन्ध की योग्यता और अयोग्यता, द्रव्य लक्षण, काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं इसका विचार एवं काल का स्वरूप, गुण और परिणाम के भेद।

छठे अध्याय में आश्रव का स्वरूप, उसके भेद एवं तदनुकूल कर्म-बन्धन आदि बातों का विवेचन है।

सातवें अध्याय में व्रत का स्वरूप, व्रत ग्रहण करने वालों के भेद, व्रत की स्थिरता, हिंसा आदि अतिचारों का स्वरूप, दान-स्वरूप, इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

आठवें अध्याय में कर्मबन्धन के हेतु और कर्मबन्धन के भेद पर विचार किया गया है।

नववें अध्याय में संवर, उसके साधन और भेद, निर्जरा और उसके उपाय, साधक और उनकी मर्यादा पर विशद विवेचन है।

दसवें अध्याय में केवल ज्ञान के हेतु, मोक्ष का स्वरूप, मुक्तात्मा की गति व स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

तत्त्वार्थ पर टीकाएँ :

तत्त्वार्थ सूत्र पर एक भाष्य मिलता है जो उमास्वाति की अपनी ही रचना है। इसके अतिरिक्त 'सवार्थसिद्धि' नाम की एक संक्षिप्त किन्तु अति महत्त्वपूर्ण टीका मिलती है। यह टीका आचार्य पूज्यपाद की कृति है जो छठी शताब्दी में हुए थे। ये दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे। अकलंक ने 'राजवार्त्तिक' की रचना की। यह टीका बहुत विस्तृत एवं सर्वाङ्गपूर्ण है। दर्शन के प्रत्येक विषय पर किसी-न-किसी रूप में प्रकाश डाला गया है। कहीं-कहीं खण्डन-मण्डन की दृष्टि की मुख्यता है। विद्यानन्द कृत 'श्लोकवार्तिक' भी बहुत महत्त्वपूर्ण टीका है। ये दोनों दिगम्बर परम्परा के अनुयायी थे। इनके अतिरिक्त सिद्धसेन और हरिभद्र ने क्रमश. बृहत्काय और लघुकाय वृत्तियों की रचना की। ये दोनों श्वेताम्बर परम्परा के उपासक थे। इन सभी टीकाओं में दार्शनिक दृष्टिकोण ही प्रधान रूप से मिलता है। जैन दर्शन की आगे की प्रगति पर इन टीकाओं का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। ये टीकाएँ आठवीं-नवीं शताब्दी में लिखी गईं। जिस प्रकार दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' पर धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' लिखा और उसी को केन्द्रबिन्दु मान कर समग्र बौद्ध-दर्शन विकसित हुआ, उसी प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र की इन टीकाओं के आसपास जैन दार्शनिक साहित्य का बड़ा विकास हुआ। इन टीकाओं के अतिरिक्त बारहवीं शताब्दी में मलयगिरि ने और चौदहवीं शताब्दी में चिरन्तन मुनि ने भी तत्त्वार्थ पर टीकाएँ लिखीं। अठारहवीं शताब्दी में नव्यन्याय शैली के प्रकाण्ड पण्डित यशोविजय ने भी अपनी टीका लिखी। दिगम्बर परम्परा के श्रुतसागर, विबुधसेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव, अभयनन्दी आदि विद्वानों ने भी तत्त्वार्थ सूत्र पर अपनी-अपनी टीकाएँ लिखी थीं। बीसवीं शताब्दी में पं० सुखलाल जी संघवी आदि

विद्वानों ने हिन्दी तथा गुजराती आदि भाषाओं में तत्त्वार्थसूत्र पर सुन्दर विवेचन लिखे हैं।

इस प्रकार तत्वार्थसूत्र के पास पहुँचते-पहुँचते हमारा 'आगम युग' समाप्त हो जाता है। इसके बाद 'आगम युग' के अनेक संस्कारों को लिए हुए 'अनेकान्त-स्थापन-युग' आता है। इस युग में जैन-दर्शन का स्तर काफी ऊँचा उठ जाता है।

अनेकान्त-स्थापना-युग :

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में नागार्जुन ने एक बहुत बड़ी हल-चल मचा दी थी। जब से नागार्जुन इस क्षेत्र में आए, दार्शनिक वादविवादों को एक नया रूप प्राप्त हुआ। श्रद्धा के स्थान पर तर्क का साम्राज्य हो गया। पहले तर्क न था, ऐसी बात नहीं हैं। तर्क के होते हुए भी अधिक काम श्रद्धा से ही चल जाता था। यही कारण था कि दर्शन का व्यवस्थित आकार न बन पाया। नागार्जुन ने इस क्षेत्र में आकर एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। यह क्रान्ति बौद्ध-दर्शन तक ही सीमित न रही। इसका प्रभाव भारत के सभी दर्शनों पर बड़ा गहरा पड़ा। परिणामस्वरूप जैन दर्शन भी उससे अछूता न रह सका। सिद्धसेन और समन्तभद्र जैसे महान् तार्किकों को पैदा करने का बहुत कुछ श्रेय नागार्जुन को ही है। यह समय पाँचवीं-छठी शताब्दी का है। जैनाचार्यों ने इस युग में महावीर के समय से बिखरे रूप में चले आते हुए अनेकांतवाद को स्थिर और सुनिश्चित रूप प्रदान किया। इसलिए यह युग 'अनेकान्त-स्थापन युग' के नाम से पुकारा जा सकता है। इस युग में पाँच प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं। सिद्धसेन और समन्तभद्र के अतिरिक्त मल्लवादी, सिंहगणि और पात्रकेसरी के नाम उल्लेखनीय हैं।

सिद्धसेन :

नागार्जुन ने शून्यवाद का समर्थन किया। शून्यवादियों के अनुसार तत्त्व न सत् है, न असत् है,न सदसत् है, न अनुभय। 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' रूप से तत्त्व का वर्णन किया जा सकता है। विचार की चारों कोटियाँ तत्त्व को ग्रहण करने में असमर्थ हैं। विचार जिस चीज को ग्रहण करता

है वह मात्र लोक-व्यवहार है।[1] बुद्धि से विवेचन करने पर हम किसी एक स्वभाव तक नहीं पहुँच सकते। हमारी बुद्धि किसी एक स्वभाव का अवधारण नहीं कर सकती। इसलिए सारे पदार्थ अनभिलाप्य हैं, निःस्वभाव हैं।[2] इस प्रकार शून्यवाद ने तत्त्व के निषेधपक्ष पर भार दिया। विज्ञानवाद ने विज्ञान पर जोर दिया और कहा कि तत्त्व विज्ञानात्मक ही है। विज्ञान से भिन्न बाह्यार्थ की सिद्धि नहीं की जा सकती। जब तक व्यक्ति को विज्ञप्तिमात्रता के साथ एकरूपता का बोध नहीं हो जाता तब तक ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना ही रहता है।[3] इसके विपरीत नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने लगे। सांख्यों ने सत्कार्यवाद का समर्थन किया और कहा कि सब सत् है। हीनयान बौद्धों ने क्षणिकवाद की स्थापना की और कहा कि ज्ञान और अर्थ दोनों क्षणिक हैं। इसके विपरीत मीमांसकों ने शब्द आदि कुछ क्षणिक जैसे पदार्थों को भी नित्य सिद्ध किया। नैयायिकों ने शब्दादि पदार्थों को क्षणिक और आत्मादि पदार्थों को नित्य माना। इस प्रकार भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भारी संघर्ष होने लगा। जैन दार्शनिक भी इस अवसर को खोनेवाले न थे। उन्हें इस संघर्ष से प्रेरणा मिली। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने भी इस क्षेत्र में पैर रखा और डंके की चोट सबके सामने आए।

महावीरोपदिष्ट नयवाद और स्याद्वाद को मुख्य आधार बनाकर सिद्धसेन ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। सिद्धसेन ने सन्मतितर्क,

---

१—'चातुष्कोटिकं च महामते ! लोकव्यवहार:'
लंकावतार सूत्र, पृ० १८८

२—बुद्धया विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
तस्मादनभिलाप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिता:॥
लंकावतार सूत्र, पृ० ११६

३—यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठते।
ग्राह्य' यस्य विपयस्तावन्नविनिवर्तते।
—त्रिंशिका, का० २६०

थीं जैसे भव्य और अभव्य का विभाग, जीवों की संख्या का प्रश्न आदि, उन पर उन्होंने तर्क का प्रयोग करना उचित न समझा। उन बातों को यथावत् ग्रहण कर लिया। जो बातें तर्कबल से सिद्ध या असिद्ध की जा सकती थीं उन बातों को उन्होंने अच्छी तरह से तर्क की कसौटी पर कसा।

सिद्धसेन का कथन है कि धर्मवाद दो प्रकार का है—अहेतुवाद और हेतुवाद। भव्याभव्यादिक भाव अहेतुवाद के अन्तर्गत हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि नियम दु:ख का नाश करने वाले हैं इत्यादि बातें हेतुवाद का विषय हैं[1]। सिद्धसेन का हेतुवाद और अहेतुवाद का यह विभाग हमें दर्शन और धर्म क्षेत्र का स्मरण कराता है। हेतुवाद तर्क पर प्रतिष्ठित है अतः वह दर्शन का विषय है। अहेतुवाद श्रद्धा पर प्रतिष्ठित है अतः वह धर्म का विषय है। इस प्रकार सिद्धसेन ने परोक्ष-रूप से दर्शन और धर्म की मर्यादा का संकेत किया है।

सिद्धसेन ने एक बिल्कुल नई परंपरा स्थापित की। वह परंपरा है दर्शन और ज्ञान का अभेद। जैनों की आगमिक परंपरा थी सर्वज्ञ के दर्शन और ज्ञान को भिन्न मानना। इस परंपरा पर उन्होंने प्रहार किया और अपने तर्कबल से यह सिद्ध किया कि सर्वज्ञ के दर्शन और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। सर्वज्ञत्व के स्तर पर पहुँच कर दोनों एकरूप हो जाते हैं।[2] इसके अतिरिक्त अवधि और मनःपर्यय ज्ञान को एक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। साथ ही साथ ज्ञान और श्रद्धा को भी एक सिद्ध किया। जैनागमों में प्रसिद्ध नैगमादि सात नयों के स्थान पर उन्होंने छः नयों की स्थापना की। नैगम को स्वतन्त्र नय न मानकर संग्रह और व्यवहार में समाविष्ट कर दिया। इतना ही नहीं अपितु उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि जितने वचन के प्रकार हो सकते हैं

१—सन्मतितर्क ३ : ४३, ४४

२—ज अपुट्ठे भावो जाणइ पासइ य केवली णियमा।
तम्हा तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं॥
—सन्मतितर्क २ : ३०

उतने ही नय के प्रकार हो सकते हैं और जितने नयवाद हो सकते हैं उतने ही मत-मतान्तर भी हो सकते हैं।[1]

ज्ञान और क्रिया के ऐकान्तिक आग्रह को चुनौती देते हुए सिद्धसेन ने घोषणा की कि ज्ञान और क्रिया दोनों आवश्यक हैं। ज्ञान-रहित क्रिया उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार क्रिया-रहित ज्ञान निकम्मा है। ज्ञान और क्रिया का सम्यग् संयोग ही वास्तविक सुख प्रदान कर सकता है। जन्म और मरण के दुःख से मुक्ति पाने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों आवश्यक हैं।[2]

न्यायावतार और बत्तीसियों में भी सिद्धसेन ने अपनी मान्यताओं की पुष्टि का पूर्ण प्रयत्न किया है। सिद्धसेन ने सचमुच जैन दर्शन के इतिहास में एक नए युग की स्थापना की।

समन्तभद्र :

श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धसेन का जो स्थान है वही स्थान दिगम्बर परम्परा में समन्तभद्र का है। समन्तभद्र की प्रतिभा विलक्षण थी इसमें कोई शंका नहीं। उन्होंने स्याद्वाद की सिद्धि के लिए अथक परिश्रम किया। उनकी रचनाओं का छिपा हुआ लक्ष्य स्याद्वाद ही होता है। स्तोत्र की रचना हो तो क्या और दार्शनिक कृति हो तो क्या—सभी का लक्ष्य एक ही था और वह था स्याद्वाद की सिद्धि। सभी वादों की ऐकान्तिकता में दोष दिखा कर उनका अनेकान्तवाद में निर्दोष समन्वय कर देना समन्तभद्र की ही खूबी थी। स्वयम्भूस्तोत्र में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति के बहाने दार्शनिक तत्त्व का बया ही सुन्दर एवं अद्भुत समावेश किया है। यह स्तोत्र, स्तुतिकाव्य का उत्कृष्ट नमूना तो है ही, साथ ही साथ इसके अन्दर भरा हुआ दार्शनिक वक्तव्य अत्यन्त महत्त्व का है। प्रत्येक

१—जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥
सन्मतितर्क ३ : ४७

२—सन्मतितर्क ३ : ६८

तीर्थंकर की स्तुति में किसी न किसी दार्शनिकवाद का निर्देश करना वे नहीं भूले। स्वयम्भूस्तोत्र की तरह युक्त्यनुशासन भी एक उत्कृष्ट स्तुतिकाव्य है। इस काव्य में भी यही बात है। स्तुति के बहाने अन्य ऐकान्तिकवादों में दोष दिखाकर स्वसम्मत भगवान् के उपदेशों में गुणों के दर्शन कराना इस काव्य की विशेषता है। यह तो अयोगव्यवच्छेद हुआ। इसके अतिरिक्त भगवान् के उपदेशों में जो गुण हैं वे अन्य किसी के उपदेश में नहीं, यह लिखकर उन्होंने अन्ययोग-व्यवच्छेद के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया।

इन स्तोत्रों के अतिरिक्त उनकी एक कृति आप्तमीमांसा है। दार्शनिक दृष्टि से यह श्रेष्ठ कृति है। अर्हन्त की स्तुति के प्रश्न को लेकर उन्होंने यह ग्रंथ प्रारम्भ किया। अर्हन्त की ही स्तुति क्यों करनी चाहिए। इस प्रश्न को सामने रखकर उन्होंने आप्तपुरुष की मीमांसा की है। आप्त कौन हो सकता है, इस प्रश्न को लेकर विविध प्रकार की मान्यताओं का विश्लेषण किया है। देवागमन, नभोयान, चामरादि विभूतियों की महत्ता की कसौटी का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया है कि ये बाह्य विभूतियाँ आप्तत्व की सूचक नहीं हैं। ये सब चीजें तो मायावी पुरुषों में भी दिखाई दे सकती हैं। इसी प्रकार शारीरिक ऋद्धियाँ भी आप्त पुरुष की महत्ता सिद्ध नहीं कर सकतीं। देवलोक में रहने वाले भी अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु वे हमारे लिये महान् नहीं हो सकते। इस प्रकार बाह्य प्रदर्शन का खण्डन करते हुये वे यहाँ तक पहुँचते हैं कि जो धर्म प्रवर्तक कहे जाते हैं जैसे बुद्ध, कपिल, गौतम, कणाद, जैमिनी आदि, क्या उन्हें आप्त माना जाय ? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि आप्त वही हो सकता है जिसके सिद्धान्त दोषयुक्त न हों, विरुद्ध न हों। सभी धर्म-प्रवर्तक आप्त नहीं हो सकते क्योंकि उनके सिद्धान्त परस्पर-विरुद्ध हैं। किसी एक को ही आप्त मानना चाहिए।[1]

१—तीर्थकृत्समयानां च, परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति, कश्चिदेव भवेद् गुरुः॥
—आप्तमीमांसा, का० ३।

वह एक कौन है ? इसका उत्तर देते हुए समन्तभद्र ने कहा कि जिसमें मोहादि दोषों का सर्वथा अभाव है और जो सर्वज्ञ है वही आप्त है। ऐसा व्यक्ति अर्हन्त ही हो सकता है, क्योंकि अर्हन्त के उपदेश प्रमाण से बाधित नहीं होते।[1] यह जैन दृष्टि की पूर्व भूमिका है। जैन दर्शन निर्दोष एवं सर्वज्ञ अर्हन्तों की वाणी को ही आप्तप्रणीत मानता है। जो वाणी प्रमाण से बाधित है वह सर्वज्ञ की वाणी नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वज्ञ की वाणी कभी बाधित नहीं होती। अबाधित वाणी ही आप्त-वचन है। इस प्रकार के आप्तवचन ही प्रमाणभूत माने जा सकते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित सिद्धान्तों को आप्तवचन नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अबाधित सिद्धान्त ही आप्तत्व की कसौटी है। इस कसौटी को हाथ में लेकर समन्तभद्र आगे बढ़ते हैं और सभी प्रकार के ऐकान्तिक वादों में प्रमाण-विरोध दिखाकर अनेकान्तवाद की ध्वजा ऊँची फरकाते हैं।

एकान्तवाद के दो मुख्य पहलू हैं। एक पक्ष एकान्त सत् का प्रतिपादन करता है तो दूसरा पक्ष एकान्त असत् का। एक पक्ष शाश्वतवाद का आश्रय लेता है तो दूसरा पक्ष उच्छेदवाद का प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार नित्यैकान्त और अनित्यैकान्त, भेदैकान्त और अभेदैकान्त और विशेषैकान्त, गुणैकान्त और द्रव्यैकान्त, सापेक्षैकान्त, और निरपेक्षैकांत, हेतुवादैकान्त और अहेतुवादैकान्त, विज्ञानैकान्त और भूतैकान्त, दैवैकान्त और पुरुषार्थैकान्त, वाच्यैकांत और अवाच्यैकांत आदि दृष्टिकोण एकांतवाद के समर्थक हैं। समंतभद्र ने आप्तमीमांसा में दो विरोधी पक्षों के ऐकांतिक आग्रह से उत्पन्न होने वाले दोषों को दिखाकर स्याद्वाद की स्थापना की है। स्याद्वाद को लक्ष्य में रख कर सप्तभंगी की योजना की है। प्रत्येक दो

१—स त्वमेवासि निर्दोषो, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते, प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥
—आप्तमीमांसा, ६

विरोधी वादों को लेकर सप्तभंगी की योजना किस प्रकार हो सकती है इसका स्पष्टीकरण समन्तभद्र की विशेषता है।

मल्लवादी :

मल्लवादी सिद्धसेन के समकालीन थे। उनका नाम तो कुछ और ही था किन्तु वाद में कुशल होने के कारण उन्हें मल्लवादी पद से विभूषित किया गया और यही नाम प्रचलित भी हो गया। उनकी सन्मतितर्क की टीका बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह टीका इस समय उपलब्ध नहीं है। उनका प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ ग्रन्थ नयचक्र है। आज तक के ग्रन्थों में यह एक अद्भुत ग्रन्थ है। तत्कालीन सभी दार्शनिक वादों को सामने रखते हुए उनने एक वादचक्र बनाया। उस चक्र का उत्तर-उत्तरवाद, पूर्व-पूर्ववाद का खण्डन करके अपने-अपने पक्ष को प्रबल प्रमाणित करता है। प्रत्येक पूर्ववाद अपने को सर्वश्रेष्ठ एवं निर्दोष समझता है। वह यह सोचता ही नहीं कि उत्तरवाद मेरा भी खण्डन कर सकता है। इतने में तुरन्त उत्तरवाद आता है और पूर्ववाद को पछाड़ देता है। अन्तिम वाद पुनः प्रथम वाद से पराजित होता है। अन्त में कोई भी वाद अपराजित नहीं रह जाता। पराजय का यह चक्र एक अद्भुत शृंखला तैयार करता है। कोई भी एकान्तवादी इस चक्र के रहस्य को नहीं समझ सकता। एक तटस्थ व्यक्ति ही इस चक्र के भीतर रहनेवाले प्रत्येक वाद की सापेक्षिक सबलता और निर्बलता मालूम कर सकता है। यह बात तभी हो सकती है जब उसे पूरे चक्र का रहस्य मालूम हो। चक्र नाम देने का उद्देश्य भी यही है कि उस चक्र के किसी भी वाद को प्रथम रखा जा सकता है और अन्त में जाकर वह अपने अन्तिम वाद का खण्डन कर सकता हैं। इस प्रकार प्रत्येक वाद का खण्डन हो जाता है। आचार्य का वास्तविक उद्देश्य यही है कि प्रत्येक वाद अपनी-अपनी दृष्टि से सच्चा है, परन्तु ज्योंही वह 'मैं ही सच्चा हूँ' का आग्रह करता है त्योंही दूसरा वाद आकर उसे समाप्त कर देता है। प्रत्येक वाद की अपनी-अपनी योग्यता है और अपना-अपना क्षेत्र है। वह अपने क्षेत्र में सच्चा है। इस प्रकार

अनेकान्त दृष्टि का आश्रय लेने से ही सभी वाद सुरक्षित रह सकते हैं। अनेकान्त के बिना कोई भी वाद सुरक्षित नहीं। अनेकान्तवाद परस्पर-विरुद्ध प्रतिभासित होने वाले सभी वादों का निर्दोष समन्वय कर देता है। उस समन्वय में सभी वादों को उचित स्थान प्राप्त हो जाता है। कोई भी वाद बहिष्कृत घोषित नहीं किया जाता। जिस प्रकार ब्रेडले के 'सम्पूर्ण' (Whole) में सारे प्रतिभासों को अपना-अपना स्थान मिल जाता है उसी प्रकार अनेकान्तवाद में सारे एकान्तवाद समा जाते हैं। इससे यही फलित होता है कि एकान्त वाद तभी तक मिथ्या है जब तक कि वह निरपेक्ष है। सापेक्ष होने पर वही एकान्त सच्चा हो जाता है—सम्यक् हो जाता है। सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त में यही भेद है कि सम्यक् एकांत सापेक्ष होता है जबकि मिथ्या एकांत निरपेक्ष होता है। नय में सम्यक् एकान्त अच्छी तरह रह सकते हैं। मिथ्या एकान्त दुर्नय है—नयाभास है, इसीलिए वह झूठा है—असम्यक् है।

सिंहगणि :

सिंहगणि ने नयचक्र पर १८००० श्लोक की एक बृहत्काय टीका लिखी। इस टीका में सिंहगणि क्षमाश्रमण की प्रतिभा अच्छी तरह झलकती है। इसमें सिद्धसेन के ग्रन्थों के उद्धरण हैं, किन्तु समन्तभद्र का कोई उल्लेख नहीं। इसी तरह दिङ्नाग और भर्तृहरि के कई उद्धरण हैं, किंतु धर्मकीर्ति के ग्रथ का कोई उद्धरण नहीं। मल्लवादी और सिंहगणि दोनों श्वेताम्बराचार्य थे।

पात्रकेशरी :

इसी समय एक तेजस्वी आचार्य दिगम्बर परम्परा में हुए जिनका नाम पात्रकेशरी था। इन्होंने प्रमाण-शास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा जिसका नाम 'त्रिलक्षण कदर्थन' है। जिस प्रकार सिद्धसेन ने प्रमाण-शास्त्र पर न्यायावतार लिखा उसी प्रकार पात्रकेशरी ने उक्त ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में दिङ्नाग समर्थित हेतु के त्रिलक्षण का खण्डन किया गया है। अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का अव्यभिचारी लक्षण हो सकता है, यह बात त्रिलक्षण कदर्थन में सिद्ध की गई

है। जैन न्यायशास्त्र में यही लक्षण मान्य है। दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

प्रमाणशास्त्र व्यवस्था युग :

दिङ्नाग के विचारों ने भारतीय प्रमाणशास्त्र और न्याय-शास्त्र को प्रेरणा दी, यह हम देख चुके हैं। दिङ्नाग बौद्ध तर्क-शास्त्र का पिता कहा जा सकता है। दिङ्नाग की प्रतिभा के फलस्वरूप ही प्रशस्त, उद्योतकर, कुमारिल, सिद्धसेन, मल्लवादी, सिंहगणि, पूज्यपाद, समन्तभद्र, ईश्वरसेन, अविद्धकर्ण आदि दार्श-निकों की रचनाएँ हमारे सामने आईं। इन रचनाओं में दिङ्नाग की मान्यताओं का खण्डन था। इसी संघर्ष के युग में धर्मकीर्ति पैदा हुए। उन्होंने दिङ्नाग पर आक्रमण करने वाले सभी दार्श-निकों को करारा उत्तर दिया और दिङ्नाग के दर्शन का नए प्रकाश में परिष्कार किया। धर्मकीर्ति की परम्परा में अर्चट, धर्मोतर, शान्तरक्षित, प्रज्ञाकर आदि हुए जिन्होंने उनके पक्ष की रक्षा की। दूसरी ओर प्रभाकर, उम्बेक, व्योमशिव, जयन्त, सुमति, पात्रकेशरी, मंडन आदि बौद्धेतर दार्शनिक हुए जिन्होने बौद्ध पक्ष का खण्डन किया। इस संघर्ष के फलस्वरूप आठवीं-नवीं शताब्दी में जैनदर्शन के समर्थक अकलंक, हरिभद्र आदि दार्शनिक मैदान में आए।

अकलंक :

जैन-परम्परा में प्रमाणशास्त्र का स्वतंत्र रूप से व्यवस्थित निरूपण अकलंक की ही देन है। दिङ्नाग के समय से लेकर अकलंक तक बौद्ध और बौद्धेतर प्रमाणशास्त्र में जो संघर्ष चलता रहा, उसे ध्यान में रखते हुए जैन प्रमाणशास्त्र का प्राचीन मर्यादा के अनुकूल प्रतिपादन करने का श्रेय अकलंक को है। प्रमाणसंग्रह न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रयी आदि ग्रन्थ इस मत की पुष्टि करते हैं। अनेकान्तवाद के समर्थन में उन्होंने समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा पर अष्टशती नामक टीका लिखी। सिद्धिविनिश्चय में भी उनका यही दृष्टिकोण है।

अकलंक ने प्रमाण-व्यवस्था का उपन्यास इस प्रकार किया है—

१—प्रमाण के दो भेद—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष।

२—प्रत्यक्ष के दो भेद—(१) मुख्य और (२) सांव्यवहारिक

३—परोक्ष के पाँच भेद—(१) स्मृति, (५) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान, (५) आगम।

४—प्रत्यभिज्ञान (संज्ञा), तर्क (चिंता), अनुमान, (अभिनिबोध), आगम (श्रुत)।

५—मुख्य प्रत्यक्ष के उपभेदः—(१) अवधि, (२) मनःपर्यय, (३) केवल।

६—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (इंद्रियानिन्द्रिय प्रत्यक्ष)–मतिज्ञान।

यह व्यवस्था आगमों में भी मिलती है। तत्वार्थसूत्र में भी इसी व्यवस्था का प्रतिपादन है। तत्वार्थ की व्यवस्था यों हैः—

१—ज्ञान (प्रमाण) के पाँच भेद—(१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मनःपर्यय और (५) केवल।

२—परोक्ष ज्ञान के दो भेदः—(१) मति और (२) श्रुत।

३—प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेदः—(१) अवधि, (२) मनःपर्यय (३) केवल।

४—मतिज्ञान के दूसरे नाम[1]:—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध। ये सब इंद्रियों तथा मनकी सहायता से होते हैं।

नन्दीसूत्र की प्रमाण-व्यवस्था में थोड़ा सा परिवर्तन व परिवर्धन है। वह इस प्रकार है—

ज्ञान दो प्रकार का हैः—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्ष तीन प्रकार का हैः—इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय और मतिज्ञान।

१—तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्

—तत्वार्थसूत्र १—१

है। तत्वज्ञान, शब्दशास्त्र, जातिवाद आदि सभी विषयों पर प्रभाचन्द्र की कलम चली है। मूलसूत्र और कारिकाओं का तो मात्र आधार है। जो कुछ उन्हें कहना था वह किसी न किसी बहाने कह डाला। प्रभाचन्द्र की एक विशेषता और है—वह है विकल्पों का जाल फैलाने की। किसी भी प्रश्न को लेकर दस-पन्द्रह विकल्प सामने रख देना तो उनके लिए सामान्य बात थी। उनका समय वि० १०३७ से ११२२ तक का है।

वादिराज प्रभाचन्द्र के समकालीन थे। इन्होंने अकलंककृत न्याय विनिश्चय पर विवरण लिखा है। ग्रन्थों के उद्धरण देना उनकी विशेषता है। प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से यह विवरण महत्वपूर्ण है। जगह-जगह अनेकान्तवाद की पुष्टि की गई है और वह भी पर्याप्त मात्रा में।

जिनेश्वर, चन्द्रप्रभ और अनन्तवीर्य :

जिनेश्वर की रचना न्यायावतार पर प्रमालक्ष्म नामक वार्त्तिक है। इसमें इतर दर्शनों के प्रमाणभेद, लक्षण आदि का खण्डन किया गया है और न्यायावतार-सम्मत परोक्ष के दो भेद स्थिर किए गए हैं। वार्त्तिक के साथ उसकी स्वोपज्ञ व्याख्या भी है। इसका रचना काल १०९५ के आस-पास है।

आचार्य चन्द्रप्रभसूरि ने वि० ११४९ के आस-पास प्रमेयरत्नकोष नामक एक संक्षिप्त ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ प्रारम्भिक अभ्यास करने वालों के लिए बहुत काम का है।

इसी समय आचार्य अनन्तवीर्य ने परीक्षामुख पर प्रमेयरत्नमाला नामक एक संक्षिप्त और सरल टीका लिखी। यह टीका सामान्य स्तर वाले अभ्यासियों के लिए विशेष उपयोगी है। इसमें प्रमेयकमलमार्तण्ड की तरह लम्बे चौड़े विवादों को स्थान न देकर मूल समस्याओं का ही सौम्य भाषा में समाधान किया गया है।

वादी देवसूरि :

प्रमाणशास्त्र पर परीक्षामुख के समान ही एक अन्य ग्रन्थ लिखने वाले वादी देवसूरि हैं। परीक्षामुख का अनुकरण करते हुए भी उन्होंने अपने ग्रन्थ प्रमाणनयतत्त्वालोक में दो नए प्रकरण जोड़े, जो परीक्षा-

मुख में नहीं थे। एक प्रकरण तो नयवाद पर है, जिसका माणिक्यचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में समावेश नहीं किया। यह सातवाँ प्रकरण जैन न्याय-शास्त्र के पूर्ण ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस सातवें प्रकरण के अतिरिक्त प्रमाणनयतत्त्वालोक में आठवाँ प्रकरण वादविद्या पर है। इस दृष्टि से परीक्षामुख की अपेक्षा यह ग्रन्थ कहीं अधिक उपयोगी है। वादी देवसूरि इतना ही करके सन्तुष्ट न हुए, अपितु, उन्होंने इसी ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ टीका भी लिखी। यह टीका स्याद्वादरत्नाकर के नाम से प्रसिद्ध है। इस बृहत्काय टीका में उन्होंने दार्शनिक समस्याओं का उस समय तक जितना विकास हुआ, सबका समावेश किया। प्रभाचन्द्रकृत स्त्रीमुक्ति और केवलिकवलाहार की चर्चा का श्वेताम्बर दृष्टि से उत्तर देने से भी वे न चूके। इतना ही नहीं, अपितु, कहीं-कहीं तो उन्होंने अन्य दार्शनिकों के आक्षेपों का उत्तर बिल्कुल नये ढंग से दिया। इस तरह वादी देवसूरि अपने समय के एक श्रेष्ठ दार्शनिक थे, इसमें कोई संशय नहीं। इनका समय वि० ११४३ से १२२६ तक है।

हेमचन्द्र :

आचार्य हेमचन्द्र का जन्म वि० सं० ११४५ की कार्तिकी पूर्णिमा के दिन अहमदाबाद के समीप धन्धुका ग्राम में हुआ। इनका बाल्यकाल का नाम चंगदेव था। इनके पिता शैवधर्म के अनुयायी थे और माता जैन-धर्म पालती थीं। आगे जाकर ये देवचन्द्रसूरि के शिष्य बने और इनका नाम सोमचन्द्र रखा गया। देवचन्द्रसूरि अपने शिष्य के गुणों पर बहुत प्रसन्न थे और साथ ही साथ सोमचन्द्र की विद्वत्ता की धाक भी मानते थे। वे अपने जीवन काल में ही सोमचन्द्र को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। वि० सं० ११६६ की वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन सोमचन्द्र को नागौर में आचार्यपद प्रदान किया गया। सोमचन्द्र के शरीर की प्रभा और कान्ति सुवर्ण के समान थी, अतः उनका नाम हेमचन्द्र रखा गया। यह उनके नाम का इतिहास है।

आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा बहुमुखी थी, यह उनकी कृतियों को देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है। कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय न था, जिस पर इन्होंने अपनी कलम न चलाई हो। व्याकरण, कोश, छन्द,

अलंकार, काव्य, चरित्र, न्याय आदि प्रत्येक विषय पर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। व्याकरण शास्त्र पर उनका ग्रन्थ सिद्धहेमव्याकरण प्रसिद्ध ही है। कोश की दृष्टि से अभिधानचिन्तामणि बहुत महत्वपूर्ण है। छन्द, अलंकार और काव्य पर छन्दोनुशासन, काव्यानुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

प्रमाणशास्त्र पर आचार्य हेमचन्द्र का प्रमाणमीमांसा ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें पहले सूत्र हैं और फिर उन पर स्वोपज्ञ व्याख्या है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह सूत्र और व्याख्या दोनों को मिलाकर भी मध्यमकाय है। यह न तो परीक्षामुख और प्रमाणनय-तत्त्वालोक जितना संक्षिप्त ही है और न प्रमेयकमलमार्तण्ड और स्याद्वाद-रत्नाकर जितना विशाल ही है। इसमें न्यायशास्त्र के महत्वपूर्ण प्रश्नों का मध्यम प्रतिपादन है। इस ग्रन्थ को समझने के लिए न्यायशास्त्र की पूर्वभूमिका अत्यन्त आवश्यक है। इस समय यह ग्रन्थ पूर्ण उपलब्ध नहीं है। जिस समय यह पूर्ण उपलब्ध होगा उस समय जैन न्यायशास्त्र के गौरव में बहुत कुछ अभिवृद्धि होगी।

इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र की अयोगव्यवच्छेदिका और अन्ययोग व्यवच्छेदिका नामक दो द्वात्रिंशिकाएँ भी हैं। इनमें से अन्ययोगव्यवच्छेदिका पर मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी नामक टीका लिखी है, जो शैली और सामग्री दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। हेमचन्द्र की मृत्यु वि० सं० १२२९ में हुई।

अन्य दार्शनिक :

बारहवीं शताब्दी में हुए शान्त्याचार्य ने न्यायावतार पर स्वोपज्ञ-टीका सहित वार्तिक लिखा। इसमें उन्होंने अकलंक द्वारा स्थापित प्रमाण के भेदों का खण्डन किया है और न्यायावतार की परम्परा को पुनः स्थापित किया है। यह ग्रन्थ पं० दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित होकर भारतीय विद्याभवन-बम्बई से सिंघी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है।

स्याद्वादरत्नाकर को समझने में सरलता हो, इस दृष्टि से वादी देवसूरि के ही शिष्य रत्नप्रभसूरि ने—जिन्होंने स्याद्वादरत्नाकर के लेखन

में भी सहायता दी थी—अवतारिका बनाई। यह ग्रन्थ रत्नाकरावतारिका नाम से प्रसिद्ध है। ग्रन्थ की भाषा विषयक आडम्बरता ने इसे स्याद्वादरत्नाकर से भी कठिन बना दिया। इतना होते हुए भी इस ग्रन्थ का इतना प्रभाव पड़ा कि स्याद्वादरत्नाकर का पठन-पाठन प्रायः बन्दसा हो गया। सभी लोग इसी से अपना काम निकालने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि आज स्याद्वादरत्नाकर जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की एक भी सम्पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं है।

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने मिलकर द्रव्यालंकार नामक दार्शनिक कृति का निर्माण किया।

चन्द्रसेन ने वि० सं० १२०७ में उत्पादादिसिद्धि की रचना की। इस ग्रन्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप वस्तु का समर्थन किया गया है। वस्तु का यह लक्षण जैनदर्शन की विशिष्ट परम्परा है।

षड्दर्शन-समुच्चय पर वि० सं० १३८९ में सोमतिलक ने एक टीका लिखी। दूसरी टीका गुणरत्न ने लिखी जो अधिक उपादेय बनी। यह टीका पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखी गई।

इसी शताब्दी में मेरुतुंग ने षड्दर्शननिर्णय नामक ग्रन्थ लिखा। राजशेखर ने षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वादकलिका, रत्नाकरावतारिका-पंजिका आदि ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रशस्तपाद भाष्य की टीका कन्दली पर पंजिका लिखी। ज्ञानचन्द्र ने रत्नाकरावतारिका-पंजिकाटिप्पण लिखा। भट्टारक धर्मभूषण ने न्यायदीपिका लिखी, जो जैन न्यायशास्त्र का प्रारम्भिक ग्रन्थ है।

साधुविजय ने सोलहवीं शताब्दी में वादविजयप्रकरण और हेतुखण्डन नामक दो ग्रन्थ लिखे।

अकलंक और हरिभद्र से प्रारम्भ होने वाला यह युग प्रमाणशास्त्र की स्थापना एवं विकास के क्षेत्र में निरन्तर बढ़ता रहा। इस युग में जैनदर्शन और जैन प्रमाणशास्त्र पर एक से एक श्रेष्ठ ग्रन्थ बने। दार्शनिक भूमिका पर जैन परम्परा को प्रतिष्ठित करना एवं उसके गौरव को बढ़ाना, यह इस युग की विशेष देन है। यह देन जैनदर्शन के स्थायित्व के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है।

नव्य न्याययुग :

तत्त्वचिन्तामणि नामक न्याय के ग्रन्थ से न्यायशास्त्र का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। इसका श्रेय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में मिथिला में पैदा होने वाले गंगेश नामक प्रतिभा-सम्पन्न नैयायिक को है। तत्त्वचिन्तामणि नवीन परिभाषा और नूतन शैली में लिखा गया एक अद्भुत ग्रन्थ है। इसका विषय न्यायसम्मत प्रत्यक्षादि चार प्रमाण हैं। इन चारों प्रमाणों की सिद्धि के लिए गंगेश ने जिस परिभाषा, तर्क और शैली का प्रयोग किया वह न्यायशास्त्र के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी क्रान्ति थी। न्याय के शुष्क और नीरस विषय में एक नये रस का संचार कर देना और उसे आकर्षण की वस्तु बना देना, सामान्य बात नहीं थी। गंगेश ने जिस नूतन और सरस शैली को जन्म दिया वह शैली उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। चिन्तामणि के टीकाकारों ने इस नवीन न्यायग्रन्थ पर उतनी ही महत्वपूर्ण टीकाएँ लिखीं कि इस ग्रन्थ के साथ एक नये युग की स्थापना हो गई। न्यायशास्त्र प्राचीन और नवीन न्याय में विभक्त हो गया। यहीं से नवीन न्याय का प्रारम्भ होता है। इस युग का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि सभी दार्शनिक अपने-अपने दर्शन को नवीन न्याय की भूमिका पर परिष्कृत करने लगे। इस शैली का अनुसरण करके जितने भी ग्रन्थ बने उनका दर्शन के इतिहास में बहुत महत्व है। प्रत्येक दर्शन के लिए यह आवश्यक हो गया कि यदि वह जीवित रहना चाहता है तो नवीन न्याय की शैली में अपने पक्ष की स्थापना करे। इतना होते हुए भी जैनदर्शन के आचार्यों का ध्यान इस ओर बहुत शीघ्र नहीं गया। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक जैनदर्शन प्राचीन परम्परा और शैली के चक्कर में ही पड़ा रहा। जहाँ अन्य दर्शन नवीन सजधज के साथ रंगमंच पर आ चुके थे, जैनदर्शन पर्दे के पीछे ही अंगड़ाइयाँ ले रहा था। यशोविजय ने अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जैनदर्शन को नया प्रकाश दिया। इसी प्रकाश के साथ जैनदर्शन के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ होता है।

वि० सं० १६९९ में अहमदावाद के जैनसंघ ने आचार्य नयविजय और यशोविजय को काशी भेजा। आचार्य नयविजय यशोविजय के गुरु

थे, इसलिए दोनों साथ आए। विद्या का पवित्र धाम काशी उस समय दर्शन के क्षेत्र में प्रसिद्ध था। यहाँ आकर यशोविजय ने भारतीय दर्शन-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। साथ ही साथ अन्य शास्त्रों का भी पाण्डित्य प्राप्त किया। इनके पाण्डित्य एवं प्रतिभा से प्रभावित हो इन्हें न्याय-विशारद की पदवी प्रदान की गई।

पांच-सौ वर्ष की जैनदर्शन की क्षति को यदि किसी ने पूरा किया तो वे यशोविजय ही थे। इन्होंने धड़ाधड़ जैनदर्शन पर ग्रन्थ लिखने प्रारम्भ किए। अनेकान्त-व्यवस्था नामक ग्रन्थ नव्यन्याय की शैली में लिखकर अनेकान्तवाद की पुनः प्रतिष्ठा की। प्रमाणशास्त्र पर जैनतर्क भाषा और ज्ञानबिन्दु लिखकर जैन-परम्परा का गौरव बढ़ाया। नय पर भी नयप्रदीप, नयरहस्य और नयोपदेश आदि ग्रन्थ लिखे। नयोपदेश पर तो नयामृततरंगिणी नामक स्वोपज्ञ टीका भी लिखी। इसके अतिरिक्त अष्ट-सहस्री पर अपना विवरण लिखा। हरिभद्रकृत शास्त्रवार्तासमुच्चय पर स्याद्वादकल्पलता नामक टीका भी लिखी। इस प्रकार अष्ट-सहस्री और शास्त्रवार्तासमुच्चय को नया रूप मिला। भाषारहस्य, प्रमाणरहस्य, वादरहस्य आदि अनेक ग्रन्थों के अलावा न्यायखण्डखाद्य और न्यायालोक लिखकर नवीन शैली में ही नैयायिकादि दार्शनिकों की मान्यताओं का खण्डन भी किया।

दर्शन के अतिरिक्त योगशास्त्र, अलंकार, आचारशास्त्र आदि से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ लिखे। संस्कृत के अतिरिक्त प्राचीन गुजराती आदि भाषाओं में भी उन्होंने काफी लिखा है। इस तरह अकेले यशो-विजय ने ही जैन-साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया है। जैन-वाङ्मय का गौरव बढ़ाने में उन्होंने कुछ भी उठा न रखा। जैनदर्शन की परम्परा की सम्मानवृद्धि में उन्होंने अपना पूर्ण योग दिया। उनका यह कार्य इतिहास एवं दर्शन के पन्नों में अमर रहेगा।

यशोविजय के अतिरिक्त इस युग में यशस्वत्सागर ने सप्तपदार्थी, प्रमाणवादार्थ, वादार्थनिरूपण, स्याद्वादमुक्तावली, आदि दार्शनिक ग्रन्थ लिखे। विमलदास ने सप्तभंगी-तरंगिणी की रचना नव्य न्याय की शैली में की।

सम्पादन एवं अनुसन्धान-युग :

यशोविजय की परम्परा किसी न किसी रूप में बीसवीं शताब्दी तक चलती रही। कुछ लोग छोटी-मोटी टीका-टिप्पणियाँ लिखते रहे, किन्तु कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ कि एक नई परम्परा चल पड़ती। इधर २५--३० वर्षों से सम्पादन एवं अनुसन्धान की एक नई परम्परा चली है, जिस पर भारतीय दर्शनशास्त्र और पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान का पूरा प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य शिक्षण पद्धति के साथ ही साथ हमारी दृष्टि में बहुत कुछ परिवर्तन भी हुआ। हम अपने प्राचीन वाङ्मय को नई दृष्टि से देखने लगे। प्राचीन ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करणों पर जोर देने लगे। मुद्रण की सुविधा से इस कार्य में विशेष प्रेरणा मिली। प्राचीन ग्रन्थों को शुद्ध रूप से लोगों के सामने रखने के साथ ही साथ उन ग्रन्थों का ऐतिहासिक अन्वेषण, टिप्पणियाँ, पाठान्तर तुलनात्मक विवेचन, उद्धरण आदि बातों पर भी विद्वानों का ध्यान गया। इस प्रकार से विविध सम्पादन के कार्य प्रारम्भ हुए। इनके अतिरिक्त प्राचीन सामग्री नए ढंग से किस प्रकार दुनिया के सामने आए, इस पर भी विद्वानों का ध्यान गया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर नवीन भाषा और नूतन शैली में नए ढंग के मौलिक ग्रन्थों का निर्माण होने लगा। यह कार्य अनुसन्धान के अन्तर्गत ही आता है। इस प्रकार आधुनिक युग सम्पादन एवं अनुसन्धान के क्षेत्र में प्रगति की ओर बढ़ रहा है। इन दोनों दिशाओं में जैनदर्शन ने कितनी प्रगति की है, इसका संक्षिप्त परिचय यहाँ अनुपयुक्त न होगा। एतद्विषयक मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का विवरण ही पर्याप्त होगा।

इस युग में सम्पादन और अनुसन्धान की धारा प्रारम्भ करने का श्रेय पं० सुखलाल जी संघवी को दिया जाय तो अनुचित न होगा। उनका सर्वप्रथम कार्य कर्मग्रन्थों का चार भागों में विवेचन है, जो वि० सं० १९७४ में लिखा गया। यह कार्य हिन्दी में ही हुआ। उसके बाद उन्होंने प्रतिक्रमण का हिन्दी विवेचन लिखा। इसके बाद योगदर्शन और योगविंशिका नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना हिन्दी में लिखी। इसमें उन्होंने वैदिक, बौद्ध और जैन मान्यता के अनुसार योग का तुलनात्मक विवेचन किया है। इस प्रकार की तुलना शायद आज तक किसी ने नहीं

की। उनके तत्त्वार्थसूत्र का विवेचन हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में प्रकाशित हो चुका है। यह विवेचन भी पंडित जी की बेजोड़ कृति है। इन सब विषयों में पंडित जी से पहले किसी ने कुछ नहीं लिखा था। उन्होंने खुद अपने अध्यवसाय व अध्ययन-बल से अपना मार्ग बनाया।

उपर्युक्त कार्य आगे आने वाले महान् कार्य सन्मतितर्क के उद्धार की भूमिका मात्र है। उन्होंने सटीक सन्मतितर्क के सम्पादन का कार्य आगरा में प्रारम्भ किया। यह कार्य करते-करते बीच ही में वि० सं० १९७८ में गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद में दर्शनशास्त्र के अध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति हो गई। अतएव पंडित जी ने पं० बेचरदास जी के सहयोग से यह कार्य वहां रह कर पूर्ण किया। सन्मतितर्क मूल में बहुत बड़ा ग्रन्थ नहीं है, किन्तु उसकी टीका दर्शन का महार्णव ही है। पंडितजी ने उस ग्रन्थ में आने वाले उद्धरणों का मूलस्थान खोजा। इतना ही नहीं, अपितु ग्रन्थ के पूर्वोत्तर पक्षों को अन्य दार्शनिक ग्रन्थों से निकाल कर लिखा। इतने ही से उन्हें सन्तोष न हुआ। टिप्पणों में प्रत्येक वाद के हेतुओं का इतिहास खोजने वालों के लिए भी उन्होंने भरपूर सामग्री दी। सचमुच उनका यह ग्रन्थ भारतीय दर्शनशास्त्र का विश्वकोष (Encyclopaedia) है। ग्रन्थ की प्रस्तावना भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त मूलग्रन्थ का संक्षिप्त विवेचन भी गुजराती और अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ है। पंडित जी का यह कार्य सचमुच जैन-दर्शन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। इस कार्य से पंडित जी ने न केवल जैनदर्शन का ही उपकार किया है, अपितु भारतीय दर्शन का भी महान् उपकार किया है।

इस ग्रन्थ का सम्पादन पूरा करते ही वे वि० सं० १९९० में काशी विश्वविद्यालय में आए और वहीं रह कर प्रमाण-मीमांसा का पांडित्य-पूर्ण सम्पादन किया। इसके अतिरिक्त ज्ञानबिन्दु का सम्पादन भी इसी समय किया। इन दोनों ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं में पंडित जी ने प्रमाण-शास्त्र पर महत्त्वपूर्ण तुलनात्मक सामग्री प्रदान की है। इसके बाद इन्होंने चार्वाकदर्शन के एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ तत्त्वोपप्लव का सम्पादन किया। तत्पश्चात् इन्होंने बौद्ध दर्शन के ग्रन्थ हेतुबिन्दु का सम्पादन किया। इसी बीच इन्होंने वेदवाद-द्वात्रिंशिका का हिन्दी विवेचन लिखा

जो वैदिक और औपनिषदिक उद्धरणों से समलंकृत है। इस प्रकार पंडित जी का सम्पादन और अनुसंधान कार्य एक दृष्टि से पूरे भारतीय दर्शनशास्त्र पर हुआ है। जैनदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने की नवीन दिशा का निर्माण कर उन्होंने भारतीय वाङ्मय की बहुत बड़ी सेवा की है।

इस क्षेत्र में पंडित जी की परम्परा के निभाने वाले दो और मुख्य व्यक्ति हैं—पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य एवं पं० दलसुख मालवणिया। पं० महेन्द्रकुमार जी के सम्पादकत्व में प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चयविवरण, तत्त्वार्थ की श्रुतसागरी टीका आदि कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए। प्रमेयकमलमार्तण्ड जैन प्रमाणशास्त्र का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। पंडितजी ने इसका सम्पादन तुलनात्मक टिप्पणादि देकर किया है। इस ग्रन्थ के सम्पादन में काफी परिश्रम करना पड़ा है। इसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र का सम्पादन भी काफी महत्वपूर्ण है। इन दोनों बृहत्काय ग्रन्थों की प्रस्तावनाएँ ऐतिहासिक एवं दार्शनिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। न्यायविनिश्चयविवरण में अकलंक के मूल और वादिराज के विवरण की अन्य दर्शनों के साथ तुलना की गई है। प्रस्तावना में सम्पादक ने स्याद्वाद सम्बन्धी अनेक भ्रमों के निरसन का सफल प्रयत्न किया है। तत्त्वार्थ की श्रुतसागरी टीका की प्रस्तावना में अनेक दार्शनिक एवं अन्य विषयों की विशद चर्चा की गई है। उसका लोकवर्णन और भूगोल भाग विशेष महत्व का है। इस भाग में जैन, बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा के मन्तव्यों की तुलना की गई है।

पं० दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित न्यायावतार-वार्त्तिक-वृत्ति जैन न्याय का प्राचीन एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी मूल कारिकाएँ सिद्धसेनकृत हैं और उन पर पद्यबद्ध वार्तिक और उसकी गद्य वृत्ति दोनों शान्त्याचार्य कृत हैं, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं। सम्पादक पं० दलसुख मालवणिया ने इसकी विस्तृत भूमिका में आगमयुग से लेकर एक हजार वर्ष तक के जैनदर्शन के प्रमाण-प्रमेय विषयक चिन्तन एवं विकास का ऐतिहासिक व तुलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण विवरण किया है। ग्रन्थ के अन्त में विद्वान् सम्पादक ने अनेक

विषयों पर टिप्पण लिखे हैं। भारतीय दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के लिए इनका विशेष महत्व है। ये ग्रन्थ भारतीय विद्या-भवन—बम्बई से प्रकाशित हुए हैं। पं० मालवणियाजी की दूसरी कृति गणधरवाद है। यह ग्रन्थ गुजरात विद्यासभा-अहमदाबाद की ओर से प्रकाशित हुआ है। उक्त ग्रन्थ विशेषावश्यक भाष्य के एक भाग के आधार से गुजराती भाषा में लिखा गया है। इसका मूल पाठ जैसलमेर भंडार की सबसे प्राचीन प्रति के आधार से तैयार किया गया है। इसकी प्रस्तावना तुलनात्मक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त जैनसंस्कृति संशोधन मंडल बनारस से प्रकाशित आगमयुग का अनेकान्तवाद, जैन आगम, जैनदार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन आदि पुस्तकें लेखक की विद्वत्तापूर्ण छोटी-छोटी कृतियां हैं।

प्रो० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित प्रवचनसार और प्रो० ए० चक्रवर्ती द्वारा अनूदित एवं सम्पादित समयसार भी विशेष महत्व रखते हैं। प्रवचनसार की लम्बी प्रस्तावना ऐतिहासिक एवं दार्शनिक दृष्टियों से भी विशेष महत्वपूर्ण है। यह प्रस्तावना अंग्रेजी में है। समयसार की भूमिका जैनदर्शन के महत्वपूर्ण विषयों से परिपूर्ण है। डा० हीरालाल जैन ने षट्खण्डागम धवला-टीका के सभी भागों का सम्पादन कर लिया है। पं० दरबारीलाल कोठिया कृत आप्तपरीक्षा का हिन्दी अनुवाद भी एक अच्छी कृति है। पूज्यपादकृत तत्त्वार्थ-सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका का संक्षिप्त संस्करण पं० चैनसुखदासजी ने तैयार किया है और इसका सम्पादन किया है सी० एस० मल्लिनाथ ने। इस संस्करण की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह है अन्त में दिये गए एक सौ छः पृष्ठ के अंग्रेजी टिप्पण। ये टिप्पण विद्वत्तापूर्ण हैं तथा बड़े परिश्रम से तैयार किए गए हैं। प्रारम्भ में भूमिका भी काफी अच्छी लिखी गई है। भारतीय पुरातत्त्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० विमलाचरण ला ने कुछ जैनसूत्रों के विषय में लेख लिखे। इनका संग्रह Some Canonical Jaina Sutras के नाम से रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की ओर से प्रकाशित हुआ है। इन लेखों से जैनसूत्रों के अध्ययन की दिशा का

जो वैदिक और औपनिषदिक उद्धरणों से समलंकृत है। इस प्रकार पंडित जी का सम्पादन और अनुसंधान कार्य एक दृष्टि से पूरे भारतीय दर्शनशास्त्र पर हुआ है। जैनदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने की नवीन दिशा का निर्माण कर उन्होंने भारतीय वाङ्मय की बहुत बड़ी सेवा की है।

इस क्षेत्र में पंडित जी की परम्परा के निभाने वाले दो और मुख्य व्यक्ति हैं—पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य एवं पं० दलसुख मालवणिया। पं० महेन्द्रकुमार जी के सम्पादकत्व में प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चयविवरण, तत्त्वार्थ की श्रुतसागरी टीका आदि कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए। प्रमेयकमलमार्तण्ड जैन प्रमाणशास्त्र का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। पंडितजी ने इसका सम्पादन तुलनात्मक टिप्पणादि देकर किया है। इस ग्रन्थ के सम्पादन में काफी परिश्रम करना पड़ा है। इसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र का सम्पादन भी काफी महत्वपूर्ण है। इन दोनों बृहत्काय ग्रन्थों की प्रस्तावनाएँ ऐतिहासिक एवं दार्शनिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। न्यायविनिश्चयविवरण में अकलंक के मूल और वादिराज के विवरण की अन्य दर्शनों के साथ तुलना की गई है। प्रस्तावना में सम्पादक ने स्याद्वाद सम्बन्धी अनेक भ्रमों के निरसन का सफल प्रयत्न किया है। तत्त्वार्थ की श्रुतसागरी टीका की प्रस्तावना में अनेक दार्शनिक एवं अन्य विषयों की विशद चर्चा की गई है। उसका लोकवर्णन और भूगोल भाग विशेष महत्व का है। इस भाग में जैन, बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा के मन्तव्यों की तुलना की गई है।

पं० दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित न्यायावतार-वार्त्तिक-वृत्ति जैन न्याय का प्राचीन एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी मूल कारिकाएँ सिद्धसेनकृत हैं और उन पर पद्यबद्ध वार्तिक और उसकी गद्य वृत्ति दोनों शान्त्याचार्य कृत हैं, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं। सम्पादक पं० दलसुख मालवणिया ने इसकी विस्तृत भूमिका में आगमयुग से लेकर एक हजार वर्ष तक के जैनदर्शन के प्रमाण-प्रमेय विषयक चिन्तन एवं विकास का ऐतिहासिक व तुलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण विवरण दिया है। ग्रन्थ के अन्त में विद्वान् सम्पादक ने अनेक

विषयों पर टिप्पण लिखे हैं। भारतीय दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के लिए इनका विशेष महत्व है। ये ग्रन्थ भारतीय विद्या-भवन–बम्बई से प्रकाशित हुए हैं। पं० मालवणियाजी की दूसरी कृति गणधरवाद है। यह ग्रन्थ गुजरात विद्यासभा-अहमदाबाद की ओर से प्रकाशित हुआ है। उक्त ग्रन्थ विशेषावश्यक भाष्य के एक भाग के आधार से गुजराती भाषा में लिखा गया है। इसका मूल पाठ जैसलमेर भंडार की सबसे प्राचीन प्रति के आधार से तैयार किया गया है। इसकी प्रस्तावना तुलनात्मक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त जैनसंस्कृति संशोधन मंडल बनारस से प्रकाशित आगमयुग का अनेकान्तवाद, जैन आगम, जैनदार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन आदि पुस्तकें लेखक की विद्वत्तापूर्ण छोटी-छोटी कृतियाँ हैं।

प्रो० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित प्रवचनसार और प्रो० ए० चक्रवर्ती द्वारा अनूदित एवं सम्पादित समयसार भी विशेष महत्व रखते हैं। प्रवचनसार की लम्बी प्रस्तावना ऐतिहासिक एवं दार्शनिक दृष्टियों से भी विशेष महत्वपूर्ण है। यह प्रस्तावना अँग्रेजी में है। समयसार की भूमिका जैनदर्शन के महत्वपूर्ण विषयों से परिपूर्ण है। डा० हीरालाल जैन ने षड्खण्डागम धवला-टीका के सभी भागों का सम्पादन कर लिया है। पं०दरबारीलाल कोटिया कृत आप्तपरीक्षा का हिन्दी अनुवाद भी एक अच्छी कृति है। पूज्यपादकृत तत्त्वार्थ-सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका का संक्षिप्त संस्करण पं० चेनसुखदासजी ने तैयार किया है और इसका सम्पादन किया है सी० एस० मल्लिनाथ ने। इस संस्करण की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह है अन्त में दिये गए एक सौ छः पृष्ठ के अँग्रेजी टिप्पण। ये टिप्पण विद्वत्तापूर्ण हैं तथा बड़े परिश्रम से तैयार किए गए हैं। प्रारम्भ में भूमिका भी काफी अच्छी लिखी गई है। भारतीय पुरातत्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० विमलाचरण ला ने कुछ जैनसूत्रों के विषय में लेख लिखे। उनका संग्रह Some Canonical Jaina Sutras के नाम से रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी की वम्वई शाखा की ओर से प्रकाशित हुआ है। इन लेखों से जैनसूत्रों के अध्ययन की दिशा का

जो वैदिक और औपनिषदिक उद्धरणों से समलंकृत है। इस प्रकार पंडित जी का सम्पादन और अनुसंधान कार्य एक दृष्टि से पूरे भारतीय दर्शनशास्त्र पर हुआ है। जैनदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने की नवीन दिशा का निर्माण कर उन्होंने भारतीय वाङ्मय की बहुत बड़ी सेवा की है।

इस क्षेत्र में पंडित जी की परम्परा के निभाने वाले दो और मुख्य व्यक्ति हैं—पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य एवं पं० दलसुख मालवणिया। पं० महेन्द्रकुमार जी के सम्पादकत्व में प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चयविवरण, तत्त्वार्थ की श्रुतसागरी टीका आदि कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए। प्रमेयकमलमार्तण्ड जैन प्रमाणशास्त्र का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। पंडितजी ने इसका सम्पादन तुलनात्मक टिप्पणादि देकर किया है। इस ग्रन्थ के सम्पादन में काफी परिश्रम करना पड़ा है। इसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र का सम्पादन भी काफी महत्वपूर्ण है। इन दोनों बृहत्काय ग्रन्थों की प्रस्तावनाएँ ऐतिहासिक एवं दार्शनिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। न्यायविनिश्चयविवरण में अकलंक के मूल और वादिराज के विवरण की अन्य दर्शनों के साथ तुलना की गई है। प्रस्तावना में सम्पादक ने स्याद्वाद सम्बन्धी अनेक भ्रमों के निरसन का सफल प्रयत्न किया है। तत्त्वार्थ की श्रुतसागरी टीका की प्रस्तावना में अनेक दार्शनिक एवं अन्य विषयों की विशद चर्चा की गई है। उसका लोकवर्णन और भूगोल भाग विशेष महत्व का है। इस भाग में जैन, बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा के मन्तव्यों की तुलना की गई है।

पं० दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित न्यायावतार-वार्तिक-वृत्ति जैन न्याय का प्राचीन एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी मूल कारिकाएँ सिद्धसेनकृत हैं और उन पर पद्यबद्ध वार्तिक और उसकी गद्य वृत्ति दोनों शान्त्याचार्य कृत हैं, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं। सम्पादक पं० दलसुख मालवणिया ने इसकी विस्तृत भूमिका में आगमयुग से लेकर एक हजार वर्ष तक के जैनदर्शन के प्रमाण-प्रमेय विषयक चिन्तन एवं विकास का ऐतिहासिक व तुलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण विश्लेषण किया है। ग्रन्थ के अन्त में विद्वान् सम्पादक ने अनेक

विषयों पर टिप्पण लिखे हैं। भारतीय दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के लिए इनका विशेष महत्व है। ये ग्रन्थ भारतीय विद्या-भवन—बम्बई से प्रकाशित हुए हैं। पं० मालवणियाजी की दूसरी कृति गणधरवाद है। यह ग्रन्थ गुजरात विद्यासभा-अहमदाबाद की ओर से प्रकाशित हुआ है। उक्त ग्रन्थ विशेषावश्यक भाष्य के एक भाग के आधार से गुजराती भाषा में लिखा गया है। इसका मूल पाठ जैसलमेर भंडार की सबसे प्राचीन प्रति के आधार से तैयार किया गया है। इसकी प्रस्तावना तुलनात्मक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त जैनसंस्कृति संशोधन मंडल बनारस से प्रकाशित आगमयुग का अनेकान्तवाद, जैन आगम, जैनदार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन आदि पुस्तकें लेखक की विद्वत्तापूर्ण छोटी-छोटी कृतियाँ हैं।

प्रो० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित प्रवचनसार और प्रो० ए० चक्रवर्ती द्वारा अनूदित एवं सम्पादित समयसार भी विशेष महत्व रखते हैं। प्रवचनसार की लम्बी प्रस्तावना ऐतिहासिक एवं दार्शनिक दृष्टियों से भी विशेष महत्वपूर्ण है। यह प्रस्तावना अँग्रेजी में है। समयसार की भूमिका जैनदर्शन के महत्वपूर्ण विषयों से परिपूर्ण है। डा० हीरालाल जैन ने षड्खण्डागम धवला-टीका के सभी भागों का सम्पादन कर लिया है। पं०दरबारीलाल कोटिया कृत आप्तपरीक्षा का हिन्दी अनुवाद भी एक अच्छी कृति है। पूज्यपादकृत तत्त्वार्थ-सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका का संक्षिप्त संस्करण पं० चेनसुखदासजी ने तैयार किया है और इसका सम्पादन किया है सी० एस० मल्लिनाथ ने। इस संस्करण की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह है अन्त में दिये गए एक सौ छः पृष्ठ के अँग्रेजी टिप्पण। ये टिप्पण विद्वत्तापूर्ण हैं तथा बड़े परिश्रम से तैयार किए गए हैं। प्रारम्भ में भूमिका भी काफी अच्छी लिखी गई है। भारतीय पुरातत्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० विमलाचरण ला ने कुछ जैनसूत्रों के विषय में लेख लिखे। उनका संग्रह Some Canonical Jaina Sutras के नाम से रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की ओर से प्रकाशित हुआ है। इन लेखों से जैनसूत्रों के अध्ययन की दिशा का

ज्ञान होता है। आचार्य हेमचन्द्रकृत प्रमाणमीमांसा का अँग्रेजी अनुवाद डा० सातकौड़ी मुकर्जी और डा० नथमल टांटिया ने किया है। अनुवाद बहुत अच्छा बन पड़ा है। इसके अतिरिक्त डा० मुकर्जी की एक पुस्तक और प्रकाशित हुई है जिसका नाम है The Jaina Philosophy of Non-absolutism. इस पुस्तक में अनेकान्तवाद का तुलनात्मक विवेचन है। सामग्री व भाषा दोनों दृष्टियों से पुस्तक श्रेष्ठ है। मुनि लब्धिसूरि ने द्वादशारनयचक्र का सम्पादन किया है। आचार्य आत्मारामजी का 'जैनागमों में स्याद्वाद' भी स्याद्वाद-विषयक आगमिक उद्धरणों का अच्छा संग्रह है।

डा० नथमल टांटिया की पुस्तक Studies in Jaina Philosophy जैनदर्शन पर आधुनिक ढङ्ग की अद्वितीय पुस्तक है। यह पुस्तक जैनदर्शन के इतिहास में ही नहीं, भारतीय दर्शन के इतिहास में भी एक विशेष स्थान रखती है। इसमें अनेकान्त, ज्ञान, अविद्या, कर्म तथा योग पर विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। इसकी शैली बहुत रोचक है। लेखक का अध्ययन विशाल तथा अनेकांगी है। विवेचन स्पष्ट तथा निष्पक्ष है। अँग्रेजी में श्री चंपतराय, श्री जुगमंदिरलाल आदि की पुस्तकें भी साधारण कोटि के पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

मुनि पुण्यविजय जी ने आगम तथा साहित्य पर बहुत काम किया है। उन्होंने लींम्बड़ी, पाटन, बड़ौदा, जैसलमेर आदि कई भण्डारों को सुव्यवस्थित किया है। सम्पादन-संशोधन के लिए उपयोगी अनेक हस्तलिखित प्रतियों को सुलभ बनाया है। अनेक महत्वपूर्ण संस्कृत एवं प्राकृत के ग्रन्थों का संपादन भी किया है। ई० स० १९५० के प्रारम्भ में उन्होंने जैसलमेर पहुँचकर अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का उद्धार किया। सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थों के फोटो भी लिए[1]।

आधुनिक युग की प्रवृत्ति का इतना-सा विवरण काफी है। आज के बौद्धिक युग में इस प्रकार की प्रवृत्तियों के बिना जैन-

---

१—विशेष जानकारी के लिए देखिये-'श्रमण' व० ३ अं० १ में पं० सुखलालजी का लेख।

दर्शन की धारा का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से बहता रहे, यह असंभव है। प्रत्येक युग की एक विशिष्ट देन होती है। जो धारा उस देन से लाभ उठा सकती है वही आगे के युग में जीवित रह सकती है। प्रत्येक युग का संस्कार लिये बिना वह आगे नहीं बढ़ सकती। यद्यपि उसकी मौलिक प्रवृत्ति वही रहती है तथापि युग की परिवर्तित परिस्थिति एवं प्रवृत्ति का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ता है और यही प्रभाव उसे विविध रूपों में ढालता रहता है। उस प्रभाव का सामयिक उपयोग करने वाली विचारधारा हमेशा नूतन सन्देश देती रहती है। उसके सन्देश का आकार हमेशा बदलता रहता है, किन्तु उसका अंतरंग हमेशा एक-सा रहता है।

टिप्पणी – प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार होने के बाद जैनदर्शन पर कुछ ग्रन्थ और प्रकाशित हुए हैं। निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं—

१—जैनदर्शन—पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
२—Outlines of Jaina Philosophy. —M.L. Mehta
३—Jaina Psychology —M.L. Mehta

चार

जैन दर्शन में तत्त्व

जैन दृष्टि से लोक
सत् का स्वरूप
द्रव्य और पर्याय
भेदाभेदवाद
द्रव्य का वर्गीकरण
आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व
आत्मा का स्वरूप
ज्ञानोपयोग
दर्शनोपयोग
संसारी आत्मा
पुद्गल
अणु
स्कन्ध
पुद्गल का कार्य
पुद्गल और आत्मा
धर्म
अधर्म
आकाश
अद्धासमय

जैन दर्शन [illegible]

आदर्शवाद और यथार्थवाद की दृष्टि से [illegible] किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि जैन [illegible] है। [illegible] उसका यथार्थवादी दृष्टिकोण किसी [illegible] आदर्शवाद के बहुत [illegible] पहुँच जाता है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से जैन [illegible] यथार्थवाद का ही समर्थन करता है। जैन [illegible] प्रतिपादन करता हुआ भी चेतन और जड़ [illegible] करता है। इस प्रकार जैन दर्शन मूल में [illegible] है किन्तु वह [illegible] अनेकताश्रित है। अनेकता के [illegible] करना जैन दर्शन को कदापि अभीष्ट नहीं। [illegible] और [illegible] उभय तत्त्व सत् हैं इसलिए वे एक हैं। [illegible] हैं इसलिए वे अनेक हैं। इस प्रकार [illegible] और भौतिकता, चैतन्य और [illegible] जैन दर्शन की भूमिका समझने का [illegible] है। [illegible] का यथार्थवाद से क्या [illegible] है? [illegible] आगे समानता है? दोनों [illegible] है [illegible] स्पष्ट हो जाएँगी।

जैन दृष्टि से लोक

विश्व के सभी दर्शन किसी न किसी रूप में लोक का स्वरूप समझने का प्रयत्न करते हैं। दार्शनिक खोज के पीछे प्रायः एक ही हेतु होता है और वह हेतु है सम्पूर्ण लोक। कोई भी दार्शनिक धारा क्यों न हो, वह विश्व का स्वरूप समझने के लिए ही निरन्तर बढ़ती रहती है। यह ठीक है कि कोई धारा किसी एक पहलू पर अधिक भार देती है और कोई किसी दूसरे पहलू पर। पहलुओं के भेद के रहते हुए भी सबका विषय लोक ही होता है। सारे पहलू लोक के भीतर ही होते हैं। दूसरे शब्दों में विभिन्न पहलू व समस्याएँ लोक की ही समस्याएँ होती हैं। जिसे हम लोग लोकोत्तर समझते हैं वह भी वास्तव में लोक ही है। लोक को समझने के दृष्टिकोण जितने विभिन्न होते हैं उतनी ही विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएँ संसार में उत्पन्न होती रहती हैं।

जैन दर्शन में लोक का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है :—

गौतम—भगवन् ! लोक क्या है ?

महावीर—गौतम ! लोक पंचास्तिकाय रूप है। पंचास्तिकाय ये हैं : धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय[1]।

भगवतीसूत्र का उपर्युक्त संवाद यह बताता है कि पाँच अस्तिकाय ही लोक है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि महावीर ने लोक के स्वरूप में काल की गणना क्यों नहीं की ? जैन दर्शन के अन्य कई ग्रन्थों में काल का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकृत किया गया है, ऐसी दशा में महावीर ने लोक का स्वरूप बताते समय काल को पृथक् क्यों नहीं गिनाया ? स्वयं भगवतीसूत्र में ही अन्यत्र काल की स्वतन्त्र रूप से गणना की गई है[2], तो फिर उपरोक्त संवाद में काल को स्वतन्त्र रूप से क्यों नहीं गिनाया ?

इसका समाधान यही हो सकता है कि यहाँ पर काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य दोनों के

१—भगवतीसूत्र १३/४/४८१
२—२५/२; २५/४

अन्तर्गत मान लिया गया है। जीव और अजीव—चेतन और अचेतन दोनों का स्वरूप-वर्णन परिवर्तन के बिना अपूर्ण है। परिवर्तन का दूसरा नाम वर्तना भी है। वर्तना प्रत्येक द्रव्य का आवश्यक एवं अनिवार्य गुण है। वर्तना के अभाव में द्रव्य एकान्त रूप से नित्य हो जाएगा। एकान्त नित्य पदार्थ अर्थ क्रिया नहीं कर सकता। अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में पदार्थ असत् है। ऐसी स्थिति में वर्तना—परिणाम—क्रिया——परिवर्तन द्रव्य का आवश्यक धर्म है। प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से ही परिवर्तनशील है, अतः कालको स्वतन्त्र द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं। दूसरी बात यह मालूम होती है कि भगवतीसूत्र के उपर्युक्त संवाद में अस्तिकाय की दृष्टि से लोक का विचार किया गया है। जहाँ पर काल की स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत की गई है वहाँ उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया है। इसलिए महावीर ने पंचास्तिकाय में काल की पृथक् गणना नहीं की। काल-विषयक प्रश्न के ये दो समाधान हो सकते हैं। जहाँ पर काल की पृथक् गणना की गई है वहाँ पर छः द्रव्य गिनाये गए हैं। इन द्रव्यों का स्वरूप समझने से पहले हम तत्व का अर्थ समझ लें तो अच्छा रहेगा। तत्व का सामान्य अर्थ समझ लेने पर तत्व के भेद रूप द्रव्यों का स्वरूप समझना ठीक होगा।

जैनाचार्य सत्, तत्त्व, अर्थ, द्रव्य, पदार्थ, तत्त्वार्थ, आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में करते रहे हैं। जैन दर्शन में तत्त्व-सामान्य के लिए इन सभी शब्दों का प्रयोग हुआ है। अन्य दर्शनों में इन शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ हो, ऐसा नहीं मिलता। वैशेषिकसूत्र में द्रव्यादि छः को पदार्थ कहा है[1], किन्तु अर्थसंज्ञा द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों की ही रखी गई है।[2] सत्ता के समवाय सम्बन्ध से द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों को ही सत् कहा गया है[3]। न्यायसूत्र में आनेवाले प्रमाणादि सोलह तत्त्वों के

१—१/१/४
२—८/२/३
३—१/१/८

परिवर्तन-सूचक। किसी भी वस्तु के दो रूप होते हैं–एकता और अनेकता, नित्यता और अनित्यता, स्थायित्व और परिवर्तन, सदृशता और विसदृशता। इनमें से प्रथम पक्ष ध्रौव्य सूचक है—गुणसूचक है। द्वितीय पक्ष उत्पाद और व्यय सूचक है—पर्याय सूचक है। वस्तु के स्थायित्व में एकरूपता होती है, स्थिरता होती है। परिवर्तन में पूर्व रूप का विनाश होता है, उत्तर रूप की उत्पत्ति होती है। वस्तु के विनाश और उत्पाद में व्यय और उत्पत्ति के रहते हुए भी वस्तु सर्वथा नष्ट नहीं होती और न सर्वथा नवीन ही उत्पन्न होती है। विनाश और उत्पाद के बीच एक प्रकार की स्थिरता रहती है, जो न तो नष्ट होती है और न उत्पन्न। यह जो स्थिरता या एकरूपता है वही ध्रौव्य है—नित्यता है। इसी को तद्भावाव्यय' कहते हैं। यही नित्य का लक्षण है।[१] आचार्य कुन्द-कुन्द ने द्रव्य की व्याख्या इस प्रकार की :—जो अपरित्यक्त स्वभाव-वाला है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है, गुण और पर्याययुक्त है वही द्रव्य है।[२] द्रव्य और सत् एक ही है इसलिए यही लक्षण सत् का भी है। तत्त्वार्थ के उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् 'गुण-पर्यायवद द्रव्यम्' और 'सद्भावाव्ययं नित्यम्' इन तीनों सूत्रों को एक ही गाथा में बाँध दिया। सत्ता का लक्षण बताते हुए अन्यत्र भी उन्होंने यही बात लिखी है।[३] इस प्रकार जैन दर्शन में सत् एकान्तरूप से नित्य या अनित्य नहीं माना गया है। वह कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। गुण अथवा अन्वय की अपेक्षा से वह नित्य है और पर्याय की दृष्टि से वह अनित्य है। कूटस्थ नित्य होने से उसमें तनिक भी परिवर्तन नहीं हो सकता और सर्वथा अनित्य होने

१—तत्त्वार्थसूत्र ५।३०

२—अपरिचत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवतसंजुत्तं।
गुणवं चसपज्जायं, जं तं दव्वंति वुच्चंति॥
—प्रवचनसार २।३

३—सत्ता सव्वपयत्था, सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता, सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥
—पंचास्तिकाय, गा० ८

से उसमें थोड़ी सी भी एकरूपता नहीं रह सकती। ऐसी दशा में वस्तु नित्य और अनित्य उभयात्मक होनी चाहिए। जैनदर्शन-सम्मत यह लक्षण अनुभव से अव्यभिचारी है।

जैन दर्शन सदसत्कार्यवादी है, अतः वह उत्पाद की व्याख्या इस प्रकार करता है :—स्वजाति का परित्याग किए विना भावान्तर का ग्रहण करना उत्पाद है। मिट्टी का पिण्ड घटपर्याय में परिणत होता हुआ भी मिट्टी ही रहता है। मिट्टीरूप जाति का परित्याग किए विना घटरूप भावान्तर का जो ग्रहण है, वही उत्पाद है। इसी प्रकार व्यय का स्वरूप वताते हुए कहा गया है कि स्वजाति का परित्याग किए बिना पूर्वभाव का जो विगम है, वह व्यय है। घट की उत्पत्ति में पिण्ड की आकृति का विगम व्यय का उदाहरण है। पिण्ड जब घट वनता है तब उसकी पूर्वाकृति का व्यय हो जाता है। इस व्यय में मिट्टी वही बनी रहती है। केवल आकृति का नाश होता है। मिट्टी की पर्याय परिवर्तित हो जाती है, मिट्टी वही रहती है। अनादि पारिणामिक स्वभाव के कारण वस्तु का सर्वथा नाश न होना ध्रुवत्व है। उदाहरण के लिए पिण्डादि अवस्थाओं में मिट्टी का जो अन्वय है वह ध्रौव्य है।[1] इन तीनों दशाओं के जो उदाहरण दिए गए हैं वे केवल समझने के लिए हैं। मिट्टी हमेशा मिट्टी ही रहे, यह आवश्यक नहीं। जैन दर्शन पृथ्वी आदि परमाणुओं को नित्य नहीं मानता। परमाणु एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को ग्रहण कर सकता है। जड़ और चेतन का जो विभाग है, जीव का भव्य और अभव्य सम्बन्धी जो विभाग है, वह नित्य कहा जा सकता है।

सत् और द्रव्य को एकार्थक मानने की परम्परा पर दार्शनिक दृष्टि का प्रभाव मालूम होता है। जैन आगमों में सत् शब्द का प्रयोग द्रव्य के लक्षण के रूप में नहीं हुआ है। वहाँ द्रव्य को ही तत्त्व कहा गया है और सत् के स्वरूप का सारा वर्णन द्रव्य-वर्णन के रूप में रखा गया है। अनुयोगद्वार सूत्र में तत्त्व का सामान्य लक्षण

१—सर्वार्थसिद्धि ५/३०

द्रव्य माना गया है और विशेष लक्षण के रूप में जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य माने गए हैं।[1] वाचक उमास्वाति आगमिक मान्यता को दर्शन के स्तर पर लाए और उन्होंने द्रव्य को सत् कहा। उनकी दृष्टि में सत् और द्रव्य में कोई भेद न था। आगम की मान्यता के अनुसार भी सत् और द्रव्य में कोई भेद नहीं है किन्तु इस सिद्धान्त का आगमकाल में सुस्पष्ट प्रतिपादन न हो सका। उमास्वाति ने दार्शनिक पुट देकर इसे स्पष्ट किया।

'सत्' शब्द का अर्थ वाचक ने अन्य परम्पराओं से भिन्न रखा। न्यायवैशेषिक आदि वैदिक परम्पराएँ सत्ता को कूटस्थ नित्य मानती हैं। इन परम्पराओं के अनुसार सत्ता सर्वदा एकरूप रहती है। उसमें तनिक भी परिवर्तन की सम्भावना नहीं रहती। जो परिवर्तित होती है वह सत्ता नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में नैयायिक और वैशेषिक सत्ता को सामान्य नामक एक भिन्न पदार्थ मानते हैं, जो सर्वदा एकरूप रहता है, जो कूटस्थ नित्य है, जिसमें किंचित् भी परिवर्तन नहीं होता। उमास्वाति ने सत् को केवल नित्य ही न माना, अपितु परिवर्तनशील भी माना। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों का अविरोधी समन्वय ही सत् का लक्षण है। उत्पाद और व्यय अनित्यता के सूचक हैं तथा ध्रौव्य नित्यता का सूचक है। नित्यता का लक्षण कूटस्थ नित्य न होकर तद्भावाव्यय है। तद्भावाव्यय का क्या अर्थ है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि जो अपने भाव को न तो वर्तमान में छोड़ता है और न भविष्य में छोड़ेगा, वह नित्य है और वही तद्भावाव्यय है।[2] उत्पाद और व्यय के बीच में जो हमेशा रहता है, वह तद्भावाव्यय है। सत्ता नामक कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, जो हमेशा एक सा रहता है। वस्तु स्वयं ही त्रयात्मक है। तत्त्व स्वभाव से ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हैं। पदार्थ स्वतः सत् है। सत्ता सामान्य के सम्बन्ध से सत् मानने में अनेक दोषों का सामना करना पड़ता है। जो सत् है वही पदार्थ है क्योंकि जो सत्

१—'अविसेसिए दव्वे, विसेसिए जीवदव्वे अजीवदव्वे य—सू० १२३

२—'यत् सतो भावान्न व्येति न व्येष्यति, तन्नित्यम्।

—तत्त्वार्थभाष्य ५।३०

न हो और फिर भी पदार्थ हो, यह परस्पर विरोधी बात है। जो सर्वथा असत् है वह सत्ता के सम्बन्ध से भी सत् नहीं हो सकता, जैसे गगनारविन्द। सत् और असत् से भिन्न कोई ऐसी कोटि नहीं, जिसमें पदार्थ रखा जा सके। इसलिए द्रव्य न स्वतः सत् है, न स्वतः असत् है, किन्तु सत्ता के सम्बन्ध से सत् है, यह कहना ठीक नहीं। द्रव्य सत् होकर ही द्रव्य हो सकता है। जो सत् न हो वह द्रव्य नहीं हो सकता। सत्ता नामक कोई ऐसा पदार्थ उपलब्ध नहीं होता जिसके सम्बन्ध से द्रव्य सत् होता हो। कदाचित् ऐसा पदार्थ मान भी लिया जाय, फिर भी समस्या हल नहीं हो सकती, क्योंकि उस पदार्थ का खुद का अस्तित्व खतरे में है। वह स्वतः सत् है या नहीं ? यदि वह स्वतः सत् है तो यह सिद्धान्त कि 'पदार्थ सत्ता के सम्बन्ध से ही सत् होता है' खण्डित हो जाता है। यदि वह स्वतः सत् नहीं है और उसकी सत्ता के लिए किसी अन्य सत्ता की आवश्यकता रहती है तो अनवस्था दोष का सामना करना पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में यही अच्छा है कि प्रत्येक पदार्थ को स्वभाव से ही सत् माना जाय और सत् और पदार्थ में कोई भेद न माना जाय।

द्रव्य और पर्याय :

द्रव्य शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उनमें से सत्, तत्त्व अथवा पदार्थ–परक अर्थ पर हम विचार कर चुके हैं। जैन साहित्य में द्रव्य शब्द का प्रयोग सामान्य के लिए भी हुआ है। जाति अथवा सामान्य को प्रकट करने के लिए द्रव्य और व्यक्ति अथवा विशेष को प्रकट करने के लिए पर्याय शब्द का प्रयोग किया जाता है।

द्रव्य अथवा सामान्य दो प्रकार का है—तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। एक ही काल में स्थित अनेक देश में रहने वाले अनेक पदार्थों में जो समानता की अनुभूति होती है वह तिर्यक् सामान्य है। जब हम कहते हैं कि जीव और अजीव दोनों सत् हैं, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य हैं, तब हमारा अभिप्राय तिर्यक् सामान्य से है। जब हम कहते हैं कि जीव दो प्रकार का है—संसारी और सिद्ध। संसारी जीव के पाँच भेद हैं–एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियादि। पुद्गल चार प्रकार का है—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध-

प्रदेश और परमाणु। इसी प्रकार अन्य प्रकार के सामान्यमूलक भेदों में तिर्यक् सामान्य अभीप्सित है। एक जाति का जहाँ निर्देश होता है, अनेक व्यक्तियों में एक सामान्य जहाँ विवक्षित होता है, वहाँ तिर्यक् सामान्य समझना चाहिए।

जब कालकृत नाना अवस्थाओं में किसी विशेष द्रव्य का एकत्व या अन्वय विवक्षित हो, एक विशेष पदार्थ की अनेक अवस्थाओं की एक एकता या ध्रौव्य अपेक्षित हो, तब उस एकत्व अथवा ध्रौव्य सूचक अंश को ऊर्ध्वता सामान्य कहा जाता है। उदाहरण के लिए जब यह कहा जाता है कि जीव द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है[1] और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत है, तब जीव द्रव्य का अर्थ ऊर्ध्वता सामान्य से है। जब यह कहते हैं कि अव्युच्छित्ति नय की अपेक्षा से नारक शाश्वत है[2], तब अव्युच्छित्ति नय का विषय जीव ऊर्ध्वता सामान्य से विवक्षित है। इस प्रकार जहाँ किसी जीव-विशेष या अन्य पदार्थ-विशेष की अनेक अवस्थाओं का वर्णन किया जाता है वहाँ एकत्व अथवा अन्वय सूचक पद ऊर्ध्वता सामान्य की दृष्टि से प्रयुक्त होता है।

जिस प्रकार द्रव्य या सामान्य दो प्रकार का है उसी प्रकार पर्याय अथवा विशेष भी दो प्रकार का है। तिर्यक् सामान्य के साथ रहने वाले जो विशेष विवक्षित हों वे तिर्यक् विशेष हैं और ऊर्ध्वता सामान्याश्रित जो पर्याय हों वे ऊर्ध्वता विशेष हैं। अनेक देश में भिन्न भिन्न जो द्रव्य या पदार्थविशेष हैं वे तिर्यक् सामान्य की पर्यायें हैं। वे तिर्यक् विशेष हैं। अनेक काल में एक ही द्रव्य की अर्थात् ऊर्ध्वता सामान्य की जो विभिन्न अवस्थाएँ हैं—जो अनेक विशेष अथवा पर्याय हैं वे ऊर्ध्वता विशेष हैं। जीवपर्याय कितने हैं? इसके उत्तर में महावीर ने कहा कि जीवपर्याय अनन्त हैं। यह कैसे? इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा कि असंख्यात नारक हैं, असंख्यात असुरकुमार हैं, यावत् असंख्यात स्तनितकुमार

१—भगवतीसूत्र ७।२।२७३

२—भगवतीसूत्र ७।३।२७६

हैं, असंख्यात पृथ्वीकाय हैं, यावत् असंख्यात वायुकाय हैं, अनन्त वनस्पति हैं, असंख्यात द्वीन्द्रिय हैं, यावत् असंख्यात मनुष्य हैं, असंख्यात वाणव्यन्तर हैं यावत् अनन्त सिद्ध हैं। यही कारण है कि जीव पर्याय अनन्त हैं।[1] इस चर्चा में जो पर्याय विवक्षित हैं, वे तिर्यक् विशेष की अपेक्षा से हैं, क्योंकि ये पर्याय अनेक देश में रहने वाले विभिन्न जीवों से सम्बन्धित हैं। इनमें सभी जीवों का समावेश हो जाता है, अतः अनेक जीवाश्रित पर्याय होने से तिर्यक् विशेष हैं।

ऊर्ध्वता विशेष की दृष्टि से सोचने पर विशेष का आधार दूसरा हो जाता है। यदि हम कहें कि प्रत्येक जीव के अनन्त पर्याय हैं और किसी जीव-विशेष के विषय में सोचें तो हमारा दृष्टिकोण ऊर्ध्वता विशेष को विषय करता है। उदाहरण के तौर पर एक नारक जीव को लेते हैं। उसके अनन्त पर्याय होते हैं। जीव-सामान्य के अनन्त पर्यायों का कथन तिर्यक् सामान्याश्रित पर्याय की दृष्टि से है, किन्तु विशेष नारकादि के अनन्त पर्याय का कथन ऊर्ध्वता सामान्याश्रित पर्याय की दृष्टि से है। एक नारक-विशेष के अनन्त पर्याय कैसे हो सकते हैं, इसका स्पष्टीकरण यों है :—

एक नारक दूसरे नारक से द्रव्य की अपेक्षा से तुल्य है। प्रदेशों की अपेक्षा से भी तुल्य है। अवगाहना की अपेक्षा से स्यात् चतुःस्थान से हीन, स्यात् तुल्य, स्यात् चतुःस्थान से अधिक है। स्थिति की अपेक्षा से अवगाहना के समान है किन्तु श्यामवर्ण पर्याय की अपेक्षा ये स्यात् षट्स्थान हीन, स्यात् तुल्य, स्यात् षट्स्थान अधिक है। इसी प्रकार शेष वर्णपर्याय, दोनों गन्धपर्याय, पाँचों रसपर्याय, आठों स्पर्शपर्याय, मतिज्ञान और मत्यज्ञानपर्याय, श्रुतज्ञान और श्रुताज्ञान-पर्याय, अवधिज्ञान और विभंगज्ञानपर्याय, चक्षुर्दर्शनपर्याय, अचक्षुर्दर्शन-पर्याय, अवधिदर्शनपर्याय—इन सभी पर्यायों की अपेक्षा से स्यात् षट्स्थान पतित हीन है, स्यात् तुल्य है, स्यात् षट्स्थान पतित अधिक है। इसीलिए नारक के अनन्त पर्याय कहे जाते हैं।[2] द्रव्यदृष्टि से

१—भगवती सूत्र २५।५

२—प्रज्ञापनासूत्र ५।२४८

प्रत्येक नारक समान है। आत्मा के प्रदेश भी सबके असंख्यात हैं। शरीर की दृष्टि से एक नारक का शरीर दूसरे नारक के शरीर से छोटा भी हो सकता है, समान भी हो सकता है और बड़ा भी हो सकता है, शरीर की असमानता असंख्यात प्रकार की हो सकती है। सर्व जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होगी। क्रमशः एक-एक भाग की वृद्धि से सर्वोत्कृष्ट ५०० धनुष प्रमाण तक पहुँचती है। इसके बीच के प्रकार असंख्यात होंगे। अतः अवगाहना की अपेक्षा से नारक के असंख्यात प्रकार हो सकते हैं। यही बात आयु के विषय में भी कही जा सकती है। यह तो सामान्य बात हुई। एक नारक के जो अनन्त पर्याय कहे गए हैं वे कैसे? शरीर और आत्मा को कथंचित् अभिन्न मानकर वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श को भी नारक के पर्याय मानकर सोचा जाय तो नारक के अनन्तपर्याय हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि किसी भी गुण के अनन्त भेद माने गये हैं। यदि हम किसी एक वर्ण को लें और कोई भाग एक गुण श्याम हो, कोई द्विगुण श्याम हो, कोई त्रिगुण श्याम हो और इस प्रकार उसका अनन्तवाँ भाग अनन्त गुण श्याम हो तो वर्ण के अनन्त पर्याय सिद्ध हो सकते हैं। अन्य वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के विषय में भी यही बात घटाई जा सकती है। यह तो भौतिक अथवा पौद्गलिक गुणों की बात हुई। ज्ञानादि आत्मगुणों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। आत्मा के ज्ञानादि गुण की तरतमता की मात्राओं का विचार करने से अनन्तप्रकारता की सिद्धि हो सकती है। ये सारे भेद एक नारक में कालभेद से घट सकते हैं। ऊर्ध्वता-सामान्याश्रित पर्याय कालभेद के आधार से ही होते हैं। एक जीव कालभेद से अनेक पर्यायों को धारण करता है। ये पर्याय ऊर्ध्वतासामान्याश्रित विशेष हैं। यही ऊर्ध्वताविशेष का लक्षण है।

द्रव्य के ऊर्ध्वतासामान्याश्रित पर्यायों को परिणाम भी कहा जाता है। भगवतीसूत्र और प्रज्ञापनासूत्र में इस प्रकार के परिणामों का वर्णन है। विशेष और परिणाम दोनों द्रव्य के पर्याय हैं क्योंकि दोनों परिवर्तनशील हैं। परिणाम में काल-भेद की

प्रधानता रहती है, जब कि विशेष में देश-भेद मुख्य होता है। जो काल की दृष्टि से परिणाम है वे ही देश की दृष्टि से विशेष हैं। इस प्रकार पर्याय, विशेष, परिणाम, उत्पाद और व्यय प्रायः एकार्थक हैं। द्रव्य-विशेष की विविध अवस्थाओं में इन सभी शब्दों का समावेश हो जाता है।

द्रव्य और पर्याय का स्वरूप समझ लेने के बाद यह जानना भी आवश्यक है कि द्रव्य और पर्याय का सम्बन्ध क्या है? द्रव्य और पर्याय भिन्न हैं या अभिन्न? इस प्रश्न को सामने रखते हुए महावीर ने जो विचार हमारे सामने रखे उन पर एक सामान्य दृष्टि डालना ठीक होगा। भगवतीसूत्र में पार्श्वनाथ के शिष्यों और महावीर के शिष्यों में हुए एक विवाद का वर्णन है। पार्श्वनाथ के शिष्य यह कहते हैं कि उनके प्रतिपक्षी सामायिक का अर्थ नहीं जानते। महावीर के शिष्य उन्हें समझाते हैं—आत्मा ही सामायिक है। आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।[1] यहाँ पर आत्मा एक द्रव्य है और सामायिक आत्मा की अवस्था विशेष है अर्थात् पर्याय है। सामायिक आत्मा से भिन्न नहीं है अर्थात् पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं है। यह द्रव्य और पर्याय की अभेददृष्टि है। इस दृष्टि का समर्थन आपेक्षिक है। किसी अपेक्षा से आत्मा और सामायिक दोनों एक हैं, क्योंकि सामायिक आत्मा की ही एक अवस्था है—आत्म-पर्याय है, अतः सामायिक आत्मा से अभिन्न है। अन्यत्र द्रव्य और पर्याय के भेद का भी समर्थन किया गया है। 'अस्थिर पर्याय का नाश होने पर भी द्रव्य स्थिर रहता है'[2], इस वाक्य से स्पष्ट भेद-दृष्टि झलकती है। यदि द्रव्य और पर्याय का सर्वथा अभेद होता तो पर्याय के नष्ट होते ही द्रव्य भी नष्ट हो जाता। इसका अर्थ यह है कि पर्याय ही द्रव्य नहीं है। द्रव्य और पर्याय कथंचित् भिन्न भी हैं। द्रव्य की पर्यायें बदलती रहती हैं, किन्तु द्रव्य [illegible]

१—आया णे अज्जो ! सामाइए, आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे।
—भगवती १।९

२—से नूणं भंते अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ...
—भगवती १।९

में नहीं बदलता। द्रव्य का गुण कभी नष्ट नहीं होता, भले ही उसकी अवस्थाएँ मिटती रहें और पैदा होती रहें। पर्यायदृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय के भेद का समर्थन किया जा सकता है और द्रव्य-दृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय के अभेद की पुष्टि की जा सकती है। दृष्टि-भेद से द्रव्य और पर्याय के भेद और अभेद की कल्पना करना ही महावीर को अभीष्ट था।

इस प्रकार आत्मा और ज्ञान के विषय में भी महावीर ने वही बात कही।[१] ज्ञान आत्मा का एक परिणाम है। वह सदैव बदलता रहता है। ज्ञान की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है किन्तु आत्मद्रव्य तो वही रहता है। ऐसी अवस्था में ज्ञान और आत्मा भिन्न हैं। ज्ञान की आत्मा से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह आत्मा की ही एक अवस्था-विशेष है। इस दृष्टि से ज्ञान और आत्मा अभिन्न हैं। यदि आत्मा और ज्ञान में एकान्त अभेद होता तो ज्ञान के नाश के साथ-ही-साथ आत्मा का भी नाश हो जाता। ऐसी अवस्था में एक शाश्वत आत्मद्रव्य की उपलब्धि न होती। यदि ज्ञान और आत्मा में एकान्त भेद होता तो एक व्यक्ति के ज्ञान और दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में कोई अन्तर न होता। एक व्यक्ति के ज्ञान की स्मृति दूसरे व्यक्ति को हो जाती अथवा उस व्यक्ति के ज्ञान का स्मरण उसे खुद को भी न हो पाता। ऐसी अवस्था में ज्ञान के क्षेत्र में अराजकता और अव्यवस्था हो जाती। इसलिए ज्ञान और आत्मा का कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद मानना ही उचित है। द्रव्य-दृष्टि से ज्ञान और आत्मा का अभेद मानना चाहिए, और पर्याय-दृष्टि से दोनों का भेद मानना चाहिए।

आत्मा के आठ भेदों की बात भगवतीसूत्र में कही गई है। गौतम महावीर से पूछते हैं—हे भगवन्! आत्मा के कितने प्रकार हैं? महावीर उत्तर देते हैं—हे गौतम! आत्मा आठ प्रकार का कहा गया है। वे आठ प्रकार ये हैं—द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और

१—आचारांगसूत्र १।५।५

वीर्यात्मा ।[1] ये भेद द्रव्य और पर्याय दोनों दृष्टियों से हैं। द्रव्यात्मा द्रव्यदृष्टि से और शेष सात पर्यायदृष्टि से हैं। इस प्रकार की अनेक चर्चाएँ जैन दार्शनिक साहित्य में मिलती हैं, जिनसे द्रव्य और पर्याय के सम्बन्ध का पता लगता है। द्रव्य और पर्याय एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए हैं कि एक के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव है। द्रव्य-रहित पर्याय की उपलब्धि नहीं हो सकती उसी प्रकार पर्याय-रहित द्रव्य की उपलब्धि भी असम्भव है। जहाँ पर्याय होगा वहाँ द्रव्य अवश्य होगा और जहाँ द्रव्य होगा वहाँ उसका कोई-न कोई पर्याय अवश्य होगा।

भेदाभेदवाद:

दर्शन के क्षेत्र में भेद और अभेद को लेकर मुख्य रूप से चार पक्ष बन सकते हैं। एक पक्ष केवल भेद का समर्थन करता है, दूसरा पक्ष केवल अभेद को स्वीकृत करता है, तीसरा पक्ष भेद और अभेद दोनों को मानता है, चौथा पक्ष भेद-विशिष्ट अभेद का समर्थन करता है।

भेदवादी किसी भी पदार्थ में अन्वय नहीं मानता। प्रत्येक क्षण में भिन्न भिन्न तत्त्व और भिन्न भिन्न ज्ञान की सत्ता में विश्वास करता है। उसकी दृष्टि में भेद को छोड़कर किसी भी प्रकार का तत्त्व निर्दोष नहीं होता। जहाँ भेद होता है वहीं वास्तविकता रहती है। भारतीय दर्शन में वैभाषिक और सौत्रान्तिक इस पक्ष के प्रबल समर्थक हैं। वे क्षण-भंगवाद को ही अन्तिम सत्य मानते हैं। प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। प्रत्येक क्षण में पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश होता है। कोई भी वस्तु चिरस्थायी नहीं है। जहाँ स्थायित्व नहीं वहाँ अभेद कैसे हो सकता है? ज्ञान और पदार्थ दोनों क्षणिक हैं। जिसे हम आत्मा कहते हैं वह पंचस्कन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं

१—कइविहा णं भन्ते आया पण्णत्ता ? गोयमा ! अट्ठविहा आया पण्णत्ता। तं जहा—दवियाया, कसायाया, जोगाया, उवओगाया, णाणाया दंसणाया, चरित्ताया, वीरियाया।

—भगवतीसूत्र, १२।१०।४६६

अभेदवाद का समर्थन करने वाले भेद को मिथ्या कहते हैं। उनकी दृष्टि में एकत्व का ही मूल्य है, अनेकरूपता की कोई कीमत नहीं। जितने भेद या अनेक रूप हैं, सब मिथ्या हैं। हमारा अज्ञान भेद की प्रतीति में कारण है। अविद्याजनित संस्कारों के कारण भेद और अनेकरूपता की प्रतीति होती है। ज्ञानियों की प्रतीति हमेशा अभेद-मूलक होती है। तत्त्व अभेद में ही है, भेद में नहीं। दूसरे शब्दों में अभेद ही तत्त्व है। भारतीय परम्परा में उपनिषद् और वेदान्त के कुछ समर्थक अभेदवाद का समर्थन करते हैं। अभेदवादी एक ही तत्त्व मानता है क्योंकि अभेद की अन्तिम सीमा एकत्व है। वह एकत्व अपने-आप में पूर्ण व अनन्त होता है। जहाँ पूर्णता होती है वहाँ एकत्व ही होता है, क्योंकि दो कदापि पूर्ण नहीं हो सकते। जहाँ दो होते हैं वहाँ दोनों अपूर्ण व सीमित होते हैं। असीम व पूर्ण एक ही हो सकता है। इसी हेतु के आधार पर भारतीय आदर्शवाद का प्रबल समर्थक अद्वैत वेदान्त एक तत्त्व में विश्वास रखता है। विज्ञानवाद और शून्यवाद की अन्तिम भूमिका में भी इसी विचारधारा के दर्शन होते हैं।

पाश्चात्य परम्परा में पारमैनेड्स अभेदवाद का प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। उसने कहा कि परिवर्तन वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह बदल जाता है। जो वस्तु वास्तविक एवं सत्य है वह कदापि नहीं बदल सकती। जो बदल जाती है वह सत्य नहीं हो सकती। इन सारे परिवर्तनों के बीच में जो नहीं बदलता है वही सत्य है। जो अपरिवर्तनशील है वह सत् है, जो परिवर्तनशील है वह असत् है। जो सत् है वही वास्तविक है। जो असत् है वह वास्तविक नहीं है। जो सत् है वह हमेशा मौजूद है क्योंकि वह पैदा नहीं हो सकता। यदि सत् पैदा होता है तो वह असत् से पैदा होगा, किन्तु असत् से सत् पैदा नहीं हो सकता।[1] यदि सत् सत् से पैदा होता है तो वह पैदा नहीं होता क्योंकि वह स्वयं सत् है। पैदा तो वह होता है, जो सत् न हो। जो सत् न हो वह पैदा हो ही नहीं

१—Ex nihilo nihil fit.

सकता; इसलिए जो वास्तविक है वह सब सत् है। सत् होने से सब एक है। जो सत् है वह सत् ही है, अतः वहाँ भेद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ कोई भेद नहीं है वहाँ अभेद ही है। इस प्रकार अभेदवाद की सिद्धि करने वाला पारमैनैड्स भेद को इन्द्रियजन्य भ्रान्ति बताता है। जितने भेद दृष्टिगोचर होते हैं सब इन्द्रियों के कारण हैं। हेराक्लैटस ने अभेद की प्रतीति में जो कारण बताया, पारमैनैड्स ने वही कारण भेद की प्रतीति में दिया। अभेद की प्रतीति ही सच्ची प्रतीति है और वह हेतुवाद के आधार पर सिद्ध की जा सकती है। यह बात पारमैनैड्स ने कही। जैनों ने अनेकता का तर्कसंगत खण्डन किया और एकता के आधार पर अभेद की स्थापना की।

तीसरा पक्ष भेद और अभेद दोनों का समर्थन करता है, भेद और अभेद दोनों को स्वतन्त्र रूप से सत् मानकर दोनों में सम्बन्ध स्थापित करता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन सामान्य और विशेष नाम के दो भिन्न-भिन्न पदार्थ मानता है। वे दोनों पदार्थ स्वतन्त्र एवं एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। किसी सम्बन्ध विशेष के आधार पर सामान्य और विशेष मिल जाते हैं। सामान्य एकता का सूचक है। विशेष भेद का सूचक है। वस्तु में भेद और अभेद विशेष और सामान्य के कारण होते हैं। एकता की प्रतीत अभेद के कारण है—सामान्य के कारण है। सब गायों में गोत्व सामान्य रहता है, इसलिए सब में "गो"—गौ ऐसी एकाकार प्रतीति होती है। यही प्रतीति एकता की प्रतीति है। उसी प्रकार सब गाएँ व्यक्तिगत रूप से अलग भी मालूम होती हैं। उनका अपना भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व है। जाति और व्यक्ति का सम्बन्ध ही भेद और अभेद की प्रतीति है। वैसे दोनों एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं, किन्तु समवाय सम्बन्ध के कारण दोनों मिले हुए मालूम होते हैं। इस प्रकार भेद और अभेद को भिन्न मानने वाला पक्ष दोनों को सम्बन्ध-विशेष से मिला देता है, किन्तु वास्तव में दोनों को भिन्न मानता है। यद्यपि जाति और

व्यक्ति कभी भिन्न भिन्न उपलब्ध नहीं होते, क्योंकि वे अयुत सिद्ध हैं।[1] तथापि दोनों स्वतन्त्र एवं एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं।

चौथा पक्ष भेदविशिष्ट अभेद का है। इसके दो भेद हो जाते हैं। एक के मत से अभेद प्रधान रहता है और भेद गौण हो जाता है। उदाहरण के लिए रामानुज का विशिष्टाद्वैत लीजिए। रामानुज के मत से तीन तत्त्व अन्तिम और वास्तविक हैं—अचित्, चित् और ईश्वर। ये तीन तत्त्व "तत्त्वत्रय" के नाम से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि तीनों तत्त्व समानरूप से सत् एवं वास्तविक हैं तथापि अचित् और चित् ईश्वराश्रित हैं। यद्यपि वे अपने आप में द्रव्य हैं किन्तु ईश्वर के सम्बन्ध की दृष्टि से वे उसके गुण हो जाते हैं। वे ईश्वर-शरीर कहे जाते हैं और ईश्वर उनकी आत्मा है। इस प्रकार ईश्वर चिदाचिद्विशिष्ट है। चित् और अचित् ईश्वर के शरीर का निर्माण करते हैं और तदाश्रित हैं[2]। इस मत के अनुसार भेद की सत्ता तो अवश्य रहती है किन्तु अभेदाश्रित होकर। अभेद प्रधानरूप से रहता है और भेद तदाश्रित होकर गौण रूप से। भेद का स्थान स्वतन्त्र न होकर अभेद पर अवलम्बित है। भेद परतंत्र होता है और अभेद स्वतंत्र भेद अभेद की दया पर जीता है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व मान्य नहीं होता। भेद और अभेद को भिन्न मानने वाला पक्ष दोनों को स्नतंत्र रूप से सत् मानता है, जब कि उपर्युक्त पक्ष अभेद को प्रधान मान कर भेद को गौण एवं पराश्रित बना देता है। उसकी दृष्टि में अभेद का विशेष महत्त्व रहता है। भेद की मानता तो है, किन्तु इसलिए कि वह अभेद के आधार पर टिका हुआ है।

जैन दृष्टि इससे भिन्न है। भेद और अभेद का सच्चा समन्वय जैन दर्शन की विशिष्ट देन है। जब हम भेदाभेदवाद की व्याख्या करते हैं तो उसका अर्थ होता है—भेदविशिष्ट अभेद और अभेद विशिष्ट भेद। भेद और अभेद दोनों समानरूप से सत् हैं। जिस

१—अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां इहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः स समवायः।
—स्याद्वादमंजरी, का० ७

२—'सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना। —श्रीभाष्य २, १, ६

प्रकार अभेद वास्तविक है ठीक उसी प्रकार भेद वास्तविक है। तत्त्व की दृष्टि से जो स्थान अभेद का है, ठीक वही स्थान भेद का है। भेद और अभेद दोनों इस ढंग से मिले हुए हैं कि एक के बिना दूसरे की उपलब्धि नहीं हो सकती। वस्तु में दोनों का अविच्छेद समन्वय है। जहाँ भेद है वहाँ अभेद है और जहाँ अभेद है वहाँ भेद है। भेद और अभेद किसी सम्बन्ध विशेष से जुड़े हों, ऐसी बात नहीं है। वे तो स्वभाव से ही एक दूसरे से मिले हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वभाव से ही सामान्य-विशेषात्मक है—भेदाभेदात्मक है—नित्यानित्यात्मक है। जो सत् है वह भेदाभेदात्मक है। प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। वस्तु या तत्त्व को केवल भेदात्मक कहना ठीक नहीं, क्योंकि कोई भी भेद अभेद के विना उपलब्ध नहीं होता। अभेद को मिथ्या या कल्पना मात्र कहना काफी नहीं जब तक कि वह किसी प्रमाण से मिथ्या सिद्ध न हो। प्रमाण का आधार अनुभव है और अनुभव अभेद को मिथ्या सिद्ध नहीं करता। इसी प्रकार एकान्त अभेद को मानना भी ठीक नहीं क्योंकि जो दोष एकान्त भेद में है वही दोष एकान्त अभेद में भी है। भेद और अभेद को दो स्वतंत्र पदार्थ मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न उपलब्ध नहीं होते और उनको जोड़ने वाला कोई अन्य पदार्थ भी उपलब्ध नहीं होता। उनको जोड़ने वाला पदार्थ होता है, ऐसा मान लिया जाय, फिर भी दोष से मुक्ति नहीं मिल सकती क्योंकि उसको जोड़ने के लिए एक अन्य पदार्थ की आवश्यकता होगी और इस तरह अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित होगा। ऐसी दशा में वस्तु स्वयं ही भेदाभेदात्मक है, ऐसा मानना ही ठीक होगा। तत्त्व कथंचित् सदृश है, कथंचित् विरूप-विसदृश है, कथंचित् वाच्य है, कथंचित् अवाच्य है, कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है[1]। ये जितने भी धर्म हैं वस्तु के अपने धर्म हैं। इन धर्मों का कहीं बाहर से सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है। वस्तु स्वयं सामान्य और विशेष है, भिन्न और अभिन्न है, एक और अनेक है, नित्य और क्षणिक

१—स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव।
अन्ययोगव्यवच्छेदिकाद्वात्रिंशिका, का०

है। ठीक इसी प्रकार की मान्यता एरिस्टोटल की भी है। वह वस्तु को सामान्य और विशेष उभयात्मक मानता है। वह कहता है कि कोई भी सामान्य विशेष के बिना उपलब्ध नहीं होता और कोई भी विशेष सामान्य के बिना उपलब्ध नहीं होता। द्रव्य सामान्य और विशेष दोनों का समन्वय है। कोई भी वस्तु इन दोनों रूपों के बिना उपलब्ध नहीं हो सकती।[1] जैन दर्शन सम्मत भेदाभेदवाद वस्तु के वास्तविक रूप को ग्रहण करता है। यह भेदाभेद दृष्टि अनेकान्त दृष्टि का एक प्रकार से कारण है। दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले गुणों को एक ही वस्तु में एक साथ मानना भेदाभेदवाद का अर्थ है। भेद और अभेद की एकत्र स्थिति वस्तु के रूप को नष्ट नहीं करती अपितु उसको वास्तविक रूप में प्रकट करती है। भेद और अभेद के सम्बन्ध के विषय में भी स्याद्वाद का ही प्रयोग करना चाहिए। भेद और अभेद कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न हैं। द्रव्य और पर्याय के लिए जिस हेतु का प्रयोग किया गया है उसी हेतु का प्रयोग भेद और अभेद के लिए भी किया जा सकता है। द्रव्य अभेद-मूलक है और पर्याय भेद-मूलक है। इसलिए द्रव्य और अभेद एक हैं और पर्याय और भेद एक हैं। भेद और अभेद-विषयक इतना विवेचन काफी है।

द्रव्य का वर्गीकरण :

द्रव्य के कितने भेद हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनेक तरह से दिया जा सकता है। जहाँ तक द्रव्य-सामान्य का प्रश्न है, सब एक है। वहाँ किसी प्रकार की भेद-कल्पना उत्पन्न ही नहीं होती। जो द्रव्य है वह सत् है और वही तत्त्व है। सत्तासामान्य की दृष्टि से जड़ और चेतन, एक और अनेक, सामान्य और विशेष, गुण और पर्याय सब एक हैं। यह दृष्टिकोण संग्रह-नय की दृष्टि से सत्य है। संग्रह-नय सर्वत्र अभेद देखता है। भेद की उपेक्षा करके अभेद का जो ग्रहण है वह संग्रह-नय का कार्य है। अभेद-ग्राही संग्रह-नय भेद का निषेध नहीं करता अपितु भेद को अपने

१—देखिए—A Critical History of Greek Philosophy.

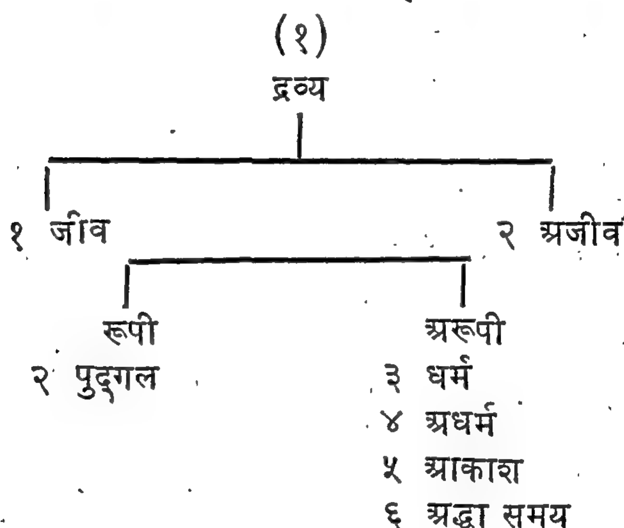
क्षेत्र से बाहर समझता है। इस नय का अन्तिम विषय सत्ता सामान्य है, जिसे हम पर सामान्य या महा सामान्य कह सकते हैं। प्रत्येक द्रव्य सत् है। सत्तासामान्य का ग्रहण एकता का अन्तिम सोपान है, जहाँ सारे भेद भेदरूप से सत् होते हुए भी अभेद रूप से प्रतिभासित होते हैं। सत्ता भेदों को नष्ट नहीं करती, अपितु उनमें एकत्व और सद्भाव स्थापित करती है। भेद रहते हुए भी जहाँ अभेद का दर्शन होता है, अनेकता में भी जहाँ एकता दिखाई देती है, इस दृष्टि से द्रव्य अथवा तत्त्व एक है। जो लोग अद्वैत में विश्वास रखते हैं उनसे हमारी मान्यता में यह भेद है कि वे केवल सामान्य को यथार्थ मानते हैं और भेद अर्थात् विशेष का अपलाप करते हैं जब कि जैन दृष्टि से भेद का निषेध नहीं किया जा सकता। वहाँ, प्रयोजन के अभाव में भेद की उपेक्षा अवश्य की जा सकती है। उपेक्षा का अर्थ यह नहीं कि भेद असत् है—मिथ्या है। अभेद की दृष्टि को प्रधानता देते समय हमारा भेद से कोई प्रयोजन नहीं होता है इसीलिए उसकी उपेक्षा की जाती है। उपेक्षा और अपलाप में जितना अन्तर है, अद्वैतवाद और जैन दर्शन की मान्यता में उतना ही अन्तर है। इस प्रकार संग्रह नय अर्थात् संग्रहदृष्टि की प्रधानता स्वीकृत की जाय तो द्रव्य एक ही सिद्ध होगा और वह होगा सत्ता सामान्य के रूप में।

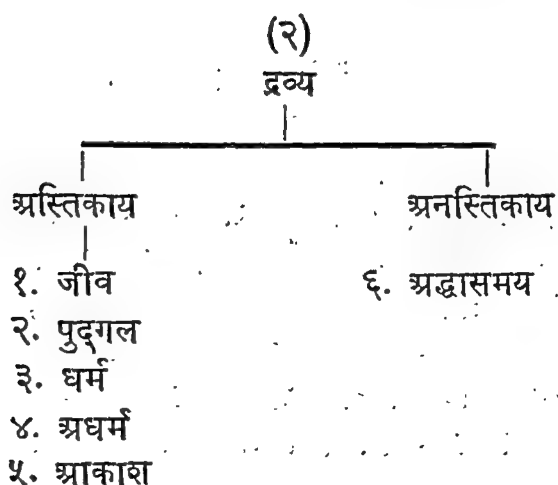
यदि हम द्वैतदृष्टि से देखें तो द्रव्य को दो रूपों में देख सकते हैं। ये दो रूप हैं जीव और अजीव।[1] चैतन्यधर्म वाला जीव है और उससे विपरीत अजीव है। इस प्रकार सारा लोक दो भागों में विभक्त हो जाता है। चैतन्य लक्षण वाले जितने भी द्रव्य विशेष हैं, वे सब जीव-विभाग के अन्तर्गत आ जाते हैं। जिनमें चैतन्य नहीं है इस प्रकार के जितने भी द्रव्यविशेष हैं, उन सब का समावेश अजीवविभाग के अन्तर्गत हो जाता है।

जीव और अजीव के अन्य भेद करने पर द्रव्य के छः भेद भी होते हैं।[2] जीव द्रव्य अरूपी है। अजीव द्रव्य के दो भेद किये गये

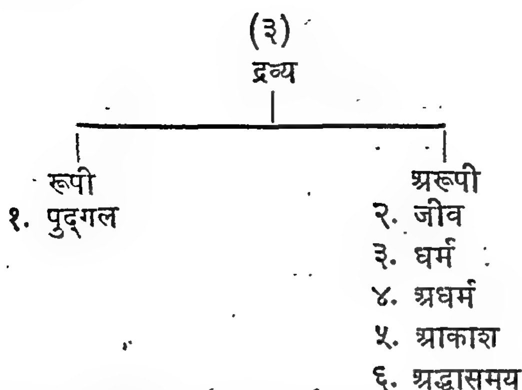
१—'विसेसिए जीवदव्वे अजीव दव्वे य–अनुयोगद्वार सू० १२३
२—भगवतीसूत्र—१५।२–४

हैं—रूपी और अरूपी। रूपी द्रव्य को पुद्गल कहा गया। अरूपी के पुनः चार भेद हुए—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अद्धासमय-काल। इस प्रकार द्रव्य के कुल ६ भेद हो जाते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और अद्धासमय। इन छः द्रव्यों में से प्रथम पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं[1] और छठा अस्तिकाय नहीं है। भेद-प्रभेद का स्पष्ट विवरण इस प्रकार है :—





१—भगवतीसूत्र २।१०।११७, स्थानांग सू० ५।४४१



यहाँ कुछ पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण कर देना ठीक होगा। अजीवद्रव्य रूपी और अरूपी दो भेदों में विभक्त किया गया है। रूपी का सामान्य अर्थ होता है—रूपयुक्त। इस अर्थ में चक्षुरिन्द्रिय की प्रधानता दिखाई देती है। जैन दर्शन में रूपी का अर्थ केवल चक्षुरिन्द्रिय तक ही सीमित नहीं है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इन चारों से जो युक्त है वह रूपी है।[1] स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों एक साथ रहते हैं। जहाँ स्पर्श है वहाँ रसादि भी हैं, जहाँ वर्ण है वहाँ स्पर्शादि भी हैं। जहाँ इन चारों में से एक भी हो वहाँ शेष तीन अवश्य हैं। अतः जहाँ रूपी शब्द का प्रयोग हो वहाँ स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण चारों की स्थिति समझनी चाहिए। पुद्गल के किसी भी अंश में ये चारों गुण रहते हैं, अतः वह रूपी है। इसकी विस्तृत चर्चा पुद्गल के स्वरूपवर्णन के समय की जायगी। जो रूपी न हो, उसे अरूपी समझना चाहिए। पुद्गल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण नहीं हैं अतः वे अरूपी हैं।

अस्तिकाय का अर्थ होता है प्रदेश-बहुत्व। 'अस्ति' और 'काय' इन दोनों शब्दों से अस्तिकाय बनता है। अस्ति का अर्थ है विद्यमान होना

१—रूपिणः पुद्गलाः
—तत्त्वार्थ सूत्र ५.४
स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः
—तत्त्वार्थ सूत्र, ५.२३

और काय का अर्थ है अनेक प्रदेशों का समूह। जहाँ अनेक प्रदेशों का समूह होता है वह अस्तिकाय कहा जाता है।[1] इसी चीज को और स्पष्ट करने के लिए हमें प्रदेश का अर्थ भी समझना चाहिए। पुद्गल का एक अणु जितना स्थान (आकाश) घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं।[2] यह एक प्रदेश का परिमाण है। इस प्रकार के अनेक प्रदेश जिस द्रव्य में पाए जाते हैं, वह द्रव्य अस्तिकाय कहा जाता है। प्रदेश का उक्त परिमाण एक प्रकार का नाप है। इस नाप से पुद्गल के अतिरिक्त अन्य पाँचों द्रव्य भी नापे जा सकते हैं। यद्यपि जीवादि द्रव्य अरूपी हैं, किन्तु उनकी स्थिति आकाश में है और आकाश स्वप्रतिष्ठित है। अतः उनका परिमाण समझने के लिये नापा जा सकता है। यह ठीक है कि पुद्गलद्रव्य को छोड़कर शेष द्रव्यों का इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता, किन्तु बुद्धि से उनका परिमाण नापा एवं समझा जा सकता है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव के अनेक प्रदेश होते हैं। अतः ये पाँचो द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं। इन प्रदेशों को अवयव भी कह सकते हैं। अनेक अवयव वाले द्रव्य अस्तिकाय हैं। अद्धासमय अर्थात् काल के स्वतन्त्र निरन्वय प्रदेश होते हैं। वह अनेक प्रदेशों वाला एक अखण्ड द्रव्य नहीं है, अपितु उसके स्वतन्त्र अनेक प्रदेश हैं। प्रत्येक प्रदेश स्वतन्त्ररूप से अपना कार्य करता हैं। उनमें एक अवयवी की कल्पना नहीं की गई, अपितु स्वतन्त्र रूप से सारे काल प्रदेशों को भिन्न-भिन्न द्रव्य माना गया। इस प्रकार ये काल द्रव्य एक द्रव्य न होकर अनेक द्रव्य हैं। लक्षण की समानता से सबको 'काल' ऐसा एक नाम दे दिया गया। धर्म आदि द्रव्यों के समान काल एक द्रव्य नहीं है। इसलिए काल को अनस्तिकाय कहा गया। अस्तिकाय और अनस्तिकाय का यही स्वरूप है।

१—संति जदो तेणेदे, अत्थित्ति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा, तम्हा काया य अत्थिकाया य॥
—द्रव्यसंग्रह, २४

२—जावदियं आयासं, अविभागी पुग्गलाणु वट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे, सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥
—द्रव्यसंग्रह, २७

आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व :

जीव का स्वरूप जानने के पहले हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि जीव की स्वतन्त्र सत्ता है या नहीं। चार्वाक आदि दार्शनिक जीव की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास नहीं करते। वे भौतिक तत्त्वों के विशिष्ट संयोग से आत्मा की उत्पत्ति मानते हैं। जीव या आत्मा नाम का कोई पृथक् स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। जिस प्रकार नाना द्रव्यों के संयोग से मादकता उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार भूतों के विशिष्ट मेल से चैतन्य पैदा हो जाता है। भारत में चार्वाक और पश्चिम में थेलिस, एनाक्सिमांडर, एनाक्सिमीनेस आदि एकजड़वादी (Monistic Materialists) तथा डेमोक्रेटस आदि अनेकजड़वादी (Pluralistic Materialists) इसी मान्यता के पक्षपाती हैं।

विशेषावश्यक भाष्य में आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए कई प्रमाण दिए गए हैं। सर्वप्रथम हम पूर्वपक्ष का विचार करेंगे। आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत न करने वाला पहला हेतु यह देता है कि आत्मा नहीं है, क्योंकि उसका इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं होता। घट सत् है, क्योंकि वह इन्द्रियप्रत्यक्ष से ग्राह्य है। आत्मा सत् नहीं है, क्योंकि वह घट के समान इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। जो इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता, वह असत् होता है जैसे आकाश-कुसुम। आत्मा इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, इसलिये आकाश-कुसुम के समान असत् है।[1] कोई यह कह सकता है कि अणु यद्यपि इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है, फिर भी वह सत् है, ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि निःसन्देह अणु अणु के रूप में प्रत्यक्षग्राह्य नहीं हैं, किन्तु जब वे किसी स्थूल पदार्थ के रूप में परिणत हो जाते हैं तब इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय बनते हैं। घटरूप से परिणत परमाणु चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होते हैं। जब तक वे परमाणु किसी कार्यरूप में परिणत नहीं होते तब तक उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। घटादि-कार्यरूप में परिणत होने पर उनका प्रत्यक्ष होता है।

१—जीवे तुह संदेहो, पच्चक्खं जं न घिप्पइ घडो व्व।
अच्चंतापच्चक्खं, च णत्थि लोए खपुप्फं व॥
—विशेषावश्यक भाष्य [illegible]

इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि अणु प्रत्यक्ष का विषय न बनता हुआ भी सत् है। अणु का कार्य जब प्रत्यक्षग्राह्य है तब अणु भी सत् है, ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं। आत्मा के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्मा किसी भी दशा में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकती। अतः आत्मा असत् है।

आत्मा अनुमान का विषय भी नहीं बन सकती, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। जब किसी वस्तु के अविनाभावसम्बन्ध का ग्रहण होता है, उस सम्बन्ध का कहीं प्रत्यक्ष होता है और पूर्व सम्बन्ध-ग्रहण की स्मृति होती है तब अनुमान-जन्य ज्ञान पैदा होता है। आत्मा और उसके किसी अविनाभावी लिंग का कभी प्रत्यक्ष ही नहीं होता, ऐसी दशा में आत्मा अनुमान का विषय कैसे बन सकती है? हमें आत्मा के किसी भी ऐसे लिंग का ज्ञान नहीं, जिसे देख कर आत्मा का अनुमान कर सकें[1]।

आगम-प्रमाण से भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि जिसका प्रत्यक्ष ही नहीं वह आगम का विषय कैसे बन सकता है। आगमप्रमाण का मुख्य आधार प्रत्यक्ष है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जिसे आत्मा का प्रत्यक्ष हो और जिसके वचनों को प्रमाण मान कर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया जा सके[2]। यदि किसी को आत्मा का प्रत्यक्ष होता तो उसके वचनों को प्रमाण मानकर आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की जाती। ऐसे व्यक्ति के अभाव में आगमप्रमाण भी व्यर्थ है। थोड़ी देर के लिए यदि आगम-प्रामाण्य मान भी लिया जाय, तथापि आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आगम परस्पर विरोधी बातें बताते हैं। किसी के आगम में किसी बात की सिद्धि मिलती है तो किसी का आगम उसी बात का खण्डन करता है। कोई आगम एक बात को सत्य एवं वास्तविक मानता है तो दूसरा उसी बात का खण्डन करता है। कोई आगम एक बात को सत्य एवं वास्तविक मानता है तो दूसरा उसी बात को मिथ्या एवं काल्पनिक समझता है।

१—वही १५५०-५१

२—वही १५५२

ऐसी स्थिति में आगम को आधार मानकर आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि करना खतरे से खाली नहीं।

उपमान से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि जगत् में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसकी समानता के आधार पर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया जा सके। जब आत्मा का ही प्रत्यक्ष नहीं तो अमुक पदार्थ आत्मा के सदृश है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? मूल के अभाव में सादृश्य-ज्ञान केवल कल्पना है। 'यह उसके समान है' ऐसा कथन तभी संभव है जब उस पदार्थ का, जिसके समान अमुक पदार्थ है, कभी प्रत्यक्ष हुआ हो। जब मूल पदार्थ का ही प्रत्यक्ष न हो तब समानता के आधार पर उस पदार्थ का ज्ञान होना असम्भव है।

अर्थापत्ति से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसके सद्भाव को देखकर यह कहा जा सके कि आत्मा के अभाव में इस पदार्थ का सद्भाव नहीं हो सकता। जब इस पदार्थ का सद्भाव है तो आत्मा का सद्भाव अवश्य होना चाहिए। अतः अर्थापत्ति भी आत्मा को सिद्ध करने में असमर्थ है।

इस प्रकार जब पांचों सद्भावसाधक प्रमाणों से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि नहीं हो सकती तब स्वाभाविक तौर से अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। अभावप्रमाण असद्भाव साधक है अत. यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा असत् है। यह अभाव, अमुक स्थान पर आत्मा नहीं है, ऐसा नहीं कहता अपितु सर्वत्र आत्मा नहीं है, इस प्रकार से आत्मा के आत्यन्तिक अभाव की सूचना देता है। किसी वस्तु का एक जगह प्रत्यक्ष होता है और अन्यत्र प्रत्यक्ष नहीं होता, तब यह कहा जा सकता है कि अभाव ने अमुक क्षेत्र में अमुक वस्तु के असद्भाव की स्थापना या सिद्धि की। आत्मा का कहीं प्रत्यक्ष नहीं होता अतः आत्मा के अभाव का जो ज्ञान है वह आत्यन्तिक अभाव का सूचक है। इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप में आत्मा के अस्तित्व के विरोध में उपरोक्त हेतु उपस्थित किए गए। इन हेतुओं का मुख्य आधार प्रत्यक्ष है—इन्द्रियप्रत्यक्ष है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय में अभाव में आत्मा का सद्भाव सिद्ध नहीं किया जा सकता, यही मुख्य आधार है।

इन हेतुओं का इस प्रकार खण्डन हो सकता है :—

प्रथम हेतु में प्रत्यक्ष का अभाव बताया गया, वह ठीक नहीं। केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही किसी तत्त्व की सिद्धि में प्रमाण मानना, युक्ति-युक्त नहीं। ऐसा मानने पर सुखदुःखादि का भी अभाव सिद्ध होगा, क्योंकि वे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय न होकर मानसिक अनुभव के विषय हैं। आत्मा प्रत्यक्ष से सिद्ध है, क्योंकि संशय आदि जितनी भी मानसिक और बौद्धिक क्रियाएँ है, सब आत्मा के कारण ही हैं। जहाँ संशय होता है वहाँ आत्मा का अस्तित्व अवश्य स्वीकृत करना पड़ता है। जो प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। आत्मा स्वयं सिद्ध है, क्योंकि उसी के आधार पर संशयादि उत्पन्न होते हैं। सुखदुःखादि को सिद्ध करने के लिए भी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। ये सब आत्मपूर्वक ही हो सकते हैं।

अहं प्रत्यय का आधार कोई न कोई अवश्य होना चाहिए, क्योंकि उसके बिना त्रैकालिक अहं प्रत्यय नहीं हो सकता। जड़ भूतों में यह शक्ति नहीं कि वे अहं प्रत्यय को उत्पन्न कर सकें, क्योंकि अहं प्रत्यय के अभाव में जड़ का ज्ञान हीं नहीं हो सकता। पहले अहं प्रत्यय होता है तब 'यह जड़ है' ऐसा ज्ञान होता है, ऐसी दशा में जड़ से अहं प्रत्यय उत्पन्न होता है, यह नहीं कहा जा सकता। अहं प्रत्यय के अभाव में जड़ तत्त्व की सिद्धि ही नहीं हो सकती, फिर यह कैसे बन सकता है कि जड़ से अहं प्रत्यय उत्पन्न हो। अहं प्रत्यय-पूर्वक ही जड़-प्रतीति होती है, जड़प्रतीति-पूर्वक अहं प्रत्यय नहीं। यदि आत्मा नहीं है तो अहं प्रत्यय कैसे होता है ? आत्मा के अभाव में यह सन्देह कैसे हो सकता है कि आत्मा है या नहीं ?[1]

यह हेतु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, संशय, निर्णय आदि जितनी भी मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ हैं, किसी एक स्थायी चेतन तत्त्व के अभाव में नहीं हो सकतीं। ये सारी क्रियाएँ किसी एक चेतन तत्त्व को आधार या केन्द्र बनाकर ही घट सकती हैं।

१—वही १५५६

ज्ञान, संवेदन और इच्छा (Cognition, Affection and Conation) किसी एक आत्मिक तत्त्व के विना सम्भव नहीं। ये तीनों क्रियाएँ विखरी हुई अवस्था में उपलब्ध न हो कर व्यवस्थित ढंग से एक दूसरे से सम्वद्ध और सापेक्ष रूप में मिलती हैं। किसी एक सामान्य तत्त्व के अभाव में उनका पारस्परिक सम्वन्व नहीं हो सकता। इनकी एकरूपता और अन्वय विना किसी सामान्य आधार के सम्भव नहीं। शुद्ध भौतिक मस्तिष्क इस प्रकार की एकरूपता, व्यवस्था और अन्वय के प्रति कारण नहीं हो सकता।

संशय और संशयी का प्रश्न भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संशय के लिए किसी ऐसे तत्त्व की अनिवार्यता है, जो उसका आधार हो। विना अधिष्ठान के किसी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। संशय का अधिष्ठान कोई न कोई अवश्य होना चाहिए। सांख्यकारिका में पुरुष की सिद्धि के लिए एक हेतु 'अधिष्ठानात्' भी दिया गया है। इसी प्रकार से भोक्तृत्वादि हेतु भी उपस्थित किए गए हैं।[1] ये सारे हेतु यहाँ प्रयुक्त हो सकते हैं। विशेषावश्यक भाष्य में महावीर गौतम से कहते हैं कि हे गौतम ! यदि संशयी ही नहीं है तो "मैं हूँ या नहीं हूँ" यह संशय कहाँ से उत्पन्न होता है ? यदि तुम स्वयं ही अपने खुद के विषय में सन्देह कर सकते हो तो फिर किसमें संशय न होगा।[2]

आत्मा की सिद्धि के लिए गुण और गुणी का हेतु भी दिया जाता है। घट के रूपादि गुणों को देखकर घट का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानादि गुणों का अनुभव करके आत्मा को सिद्ध किया जा सकता है। गुण और गुणी का सम्वन्ध अविच्छेद्य है। जहाँ गुण होते हैं वहाँ गुणी अवश्य होता है और जहाँ गुणी रहता है वहाँ गुण अवश्य होते हैं। न तो गुण गुणी के अभाव में रह सकते हैं और न गुणी गुण के विना रह

१—संघातपरार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥
—सांख्यकारिका, १७

२—विशेषावश्यक भाष्य, १५५७

सकता है। जब गुण का अनुभव होता है तब गुणों का अस्तित्व भी होना ही चाहिए।[1]

वादी इस हेतु को मान लेता है, कि किन्तु वह कहता है ज्ञानादि गुणों का आधार शरीर के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ज्ञानादि जितने भी गुण पाए जाते हैं, सब शरीराश्रित हैं। ऐसी दशा में शरीर से भिन्न एक स्वतन्त्र आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। ज्ञानादि शरीर की ही क्रियाएँ हैं, अतः उनका आधार शरीर से भिन्न कोई द्रव्य नहीं है। वादी का हेतु यों है—ज्ञानादि शरीर के गुण हैं, क्योंकि वे केवल शरीर में ही पाए जाते हैं, जो शरीर में ही पाये जाते हैं वे शरीर के गुण होते हैं, जैसे मोटाई और दुबलापन आदि।

वादी का यह हेतु व्यभिचारी है। यह कैसे? इसका उत्तर यों है—ज्ञानादि गुण भौतिक शरीर के गुण नहीं हो सकते, क्योंकि वे अरूपी हैं, जब कि शरीर रूपी है, जैसे घट। रूपी द्रव्य के गुण अरूपी नहीं हो सकते, जैसे घट के गुण अरूपी नहीं हैं, क्योंकि वे इन्द्रिय-ग्राह्य हैं। ज्ञानादि गुण अरूपी हैं, क्योंकि वे इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हैं। इसलिए ज्ञानादि गुण शरीर के गुण नहीं हो सकते, क्योंकि शरीर रूपी है और उसके गुण भी रूपी हैं और चक्षुरादि इन्द्रियों से उन गुणों का ग्रहण होता है। इसलिये ज्ञानादि गुणों का अन्य आश्रय होना चाहिए। यह आश्रय आत्मा है, जो अरूपी है।

दूसरी बात यह है कि कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि शरीर की उपस्थिति में भी ज्ञानादि गुणों का अभाव रहता है।[2] सुषुप्ति, मूर्च्छादि अवस्थाओं में शरीर के विद्यमान रहते हुए भी ज्ञानादि गुण नहीं मिलते। इससे मालूम होता है कि ज्ञानादि गुण शरीर के नहीं, अपितु किसी अन्य तत्त्व के हैं। यदि शरीर के गुण

१—विशेषावश्यक भाष्य, १५५८

२—ज्ञानं न शरीरगुणं, सति शरीरे निवर्तमानत्वात्।

—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ ११४

होते तो रूपादि की भाँति वे भी किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध होते।

शरीर ज्ञानादि गुणों का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर भौतिक तत्त्वों का कार्य है और भौतिक तत्त्व चेतना-शून्य हैं। जब भूतों में ही चैतन्य नहीं है तो उनके कार्य में चैतन्य कहाँ से आ जाएगा। प्रत्येक कार्य, कारण में अनुद्भूत रूप से रहता है। जब वह कारण कार्यरूप में परिणत होता है तब वह शक्तिरूप से रहा हुआ कार्य अभिव्यक्तरूप में हमारे सामने आ जाता है। इसके अतिरिक्त कारण और कार्य में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जब भौतिक तत्त्वों में ही चेतना नहीं है तब यह कैसे सम्भव है कि शरीर चैतन्यगुण वाला हो जाय? यदि चेतना प्रत्येक भौतिक तत्त्व में नहीं है तो उन तत्त्वों के संयोग से भी वह उत्पन्न नहीं हो सकती। रेणु के प्रत्येक कण में न रहने वाला तैल रेणुकणों के संयोग से उत्पन्न नहीं हो सकता।[1] अतः यह कहना युक्तिसंगत नहीं कि चैतन्य चतुर्भूत के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होता है[2] यद्यपि इन चारों भूतों में पृथक्-पृथक् चैतन्य नहीं है। किण्वादि द्रव्यों के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होने वाली मादकता सर्वथा नवीन हो, ऐसी बात नहीं है। मादकता का कुछ-न-कुछ अंश प्रत्येक द्रव्य में अवश्य रहता है। अन्यथा उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य से वही मादकता क्यों नहीं उत्पन्न हो जाती। शक्तिरूप में रहने वाली मादकता ही अभिव्यक्त रूप से प्रकट होती है। जो शक्ति रूप से सत् न हो वह अभिव्यक्त रूप से भी असत् ही रहता है। जो वस्तु सर्वथा असत् है वह कभी भी सत् नहीं हो सकती—जैसे खपुष्प। जो वस्तु सत् होती है वह कभी भी सर्वथा असत् नहीं हो सकती—जैसे चतुर्भूत[3]। यदि चैतन्य सर्वथा असत् है तो वह

१—'प्रत्येकमसती तेषु न स्याद्रेणुतैलवत्'।

—शास्त्रवार्तासमुच्चय, ९८

२—षड्दर्शनसमुच्चय, ८३

३—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'

—गीता २।१६

कभी सत् नहीं हो सकता और यदि सत् है तो सर्वथा असत् नहीं हो सकता। चतुर्भूत में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती, अतः उसका आश्रय आत्मा है।

आत्मा की पृथक् सिद्धि में एक हेतु यह भी है कि आत्मा या जीव शब्द सार्थक है, क्योंकि वह व्युत्पत्तिमूलक है और शुद्ध पद है। जो पद व्युत्पत्तियुक्त एवं शुद्ध होता है, उसका कोई-न-कोई विषय या वाच्य अवश्य होता है, जैसे घट शब्द का वाच्य एक विशिष्ट आकार वाला पदार्थ है। जो पद सार्थक नहीं होता उसकी व्युत्पत्ति नहीं होती और वह शुद्धपद नहीं होता। 'डित्थ' पद शुद्ध होता हुआ भी व्युत्पत्तिमूलक नहीं है, अतः वह निरर्थक है। 'आकाशकुसुम' पद व्युत्पत्तिमूलक होता हुआ भी निरर्थक है क्योंकि वह शुद्ध पद नहीं है। 'जीव' पद के लिए यह बात नहीं है, अतः उसका वाच्य कोई-न-कोई अर्थ अवश्य होना चाहिए[1]। यह अर्थ आत्मा है।

आत्मा का स्वरूप:

तत्त्वार्थसूत्र में जीव का लक्षण बताते समय उपयोग शब्द का प्रयोग किया गया है[2]। उपयोग बोधरूप व्यापार-विशेष है। यह व्यापार चैतन्य के कारण होता है। जड़ आदि पदार्थों में उपयोग नहीं है क्योंकि उनमें चेतना शक्ति का अभाव है। यह चेतना शक्ति आत्मा को छोड़कर अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं पायी जाती अतः इसे जीव का लक्षण कहा गया है। उपयोग के अतिरिक्त उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, सत्त्व, प्रमेयत्वादि अनेक साधारण धर्म भी उसमें पाये जाते हैं। जीव का विशेष धर्म चेतना ही तत्त्वार्थकार के शब्दों में उपयोग है, अतः वही उसका लक्षण है। लक्षण में उन्हीं गुणों का समावेश होता है तो असाधारण होते हैं। उपयोग को जो आत्मा का लक्षण कहा गया है वह मोटे तौर से है। वैसे चैतन्य ही

१—जीवोत्ति सत्थपमिणं, सुद्धत्तणओ घडाभिहरणं व।
—विशेषावश्यक भाष्य १५७५

२—'उपयोगो लक्षणम्'।
—तत्त्वार्थसूत्र २।८

आत्मा का धर्म है। यह चैतन्य केवल उपयोग ही नहीं है, अपितु सुख और वीर्यात्मक भी है। उपयोग का अर्थ होता है ज्ञान और दर्शन[1]। आत्मा में अनन्त चतुष्टय होता है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य। उपयोग केवल ज्ञान और दर्शन ही है। सुख और वीर्य का इसी के अन्दर अन्तर्भाव करने से यह लक्षण पूर्ण हो सकता है। अनन्त चतुष्टय संसारी आत्मा में अपने पूर्णरूप में नहीं होते। मुक्त आत्मा अथवा केवलियों की दृष्टि से इनका ग्रहण किया गया है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म के क्षय से क्रमशः अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रादुर्भूत होता है। इन चार घातिकर्मों के क्षय से प्रादुर्भूत होने वाली चेतना की विशेष शक्तियों को ही अनन्त चतुष्टय का नाम दिया गया है। वैसे जीव या आत्मा का लक्षण चेतना ही है।

ज्ञानोपयोग:

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में यह अन्तर है कि ज्ञान साकार है, जब कि दर्शन निराकार है। ज्ञान सविकल्पक है और दर्शन निर्विकल्पक है। उपयोग की सर्वप्रथम भूमिका दर्शन है, जिसमें केवल सत्ता का भान होता है। इसके बाद क्रमशः उपयोग विशेष-ग्राही होता जाता है। यह ज्ञानोपयोग है। पहले दर्शन होता है, फिर ज्ञान होता है। इसलिए दर्शन निराकार और निर्विकल्पक है, और ज्ञान साकार और सविकल्पक है। दर्शन के पहले ज्ञान को ग्रहण इसलिए किया जाता है कि ज्ञान सविकल्पक होने के कारण अधिक महत्त्व रखता है। वैसे उत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान का स्थान बाद में है और दर्शन का स्थान पहले है।

ज्ञानोपयोग के दो भेद हैं—स्वभावज्ञान और विभावज्ञान।

केवल। इनमें से प्रथम दो अर्थात् मति और श्रुत को परोक्ष कहा। शेष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवल को प्रत्यक्ष कहा। इन पाँच ज्ञानों में से प्रथम तीन ज्ञानों को विपर्यय कहा। इस प्रकार दो परोक्ष, तीन प्रत्यक्ष और तीन विपरीत यों कुल मिला कर ज्ञान के आठ भेद हुए। ज्ञानोपयोग की चर्चा इन आठ भेदों के साथ समाप्त होती है।

दर्शनोपयोग :

ज्ञानोपयोग की तरह दर्शनोपयोग भी दो प्रकार का है—स्वभावदर्शन और विभावदर्शन।

स्वभावदर्शन आत्मा का स्वाभाविक उपयोग है। स्वभावज्ञान की तरह यह भी प्रत्यक्ष एवं पूर्ण होता है। इसे केवलदर्शन भी कहते हैं।

विभावदर्शन तीन प्रकार का होता है—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन।

चक्षुर्दर्शन—चक्षुरिन्द्रिय से होने वाला निराकार और निर्विकल्प दर्शन चक्षुर्दर्शन है। चक्षुरिन्द्रिय की प्रधानता के कारण चक्षुर्दर्शन नामक स्वतन्त्र भेद किया गया है।

अचक्षुर्दर्शन—चक्षुरिन्द्रियातिरिक्त इन्द्रियों तथा मन से होने वाला जो दर्शन है वह अचक्षुर्दर्शन है।

अवधिदर्शन—सीधा आत्मा से होने वाला रूपी पदार्थों का दर्शन अवधिदर्शन है।

इस प्रकार दर्शनोपयोग के चार भेद हुए—

१—केवलदर्शन (स्वभावदर्शन), २—चक्षुर्दर्शन, ३—अचक्षुर्दर्शन, ४—अवधिदर्शन।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेदों में यह अन्तर है कि दर्शनोपयोग कभी मिथ्या नहीं होता। सत्तामात्र का उपयोग मिथ्या नहीं हो सकता। जब उपयोग सविकल्पक रूप धारण करता है—विशेषग्राही होता है तब मिथ्या होने का अवसर आता है। सामान्य सत्तामात्र का ग्रहण मिथ्यात्व से परे है क्योंकि वहाँ केवल सत्ता का

प्रतिभास है। सत्ता के प्रतिभास में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद नहीं होता। वह तो एक रूप होता है और वह रूप यथार्थ होता है। दूसरा अन्तर यह है कि मनःपर्यय दर्शन नहीं होता क्योंकि अवधिदर्शन के विषय के अनन्तवें भाग का ज्ञान ही मनःपर्ययज्ञान है। मनःपर्यय उपयोग अवधिज्ञान का ही विशेष विकास है। ऐसी दशा में मनःपर्यय नामक भिन्न दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं। सूक्ष्म विवेचन किया जाय तो मनःपर्ययज्ञान भी अवधिज्ञान से भिन्न नहीं है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान एक ही उपयोग की दो भूमिकाएँ हैं। तीसरा अन्तर यह है कि श्रुतज्ञान की तरह श्रुतदर्शन नहीं होता क्योंकि श्रुतोपयोग हमेशा सविकल्पक होता है। चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन मतिज्ञान की ही भूमिकाएँ हैं। इन दोनों का नाम मतिदर्शन इसलिए नहीं रखा कि दर्शन में चक्षुरिन्द्रिय को अधिक महत्त्व दिया गया है। चक्षु के महत्त्व के कारण एक भेद चक्षु के नाम से रखा गया और दूसरा चक्षु से इतर इन्द्रियों और मन के नाम से।

सामान्यरूप से आत्मा का यही स्वरूप है। ऐसे जीवों के दो भेद किए गए हैं—संसारी और मुक्त।[1] मुक्त जीव का लक्षण स्वभावोपयोग है। केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप आत्मा का शुद्ध और स्वभावोपयोग ही मुक्तात्मा की पहचान है। संसारी जीवों के समनस्क और अमनस्क, त्रस और स्थावर, पर्याप्त और अपर्याप्त आदि कई भेद हैं। इन सब भेदों का विशेष विचार न करके संसारी जीव के स्वरूप का जरा विस्तृत विवेचन करेंगे। साथ-ही-साथ अन्य दर्शनों से इस विषय में क्या मतभेद है, इसका भी उल्लेख करने का प्रयत्न करेंगे।

संसारी आत्मा :

वादिदेवसूरि ने संसारी आत्मा का जो स्वरूप बताया है उनमें जैनदर्शनसम्मत आत्मा का पूर्ण रूप आ जाता है। यहाँ उसी स्वरूप को आधार बनाकर विवेचन किया जायगा। वह स्वरूप यह है—

१—'संसारिणो मुक्ताश्च'—वही २।१०

केवल। इनमें से प्रथम दो अर्थात् मति और श्रुत को परोक्ष कहा। शेष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवल को प्रत्यक्ष कहा। इन पाँच ज्ञानों में से प्रथम तीन ज्ञानों को विपर्यय कहा। इस प्रकार दो परोक्ष, तीन प्रत्यक्ष और तीन विपरीत यों कुल मिला कर ज्ञान के आठ भेद हुए। ज्ञानोपयोग की चर्चा इन आठ भेदों के साथ समाप्त होती है।

दर्शनोपयोग :

ज्ञानोपयोग की तरह दर्शनोपयोग भी दो प्रकार का है—स्वभावदर्शन और विभावदर्शन।

स्वभावदर्शन आत्मा का स्वाभाविक उपयोग है। स्वभावज्ञान की तरह यह भी प्रत्यक्ष एवं पूर्ण होता है। इसे केवलदर्शन भी कहते हैं।

विभावदर्शन तीन प्रकार का होता है—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन।

चक्षुर्दर्शन—चक्षुरिन्द्रिय से होने वाला निराकार और निर्विकल्प दर्शन चक्षुर्दर्शन है। चक्षुरिन्द्रिय की प्रधानता के कारण चक्षुर्दर्शन नामक स्वतन्त्र भेद किया गया है।

अचक्षुर्दर्शन—चक्षुरिन्द्रियातिरिक्त इन्द्रियों तथा मन से होने वाला जो दर्शन है वह अचक्षुर्दर्शन है।

अवधिदर्शन—सीधा आत्मा से होने वाला रूपी पदार्थों का दर्शन अवधिदर्शन है।

इस प्रकार दर्शनोपयोग के चार भेद हुए—

१—केवलदर्शन (स्वभावदर्शन), २—चक्षुर्दर्शन, ३—अचक्षुर्दर्शन, ४—अवधिदर्शन।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेदों में यह अन्तर है कि दर्शनोपयोग कभी मिथ्या नहीं होता। सत्तामात्र का उपयोग मिथ्या नहीं हो सकता। जब उपयोग सविकल्पक रूप धारण करता है—विशेषग्राही होता है तब मिथ्या होने का अवसर आता है। सामान्य सत्तामात्र का ग्रहण मिथ्यात्व से परे है क्योंकि वहाँ केवल सत्ता का

उपर्युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए यह कहा गया कि आत्मा चैतन्यस्वरूप है। चैतन्य आत्मा का मूल गुण है, आगन्तुक या औपाधिक नहीं। आत्मा और चैतन्य में एकान्त भेद नहीं है। यदि आत्मा और ज्ञान को एकान्त भिन्न माना जाय तो चैत्र का ज्ञान चैत्र की आत्मा से उतना ही भिन्न है जितना कि मैत्र की आत्मा से। इसी प्रकार मैत्र का ज्ञान भी मैत्र की आत्मा से उतना ही भिन्न है जितना कि चैत्र की आत्मा से। चैत्र और मैत्र दोनों का ज्ञान दोनों की आत्माओं के लिए एक सरीखा है। ऐसी स्थिति में इसका क्या कारण है कि चैत्र का ज्ञान चैत्र की ही आत्मा में है और मैत्र का ज्ञान मैत्र की ही आत्मा में? दोनों ज्ञान दोनों में समान रूप से रहने चाहिएँ। वास्तव में 'उसका ज्ञान' 'इसका ज्ञान' या 'मेरा ज्ञान' जैसी कोई वस्तु नहीं है। सभी ज्ञान सबसे समान रूप से भिन्न है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह बाद में आत्मा से जुड़ता है।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह हेतु दिया जाता है कि यद्यपि ज्ञान और आत्मा बिल्कुल भिन्न हैं तथापि ज्ञान आत्मा से समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है। जो ज्ञान जिस आत्मा के साथ सम्बद्ध होता है वह ज्ञान उसी आत्मा का कहा जाता है, अन्य का नहीं। इस प्रकार समवाय सम्बन्ध हमारी सारी कठिनाई दूर कर देता है। चैत्र का ज्ञान चैत्र की आत्मा से सम्बद्ध है; न कि मैत्र की आत्मा से। इसी तरह मैत्र का ज्ञान मैत्र की आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है न कि चैत्र की आत्मा के साथ। जो ज्ञान जिस आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से जुड़ा हुआ होता है वह ज्ञान उसी आत्मा का ज्ञान कहा जाता है।

नैयायिकों और वैशेषिकों का यह हेतु ठीक नहीं। समवाय एक है, नित्य है और व्यापक है।[1] अमुक ज्ञान का सम्बन्ध चैत्र से ही होना चाहिए, मैत्र से नहीं, इसका कोई सन्तोषप्रद उत्तर नहीं है। जब समवाय एक, नित्य और व्यापक है, तब ऐसा क्यों कि अमुक ज्ञान का सम्बन्ध

१—'समवायस्यैकत्वान्नित्यत्वाद्व्यापकत्वाच्च'।

—स्याद्वादमञ्जरी, का० ८

आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। वह चैतन्यस्वरूप है, परिणामी है, कर्त्ता है, साक्षात् भोक्ता है, स्वदेहपरिमाण है, प्रत्येक शरीर में भिन्न है, पौद्गलिक कर्मों से युक्त है।[1]

'आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है' इस कथन का तात्पर्य यह है कि चार्वाकादि जो लोग आत्मा का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते उन्हें उसकी स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास करना चाहिए। इसके लिए हम बहुत कुछ लिख चुके हैं, अत. यहाँ उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं।

'वह चैतन्य स्वरूप है' यह लक्षण वैशेषिक और नैयायिकादि उन दार्शनिकों को उत्तर देने के लिए है, जो चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक और औपाधिक गुण मानते हैं। आत्मा स्वरूप से चेतन नहीं है। बुद्ध्यादि गुणों के सम्बन्ध से उसमें ज्ञान या चेतना उत्पन्न होती है। जिस प्रकार अग्नि के सम्बन्ध से घट में रक्तता उत्पन्न होती है उसी प्रकार आत्मा में चेतना गुण उत्पन्न होता है।[2]

जब तक आत्मा में चैतन्य उत्पन्न नहीं होता तब तक वह जड़ है। जो लोग इस प्रकार चैतन्य की उत्पत्ति मानते हैं उनके मत से आत्मा स्वभाव से चेतन नहीं है। वे चैतन्य को आत्मा का आवश्यक गुण नहीं मानते। चैतन्य अथवा ज्ञान एक भिन्न तत्त्व है और आत्मा एक भिन्न पदार्थ है। दोनों के सम्बन्ध से आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी सम्बन्ध के कारण हम कहते हैं कि यह आत्मा ज्ञानवान् है। जिस प्रकार दण्ड के सम्बन्ध से पुरुष दण्डी कहा जाता है उसी प्रकार ज्ञान के सम्बन्ध से आत्मा ज्ञानवान् कहा जाता है। वास्तव में ज्ञान और आत्मा अत्यन्त भिन्न हैं।

१—प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा।
चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्त्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेह-परिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवांश्चायम्।
—प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।५५-५६

२—अग्निघटसंयोगजरोहितादिगुणवत्।
—शांकरभाष्य—२।३।१८

भी आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है। वह आत्मा का स्वभाव है, इसलिए आत्मा से अभिन्न है।

यहाँ पर एक शंका होती है कि यदि आत्मा और ज्ञान अभिन्न हैं तो उन दोनों में कर्तृ-करण भाव कैसे बन सकता है ? जिस प्रकार सर्प अपने ही शरीर से अपने को लपेटता है[1] उसी प्रकार आत्मा अपने से ही अपने आपको जानता है। वही आत्मा जानने वाला है— कर्त्ता है और उसी आत्मा से जानता है—करण है। कर्त्ता और करण का यह सम्बन्ध पर्यायभेद से है। आत्मा की ही पर्यायें करण होती हैं। उन पर्यायों को छोड़कर दूसरा कोई करण नहीं होता। अतः आत्मा चैतन्य स्वरूप है।

आत्मा 'परिणामी है' यह विशेषण उन लोगों के मत के खण्डन के लिए है जो आत्मा को चैतन्यस्वरूप मानते हुए भी एकान्त रूप से नित्य एवं शाश्वत मानते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा अपरिणामी है—अपरिवर्तनशील है। उदाहरण के लिए सांख्य दर्शन को लीजिए। वह पुरुष को कूटस्थ नित्य मानता है। जो कुछ भी परिवर्तन होता है, वह प्रकृति में होता है। पुरुष न कभी बद्ध होता है और न कभी मुक्त। बन्धन और मुक्तिरूप जितने भी परिणाम हैं, प्रकृत्याश्रित हैं, पुरुषाश्रित नहीं।[2] पुरुष नित्य है अतः जन्म, मरण आदि जितने भी परिणाम हैं उनसे वह भिन्न है—अस्पृश्य है। इसीलिए पुरुष अपरिणामी है।

परिणामवाद का समर्थन करने वाला जैन दर्शन कहता है कि यदि प्रकृति ही बद्ध होती है, प्रकृति ही मुक्त होती है तो वह क्या है जिससे प्रकृति बद्ध होती है और जिसके अभाव में उसे मुक्ति मिलती है। प्रकृति के अतिरिक्त कोई ऐसा तत्त्व नहीं जिसे सांख्य दर्शन मानता हो। इस-

१—'सर्पं आत्मानमात्मना वेष्टयति'।

—वही का० ८ पृ० ४३

२—तस्मान्न बध्यतेऽद्धा नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

—सांख्यकारिका, ६२

अमुक आत्मा के साथ ही हो और अन्य आत्माओं के साथ नहीं। दूसरी बात यह है कि न्यायवैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा भी सर्वव्यापक है, इसलिए एक आत्मा का ज्ञान सब आत्माओं में रहना चाहिए। इस तरह चैत्र का ज्ञान मैत्र में भी रहेगा।

किसी तरह यह मान भी लिया जाय कि ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाता है, तब भी एक प्रश्न बाकी रह जाता है और वह यह कि समवाय किस सम्बन्ध से ज्ञान और आत्मा के साथ सम्बद्ध होता है ? यदि इसके लिए किसी अन्य समवाय की आवश्यकता होती है तो अनवस्था दोष का सामना करना पड़ता है। यदि यह कहा जाय कि वह अपने-आप जुड़ जाता है तो फिर ज्ञान और आत्मा अपने आप क्यों नहीं सम्बद्ध हो जाते ? उनके लिए एक तीसरी चीज की आवश्यकता क्यों रहती है ?

नैयायिक और वैशेषिक एक दूसरा हेतु उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा और ज्ञान में कर्तृ-करण भाव है, अतः दोनों भिन्न होने चाहिएँ। आत्मा कर्त्ता है और ज्ञान करण है, अतः आत्मा और ज्ञान एक नहीं हो सकते। जैन-दार्शनिक कहते हैं कि यह हेतु ठीक नहीं है। ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध सामान्य करण और कर्त्ता का सम्बन्ध नहीं है। 'देवदत्त दात्र से काटता है,' यहाँ दात्र एक बाह्य करण है। ज्ञान इस प्रकार का करण नहीं है जो आत्मा से भिन्न हो।[1] यदि दात्र की तरह ज्ञान भी आत्मा से भिन्न सिद्ध हो जाय तब यह कहा जा सकता है कि ज्ञान और आत्मा में करण और कर्त्ता का सम्बन्ध है, फलतः ज्ञान आत्मा से भिन्न है। हम कह सकते हैं कि देवदत्त नेत्र और दीपक से देखता है। यहाँ पर देवदत्त से दीपक जिस प्रकार भिन्न है उस प्रकार आँखें भिन्न नहीं हैं। यद्यपि दीपक और नेत्र दोनों करण हैं किन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। उसी प्रकार ज्ञान आत्मा का करण होता हुआ

१—करणं द्विविधं ज्ञेयं, बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः।
यथा लुनाति दात्रेण, मेरुं गच्छति चेतसा ॥

—स्याद्वादमंजरी, का० ८ पृ० ४२

भी आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है। वह आत्मा का स्वभाव है, इसलिए आत्मा से अभिन्न है।

यहाँ पर एक शंका होती है कि यदि आत्मा और ज्ञान अभिन्न हैं तो उन दोनों में कर्तृ-करण भाव कैसे बन सकता है? जिस प्रकार सर्प अपने ही शरीर से अपने को लपेटता है[1] उसी प्रकार आत्मा अपने से ही अपने आपको जानता है। वही आत्मा जानने वाला है— कर्त्ता है और उसी आत्मा से जानता है—करण है। कर्त्ता और करण का यह सम्बन्ध पर्यायभेद से है। आत्मा की ही पर्यायें करण होती हैं। उन पर्यायों को छोड़कर दूसरा कोई करण नहीं होता। अतः आत्मा चैतन्य स्वरूप है।

आत्मा 'परिणामी है' यह विशेषण उन लोगों के मत के खण्डन के लिए है जो आत्मा को चैतन्यस्वरूप मानते हुए भी एकान्त रूप से नित्य एवं शाश्वत मानते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा अपरिणामी है—अपरिवर्तनशील है। उदाहरण के लिए सांख्य दर्शन को लीजिए। वह पुरुष को कूटस्थ नित्य मानता है। जो कुछ भी परिवर्तन होता है, वह प्रकृति में होता है। पुरुष न कभी बद्ध होता है और न कभी मुक्त। बन्धन और मुक्तिरूप जितने भी परिणाम हैं, प्रकृत्याश्रित हैं, पुरुषाश्रित नहीं।[2] पुरुष नित्य है अतः जन्म, मरण आदि जितने भी परिणाम हैं उनसे वह भिन्न है—अस्पृश्य है। इसीलिए पुरुष अपरिणामी है।

परिणामवाद का समर्थन करने वाला जैन दर्शन कहता है कि यदि प्रकृति ही बद्ध होती है, प्रकृति ही मुक्त होती है तो वह क्या है जिससे प्रकृति बद्ध होती है और जिसके अभाव में उसे मुक्ति मिलती है। प्रकृति के अतिरिक्त कोई ऐसा तत्त्व नहीं जिसे सांख्य दर्शन मानता हो। इस-

१—'सर्पं आत्मानमात्मना वेष्टयति'।

—वही का० ८ पृ० ४२

२—तस्मान्न बध्यतेऽद्धा नाऽपि मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

—सांख्यकारिका, ६२

लिये प्रकृति किसी अन्य तत्त्व से तो बद्ध नहीं हो सकती। यदि प्रकृति स्वयं ही बद्ध होती है और स्वयं ही मुक्त होती है तो बन्धन और मुक्ति में कोई अन्तर नहीं होगा, क्योंकि प्रकृति हमेशा प्रकृति है। वह जैसी है वैसी ही रहेगी, क्योंकि उसमें भेद डालने वाला कोई अन्य कारण नहीं है। अखण्ड तत्त्व में अपने आप अवस्थाभेद नहीं हो सकता। यदि यह माना जाय कि पुरुष प्रकृति के परिवर्तन में कारण है तब भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। पुरुष हमेशा प्रकृति के सम्मुख रहता है। यदि वह हमेशा एकरूप है तो प्रकृति भी एकरूप रहेगी। यदि उसमें परिवर्तन होता है तो प्रकृति में भी परिवर्तन होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि पुरुष तो सदैव एकरूप रहे और प्रकृति में परिवर्तन होता रहे। यदि पुरुष प्रकृति के परिवर्तन में कारण है तो उसमें भी परिवर्तन होना चाहिए। बिना उसमें परवर्तन हुए प्रकृति में परिवर्तन होता रहे, यह समझ में नहीं आता। यदि प्रकृति के परिवर्तन के लिए पुरुष में परिवर्तन माना जाय तो जिस बला से बचने के लिए प्रकृति की शरण लेनी पड़ी वही बला पुनः गले में आ पड़ी।

सांख्य दर्शन की धारणा के अनुसार सुख-दुःखादि जितनी भी मानसिक क्रियाएँ हैं, सब प्रकृति की देन हैं। पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस प्रतिबिम्ब के कारण पुरुष यह समझता है कि सुख दुःखादि मेरे भाव हैं। यह धारणा भी परिणामवाद की ओर जाती है। पुरुष अपने मूल स्वरूप को भूल कर सुखदुःखादि को अपना समझने लगता है, इसका अर्थ यह हुआ कि उसके मूलरूप में एक प्रकार का परिवर्तन हो गया। बिना अपने असली रूप को छोड़े यह कभी नहीं हो सकता कि वह सुखदुःखादि को जो वास्तव में उसके नहीं हैं, अपने समझने लगे। ज्यों ही वह अपने मूलरूप को भूलकर अन्य रूप में आ जाता है त्यों ही उसके स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन अपरिणामी पुरुष में कदापि सम्भव नहीं। अतः पुरुष परिणामी है। दूसरी बात यह है कि सुखदुःखादि परिणाम चैतन्यपूर्वक हैं। जड़ प्रकृति को इन परिणामों का अनुभव नहीं हो सकता। ऐसी दशा में यही मानना चाहिए कि पुरुष परिणामी है।

सांख्य पुरुष को कर्त्ता नहीं मानता। पुरुष साक्षी मात्र है,[1] ऐसा उसका विश्वास है। परिणामवाद की सिद्धि के साथ ही साथ कर्तृत्व भी सिद्ध हो जाता है। सुख-दुःखादि का अनुभव विना क्रिया के नहीं हो सकता। अथवा यों कहना चाहिए कि सुख दुःखादि क्रिया रूप ही हैं। ऐसी अवस्था में पुरुष को अकर्त्ता और निष्क्रिय कहना ठीक नहीं। आत्मा 'कर्त्ता है' यह लक्षण इसी वात की पुष्टि के लिए है।

आत्मा साक्षात् भोक्ता है, यह विशेषण भी सांख्यों की मान्यता के खण्डन के लिए है। सांख्य लोग पुरुष में साक्षात् भोक्तृत्व नहीं मानते। वे कहते हैं कि बुद्धि का जो भोग है उसीको पुरुष अपना मान लेता है। वैसे पुरुष में स्वतः भोग क्रिया नहीं है। जैनों का कथन है कि भोगरूप क्रिया जड़ बुद्धि में नहीं घट सकती। उसका सम्बन्ध सीधा पुरुष से है—आत्मा से है। जिस प्रकार परिणाम और क्रिया का आश्रय आत्मा ही होना चाहिए उसी प्रकार भोगरूप क्रिया का आश्रय भी आत्मा ही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, क्योंकि पुरुष आध्यात्मिक और चेतन तत्त्व है जबकि बुद्धि जड़ और भौतिक है, क्योंकि वह प्रकृति का विकार है। चैतन्य का जड़ तत्त्व में प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है? प्रतिबिम्ब तो जड़ का जड़ में ही पड़ सकता है। जैन दर्शन सम्मत आत्मा और कर्म के सम्बन्ध में ये सब दोष लागू नहीं होते, क्योंकि वह संसारी आत्मा को परिणामी और कथंचित् मूर्त मानता है। सांख्य दर्शन एकान्तवादी है। वह पुरुष को एकान्त रूप से नित्य मानता है। परिणाम का भी आत्यन्तिक अभाव मानता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति और पुरुष का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं घट सकता। सम्बन्ध के लिए परिवर्तन-परिणाम अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ परिणाम का अभाव है वहाँ कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सभी क्रियाओं का अभाव है।

१—तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥

—सांख्यकारिका, १९

आत्मा 'स्वदेह परिमाण है' यह लक्षण उन सभी दार्शनिकों की मान्यता का खण्डन करने के लिए है, जो आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि आत्मा का अनेकत्व तो स्वीकृत करते हैं, किन्तु साथ ही साथ आत्मा को सर्वव्यापक भी मानते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापक है उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा सर्वव्यापक है। भारतीय दर्शनशास्त्र में आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मान कर भी उसे स्वदेह परिमाण मानना जैन दर्शन की ही विशेषता है। जैन दर्शन के अतिरिक्त कोई ऐसा दर्शन नहीं है जो आत्मा को शरीर परिमाण मानता हो। जैनों का कथन है कि किसी भी आत्मा को शरीर से बाहर मानना अनुभव एवं प्रतीति से विपरीत है। हमारी प्रतीति हमें यही बताती है कि जितने परिमाण में हमारा शरीर है उतने ही परिमाण में हमारी आत्मा है। शरीर से बाहर आत्मा का अस्तित्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता। जहाँ पर जिस वस्तु के गुण उपलब्ध होते हैं वह वस्तु वहीं पर होती है। कुम्भ वहीं है जहाँ कुम्भ के गुण रूपादि उपलब्ध हैं[1]। इसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व भी वहीं मानना चाहिए, जहाँ आत्मा के गुण ज्ञान, स्मृति आदि उपलब्ध हों। ये सारे गुण यद्यपि भौतिक शरीर के नहीं हैं तथापि उपलब्ध वहीं होते हैं जहाँ शरीर होता है, अतः यह मानना ठीक नहीं कि आत्मा सर्वव्यापक है।

कोई यह पूछ सकता है कि गन्ध दूर रहती है फिर भी हम कैसे सूँघ लेते हैं? इसका उत्तर यही है कि गन्ध के परमाणु घ्राणेन्द्रिय तक पहुँचते हैं, इसीलिए हमें गन्ध आती है। यदि घ्राणेन्द्रिय के पास पहुँचे बिना ही गन्ध का अनुभव होने लगे, तो सभी वस्तुओं की गन्ध आ जानी चाहिए। ऐसा नहीं होता, किन्तु जिस वस्तु के गन्धाणु हमारी घ्राणेन्द्रिय तक पहुँचते हैं उसी वस्तु की गन्ध की प्रतीति होती है। आत्मा के सर्वगतत्व का खण्डन करने के लिए निम्न हेतु का प्रयोग है—

१—अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, का० ९

आत्मा सर्वगत नहीं है क्योंकि उसके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते। जिसके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते वह सर्वगत नहीं होता जैसे घट। आत्मा के गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, अतः आत्मा सर्वगत नहीं है। जो सर्वगत होता है उसके गुण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं—जैसे आकाश[1]।

नैयायिक इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि हमारा अदृष्ट सर्वत्र कार्य करता रहता है। उसके रहने के लिए आत्मा की आवश्यकता होती है। वह केवल आकाश में नहीं रहता, क्योंकि प्रत्येक आत्मा का अदृष्ट भिन्न-भिन्न है। जब अदृष्ट सर्वव्यापक है तब आत्मा भी सर्वव्यापक ही होगी, क्योंकि जहाँ आत्मा होती है वहीं अदृष्ट रहता है। जैन दार्शनिक इस चीज को नहीं मानते। वे कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना स्वभाव होता है, जिसके अनुसार वह कार्य करती है। अग्नि का स्वभाव जलना है, इसलिए वह जलती है। यदि प्रत्येक वस्तु के लिए अदृष्ट की कल्पना की जाएगी तो वायु का तिर्यग् गमन, अग्नि का प्रज्वलन आदि जगत् के जितने भी कार्य हैं, सबके लिए अदृष्ट की सत्ता माननी पड़ेगी। ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का एक विशिष्ट स्वभाव होता है जिसके अनुसार वह कार्य करती है। वह स्वभाव उसका स्वरूप है, अदृष्ट-प्रदत्त गुण नहीं।

दूसरी बात यह है कि यदि सभी वस्तुओं के स्वभाव का निर्माण अदृष्ट द्वारा माना जाय तो ईश्वर के लिए जगत् में कोई स्थान नहीं रहेगा।

एक प्रश्न यह हो सकता है कि यदि आत्मा विभु नहीं है तो शरीर-निर्माण के लिए परमाणुओं को कैसे खींचेगी? इसका उत्तर यह है कि शरीर-निर्माण के लिए विभुत्व की आवश्यकता नहीं है। यदि आत्मा को विभु माना जाय तो उसका शरीर जगत्परिमाण हो जाएगा, क्योंकि जगत्व्यापी होने से सारे जगत् के परमाणुओं

१—स्याद्वादमंजरी, का० ९ पृ० ४९

को खींच लेगी। ऐसी अवस्था में न जाने उसका शरीर कितना भयंकर होगा और शायद सारे जगत् में एक ही शरीर होगा।

नैयायिक एक और शंका उठाता है। वह कहता है कि आत्मा को शरीर-परिमाण मानने से आत्मा सावयव हो जाएगा और सावयव होने से कार्य हो जाएगा जैसे शरीर स्वयं कार्य है। कार्य होने से आत्मा अनित्य हो जाएगी। जैन दार्शनिक इस परिणाम को बड़े गर्व से स्वीकृत करते हैं। वे आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते ही नहीं। इसलिए आत्मा को अनित्य मानना उन्हें इष्ट है। जैनों की मान्यता है कि आत्मा के प्रदेश होते हैं, यद्यपि साधारण अर्थ में अवयव नहीं होते। आत्मा पारिणामिक है, सावयव है, सप्रदेश है। ऐसी स्थिति में अनित्यता का दोष जैनों पर नहीं आता। आत्मा संकोच और विकासशाली हैं अतः एक शरीर से दूसरे में पहुँचने पर उसके परिमाण में परिवर्तन हो जाता है। रामानुज जिस प्रकार ज्ञान को संकोचविकास-शाली मानता है[1] उसी प्रकार जैन दर्शन आत्मा को संकोचविकासशाली मानता है।

आत्मा 'प्रत्येक शरीर में भिन्न है' यह बात उन दार्शनिकों की मान्यता के खण्डन के रूप में कही गई, है, जो आत्मा को केवल एक आध्यात्मिक तत्त्व मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार एक ही शरीर में अनेक आत्माएँ रह सकती हैं, किन्तु एक आत्मा अनेक शरीरों में नहीं रह सकती। नैयायिक आदि दार्शनिक भी अनेक आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास करते हैं। इस अनेकता की दृष्टि से जैन-दर्शन में और उनमें मतैक्य है। (स्वदेह परिमाण की दृष्टि से जो मतभेद है उसका विचार कर चुके हैं) अद्वैत वेदान्त मानता है कि आध्यात्मिक तत्त्व एक ही है। वह सर्वव्यापक है और सर्वत्र समान रूप से रहता है। अविद्या के प्रभाव के कारण हम यह समझते हैं कि भिन्न-भिन्न आत्माएँ हैं

१—'ज्ञानं धर्मः संकोचविकासयोग्यम्।'

—तत्त्वत्रय, पृष्ठ ३५

और उनका भिन्न-भिन्न अस्तित्व है । जिस प्रकार एक ही आकाश घटाकाश, पटाकाश आदि रूपों में प्रतिभासित होता है उसी प्रकार अविद्या के कारण एक ही आत्मा अनेक आत्माओं के रूप में प्रतिभासित होती है । एक ही परमेश्वर कूटस्थ, नित्य, विज्ञान-धातु अविद्या के कारण अनेक प्रकार का मालूम होता है ।'

इस मान्यता का खण्डन करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि जहाँ तक आकाश का प्रश्न है, यह कहना उचित है कि वह एक है, क्योंकि अनेक वस्तुओं को अपने अन्दर अवगाहना देते हुए भी वह एक रूप रहता है । उसके अन्दर कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता । अथवा आकाश भी सर्वथा एक रूप नहीं है, क्योंकि वह भी घटाकाश, पटाकाश, मठाकाश आदि अनेक रूपों में परिणत होता रहता है । दीपक की तरह वह भी कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है । फिर भी मान लीजिए कि आकाश एकरूप है । किन्तु जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है, ऐसी कोई भी एकता मालूम नहीं होती जिसके कारण सारे भेद समाप्त हो जाते हों । यह ठीक है उनका स्वरूप एक सरीखा है । ऐसा होते हुए भी उनमें ऐकान्तिक अभेद नहीं है । माया को बीच में डाल कर भेद को मिथ्या सिद्ध करना युक्ति संगत नहीं, क्योंकि माया स्वयं ही असिद्ध है । आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है, प्रत्येक पिण्ड में अलग है । संसार के सभी जीवित प्राणी भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि उनके गुणों में भेद है जैसे—घट । जहाँ किसी वस्तु के गुणों में अन्य वस्तु के गुणों से भेद नहीं होता वहाँ वह उससे भिन्न नहीं होती-जैसे आकाश ।

दूसरी बात यह है कि यदि सारे संसार का अन्तिम तत्त्व एक ही आत्मा है तो सुख, दुःख, बन्धन, मुक्ति आदि किसी को भी

१—'तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिषेधायेदं शारीरकमारब्धम् । एक एव परमेश्वरः-कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते, नान्यो विज्ञानधातुरस्ति ।

—शारीरक भाष्य १।३।१९

को खींच लेगी। ऐसी अवस्था में न जाने उसका शरीर कितना भयंकर होगा और शायद सारे जगत् में एक ही शरीर होगा।

नैयायिक एक और शंका उठाता है। वह कहता है कि आत्मा को शरीर-परिमाण मानने से आत्मा सावयव हो जाएगा और सावयव होने से कार्य हो जाएगा जैसे शरीर स्वयं कार्य है। कार्य होने से आत्मा अनित्य हो जाएगी। जैन दार्शनिक इस परिणाम को बड़े गर्व से स्वीकृत करते हैं। वे आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते ही नहीं। इसलिए आत्मा को अनित्य मानना उन्हें इष्ट है। जैनों की मान्यता है कि आत्मा के प्रदेश होते हैं, यद्यपि साधारण अर्थ में अवयव नहीं होते। आत्मा पारिणामिक है, सावयव है, सप्रदेश है। ऐसी स्थिति में अनित्यता का दोष जैनों पर नहीं आता। आत्मा संकोच और विकासशाली है अतः एक शरीर से दूसरे में पहुँचने पर उसके परिमाण में परिवर्तन हो जाता है। रामानुज जिस प्रकार ज्ञान को संकोचविकास-शाली मानता है[1] उसी प्रकार जैन दर्शन आत्मा को संकोचविकासशाली मानता है।

आत्मा 'प्रत्येक शरीर में भिन्न है' यह बात उन दार्शनिकों की मान्यता के खण्डन के रूप में कही गई, है, जो आत्मा को केवल एक आध्यात्मिक तत्त्व मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार एक ही शरीर में अनेक आत्माएँ रह सकती हैं, किन्तु एक आत्मा अनेक शरीरों में नहीं रह सकती। नैयायिक आदि दार्शनिक भी अनेक आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास करते हैं। इस अनेकता की दृष्टि से जैन-दर्शन में और उनमें मतैक्य है। (स्वदेह परिमाण की दृष्टि से जो मतभेद है उसका विचार कर चुके हैं) अद्वैत वेदान्त मानता है कि आध्यात्मिक तत्त्व एक ही है। वह सर्वव्यापक है और सर्वत्र समान रूप से रहता है। अविद्या के प्रभाव के कारण हम यह समझते हैं कि भिन्न-भिन्न आत्माएँ हैं

१—'ज्ञानं धर्मः संकोचविकासयोग्यम्।'

—तत्त्वत्रय, पृष्ठ ३५

और उनका भिन्न-भिन्न अस्तित्व है। जिस प्रकार एक ही आकाश घटाकाश, पटाकाश आदि रूपों में प्रतिभासित होता है उसी प्रकार अविद्या के कारण एक ही आत्मा अनेक आत्माओं के रूप में प्रतिभासित होती है। एक ही परमेश्वर कूटस्थ, नित्य, विज्ञान-धातु अविद्या के कारण अनेक प्रकार का मालूम होता है।[1]

इस मान्यता का खण्डन करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि जहाँ तक आकाश का प्रश्न है, यह कहना उचित है कि वह एक है, क्योंकि अनेक वस्तुओं को अपने अन्दर अवगाहना देते हुए भी वह एक रूप रहता है। उसके अन्दर कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। अथवा आकाश भी सर्वथा एक रूप नहीं है, क्योंकि वह भी घटाकाश, पटाकाश, मठाकाश आदि अनेक रूपों में परिणत होता रहता है। दीपक की तरह वह भी कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। फिर भी मान लीजिए कि आकाश एकरूप है। किन्तु जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है, ऐसी कोई भी एकता मालूम नहीं होती जिसके कारण सारे भेद समाप्त हो जाते हों। यह ठीक है उनका स्वरूप एक सरीखा है। ऐसा होते हुए भी उनमें ऐकान्तिक अभेद नहीं है। माया को बीच में डाल कर भेद को मिथ्या सिद्ध करना युक्ति संगत नहीं, क्योंकि माया स्वयं ही असिद्ध है। आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है, प्रत्येक पिण्ड में अलग है। संसार के सभी जीवित प्राणी भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि उनके गुणों में भेद है जैसे—घट। जहाँ किसी वस्तु के गुणों में अन्य वस्तु के गुणों से भेद नहीं होता वहाँ वह उससे भिन्न नहीं होती-जैसे आकाश।

दूसरी बात यह है कि यदि सारे संसार का अन्तिम तत्त्व एक ही आत्मा है तो सुख, दुःख, बन्धन, मुक्ति आदि किसी की भी

१—'तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिबोधायेदं शरीरकमारब्धम्। एक एव परमेश्वरस्य-कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते, नान्यो विज्ञानधातुरस्ति।

—शारीरक भाष्य १।३।१९

आवश्यकता नहीं रहती। जहाँ एक है वहाँ कोई भेद हो ही नहीं सकता। भेद हमेशा अनेकपूर्वक होता है। भेद का अर्थ ही अनेकता है। माया या अविद्या भी इस समस्या का समाधान नहीं कर सकती, क्योंकि जहाँ केवल एक तत्त्व है वहाँ माया या अविद्या नाम की कोई चीज नहीं हो सकती। उसके लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि एक तत्त्ववादी भेद का संतोषजनक समाधान नहीं कर सकता। यह हमारे अनुभव की चीज है कि भेद होता है, इसलिए भेद का अपलाप भी नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में सुख, दुःख, जनन, मरण, बन्धन, मुक्ति आदि अनेक दशाओं के सन्तोषप्रद समाधान के लिए अनेक आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता मानना अत्यावश्यक है[1]।

आत्मा के गुणों में भेद कैसे है, इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि आत्मा का सामान्य लक्षण उपयोग है। किन्तु यह उपयोग अनन्त प्रकार का होता है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा में भिन्न-भिन्न उपयोग है। किसी आत्मा में उपयोग का उत्कर्ष है तो किसी में अपकर्ष है। उत्कर्ष और अपकर्ष की अन्तिम अवस्थाओं के बीच में अनेक प्रकार हैं। आत्माएँ अनन्त हैं, इसलिए आत्मा के भेद से उपयोग के भेद भी अनन्त हैं।[2]

यहाँ पर सांख्य दर्शन के उन तीन हेतुओं का भी निर्देश कर देना चाहिए, जिनसे पुरुषबहुत्व की सिद्धि की गई है। ये तीनों हेतु आत्मा के बहुत्व की सिद्धि के लिए बहुत उपयोगी हैं। पहला हेतु है 'जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्' अर्थात् उत्पत्ति, मृत्यु और इन्द्रियादि करणों की विभिन्नता से पुरुषबहुत्व का अनुमान हो सकता है। दूसरा हेतु है 'अयुगपत्प्रवृत्तेः' अर्थात् अलग-अलग प्रवृत्ति को देखकर पुरुषबहुत्व की कल्पना हो सकती है। तीसरा हेतु है 'त्रैगुण्यविपर्ययात्' अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् की

१—विशेषावश्यक भाष्य १५८२

२—वही—१५८३

असमानता से पुरुषबहुत्व की सिद्धि हो सकती है[1]। सत्त्व, रजस् और तमस् की असमानता के स्थान पर जैन कर्म की असमानता का प्रयोग कर सकते हैं। आत्मा के बहुत्व की सिद्धि के लिए इतनी चर्चा काफी है।

आत्मा 'पौद्गलिक कर्मों से युक्त है' यह लक्षण दो बातों को प्रकट करता है। पहली बात तो यह है कि जो लोग कर्म आदि की सत्ता में विश्वास नहीं रखते उनके सिद्धान्त का खण्डन करता है। दूसरी बात यह है कि जो लोग कर्मों को मानते हैं किन्तु उन्हें पौद्गलिक अर्थात् भौतिक नहीं मानते उनके मत को दूषित ठहराता है। कर्म' पद से प्रथम बात निकलती है और 'पौद्गलिक' पद से दूसरी बात प्रकट होती है।

चार्वाक जो कि कर्म की सत्ता में विश्वास नहीं करते उनकी मान्यत का खण्डन करते हुए कहा जा सकता है कि सुख-दुःखादि की विषमता का कोई-न-कोई कारण अवश्य है, क्योंकि यह एक प्रकार का कार्य है जैसे अंकुरादि। केवल आत्मा में सुखदुःखादि की विषमता नहीं होती। वह तो अनन्तसुखात्मक है और फिर चार्वाक आत्मा को मानते भी नहीं। भूतों का विशिष्ट संयोग भी इस विषमता का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उस संयोग की विषमता के पीछे कोई-न-कोई अन्य कारण अवश्य होना चाहिए, जिसके कारण संयोग में वैषम्य होता है। वह कारण क्या है? उस कारण की खोज में वर्तमान को छोड़कर भूत तक पहुँचना पड़ता है। वही कारण कर्म है। यदि कोई यह कहे कि हमें कर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए कर्म मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसी अवस्था में उसे यह उत्तर दिया जा सकता है कि जो वस्तु इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय न हो वह है ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, अन्यथा भूत और भविष्य के जितने भी पदार्थ हैं सब असत्

१—जननमरणकरणानां, प्रतिनियमाद् युगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं, त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥
—सांख्यकारिका, १८

हो जाएँगे, क्योंकि उनका हमें इस समय प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। ऐसी दशा में सारा व्यवहार लुप्त हो जाएगा। पिता की मृत्यु के बाद 'मैं अपने पिता का पुत्र हूँ' ऐसा नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि पिता का प्रत्यक्ष ही नहीं है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। 'पुत्र' कार्य है, इसलिए उसका कारण 'पिता' अवश्य होना चाहिए। इसी प्रकार कर्मों के कार्यों को देखकर कारण रूप कर्मों का अनुमान लगाना ही पड़ता है। इसी चीज को दूसरी तरह से देखें। परमाणु इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं है किन्तु घटादि कार्य देख कर तत्कारण रूप परमाणुओं का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार सुखदुःखादि के वैषम्य को देखकर तत्कारणरूप कर्मों का अनुमान करना युक्तिसंगत है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है। चन्दन, अंगनादि के संयोग से व्यक्ति को सुख की प्राप्ति होती है और विष, कण्टक, सर्पादि से दुःख मिलता है। ये प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले कारण ही सुख और दुःख के कारण हैं। ऐसी दशा में हम अदृश्य कारणों की कल्पना क्यों करें? जो कारण दिखाई देते हैं उन्हें छोड़कर ऐसे कारणों की कल्पना करना जो अप्रत्यक्ष हैं, ठीक नहीं। प्रश्न बहुत अच्छा है किन्तु उसमें थोड़ा सा दोष है। दोष यह है कि वह व्यभिचारी है। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि एक ही प्रकार के साधनों के रहते हुए एक व्यक्ति अधिक सुखी होता है, दूसरा कम सुखी होता है, तीसरा दुःखी होता है। समान साधनों से सबको समान सुख नहीं मिलता। यही बात दुःख के साधनों के विषय में भी कही जा सकती है। ऐसा क्यों होता है? इसके लिए किसी-न-किसी अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ती है।

जिस प्रकार हम युवकदेह को देखकर बालदेह का अनुमान करते हैं उसी प्रकार बालदेह को देखकर भी किसी अन्य देह का अनुमान करना चाहिए। यह देह 'कार्मण शरीर' है।[1] यह परम्परा अनादिकाल से चली आती है।

१—विशेषावश्यकभाष्य, १६१४

हम शरीररूप कार्य से कर्मरूप कारण का अनुमान करते हैं। शरीर भौतिक है—पौद्गलिक है, ऐसी दशा में कर्म भी पौद्गलिक ही होने चाहिएँ, क्योंकि पौद्गलिक कार्य का कारण भी पौद्गलिक ही हो सकता है। जैन दर्शन तर्क की इस मांग का समर्थन करता है तथा कर्म को पौद्गलिक सिद्ध करने के लिए निम्न हेतु उपस्थित करता है—

१—कर्म पौद्गलिक हैं, क्योंकि उनसे सुख:दुखादि का अनुभव होता है। जिसके सम्बन्ध से सुखदु:खादि का अनुभव होता है वह पौद्गलिक होता है, जैसे भोजनादि। जो पौद्गलिक नहीं होता उसके सम्बन्ध से सुखदु:खादि भी नहीं होते, जैसे आकाश।

२—जिसके सम्बन्ध से तीव्र वेदनादि का अनुभव होता है वह पौद्गलिक होता है जैसे अग्नि। कर्म के सम्बन्ध से तीव्र वेदनादि की प्रतीति होती है, अतः कर्म पौद्गलिक हैं।

३—पौद्गलिक पदार्थ के संयोग से पौद्गलिक पदार्थ की ही वृद्धि हो सकती है जैसे घट तैलादि के संयोग से वृद्धयुन्मुख होता है। यही स्थिति हमारी है। हम बाह्य पदार्थों के संयोग से वृद्धि की प्राप्ति करते हैं। यह वृद्धि कार्मिक है और पौद्गलिक पदार्थों के संयोग से होती है, अतः कर्म पौद्गलिक हैं।

४—कर्म पौद्गलिक हैं, क्योंकि उनका परिवर्तन आत्मा के परिवर्तन से भिन्न है। कर्मों का परिणामित्व (परिवर्तन) उनके कार्य शरीरादि के परिणामित्व से जाना जाता है। शरीरादि का परिणामित्व आत्मा के परिणामित्व से भिन्न है, क्योंकि आत्मा का परिणामित्व अरूपी है जब कि शरीर का परिणामित्व रूपी है। अतः कर्म पौद्गलिक हैं।

संसारी आत्मा का कर्मों से संयोग इसलिए हो सकता है कि कर्म मूर्त हैं। और संसारी आत्मा भी कर्मयुक्त होने से कथंचित् मूर्त है। आत्मा और कर्म का यह संयोग अनादि है, अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता कि पहले पहल आत्मा और कर्म का संयोग कैसे हुआ? एक बार इस संयोग के सर्वथा समाप्त हो जाने पर पुनः संयोग नहीं होता, क्योंकि उस समय आत्मा अपने शुद्ध अमूर्त रूप में पहुँच जाता है। यही मोक्ष है। यही संसार-निवृत्ति है। यही सिद्धावस्था है। यही ईश्वरा-

वस्था है। यही अन्तिम साध्य है। यही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है। यही सुख का अन्तिम रूप है। यही ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की पराकाष्ठा है।

पुद्‌गल :

यथार्थवाद का विवेचन करते समय यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा चुका है कि जड़ तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता है। भौतिक तत्त्व आध्यात्मिक तत्त्व से स्वतन्त्र हैं। जिसे सामान्यतया जड़ या भौतिक कहा जाता है वही जैन दर्शन में पुद्‌गल शब्द से व्यवहृत होता है। बौद्ध दर्शन में पुद्‌गल शब्द का आत्मा के अर्थ में प्रयोग हुआ है। पुद्‌गल शब्द में दो पद हैं—'पुद्' और 'गल'। 'पुद्' का अर्थ होता है पूरण अर्थात् वृद्धि और 'गल' का अर्थ होता है गलन अर्थात् ह्रास। जो द्रव्य पूरण और गलन द्वारा विविध प्रकार से परिवर्तित होता है वह पुद्‌गल है[1]। पूरण और गलनरूप क्रिया केवल पुद्‌गल में ही होती है, अन्य में नहीं। पुद्‌गल का एक रूप दूसरे रूप में पूरण और गलन द्वारा ही परिवर्तित होता है।

पुद्‌गल के मुख्य चार धर्म होते हैं—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण। पुद्‌गल के प्रत्येक परमाणु में ये चारों धर्म होते हैं। इनके जैन दर्शन में बीस भेद किए जाते हैं[2]।

स्पर्श के आठ भेद होते हैं—मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष।

रस के पाँच भेद होते हैं—तिक्त, कटुक, आम्ल, मधुर और कषाय।

गन्ध दो प्रकार की है—सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध।

वर्ण के पाँच प्रकार हैं—नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और लोहित।

ये बीस मुख्य भेद हैं। इनका संख्यात असंख्यात और अनन्त भेदों में विभाजन हो सकता है[3]। एक पुद्‌गल परमाणु में कम-से-कम कितने

१—पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्‌गलाः।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक ५।१।२४

२—वही ५।२३, ७-१०

३—सर्वार्थसिद्धि ५।२३

स्पर्शादि होते हैं, इसका निर्देश परमाणु के स्वरूप-वर्णन के समय किया जाएगा। वर्णादि पुद्गल के अपने धर्म हैं या हम लोग इन धर्मों का पुद्गल में आरोप करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि ये धर्म पुद्गल के ही धर्म हैं। जो धर्म जिसका न हो उसका हमेशा आरोप नहीं हो सकता, अन्यथा कोई भी धर्म वास्तविक न होगा। यह ठीक है कि वर्णादि के प्रतिभास में थोड़ा बहुत अन्तर पड़ सकता है। एक वस्तु एक व्यक्ति को अधिक काली दीख सकती है और दूसरे को थोड़ी कम काली। इसका अर्थ यह नहीं होता कि वस्तु का काला वर्ण ही अयथार्थ है। यदि ऐसा होता तो कोई भी वस्तु काली दिखाई देती, क्योंकि कालापन वस्तु में तो है नहीं। जिसकी जब इच्छा होती काली वस्तु दिखाई देती। इसलिए वर्णादि धर्मों को वस्तुगत ही मानना चाहिए। उनकी प्रतीति के लिए कुछ कारणों का होना कुछ प्राणियों के लिए आवश्यक है, यह ठीक है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे गुण अपने आप में कुछ नहीं हैं। गुण स्वतन्त्र रूप से यथार्थ हैं और उनकी प्रतीति के कारण अलग हैं। दोनों भिन्न-भिन्न चीजें हैं। न तो गुणों की सत्ता से आवश्यक कारण असत् हो सकते हैं और न कारणों के रहने से गुण ही मिथ्या हो सकते हैं। दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है।

पुद्गल के मुख्यतया दो भेद होते हैं—अणु और स्कन्ध।

अणु :

पुद्गल का वह अन्तिम भाग जिसका फिर विभाग न हो सके, अणु कहा जाता है। अणु इतना सूक्ष्म होता है कि वही अपनी आदि है, मध्य है और अन्त है। आदि, मध्य और अन्त एक ही हैं[1]। अणु के अन्दर इन सबका कोई भेद नहीं होता। पुद्गल का सबसे छोटा हिस्सा अणु है। उससे कोई छोटा नहीं हो सकता। ग्रीक दार्शनिक जेनो ने एक शंका उठाई थी कि पुद्गल का अन्तिम विभाग हो ही नहीं सकता। आप

१—अन्तादि अन्तमज्झं, अन्तन्तं णेव इन्दिए गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी, तं परमाणु विजाणीहि॥
—तत्त्वार्थराजवार्तिक ५। २५, १, १

उसका छोटे से छोटा विभाग कीजिए। वह विभाग रूपादि युक्त होगा, अतः उसका फिर विभाग हो सकता है। वह विभाग भी उसी प्रकार रूपादि गुणों से युक्त होगा, इसलिए उसका फिर विभाग हो सकेगा। इस प्रकार अनवस्था का सामना करना पड़ेगा। इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि पुद्गल का सबसे छोटा विभाग हो सकता है। जैनों की इस धारणा का खण्डन करते हुए एरिस्टोटल ने उत्तर दिया कि जैनों की यह धारणा कि किसी चीज का अन्तिम विभाग नहीं हो सकता, भ्रान्त है। यह ठीक है कि कल्पना से किसी वस्तु का विभाग किया जाय तो उसका अन्त नहीं आ सकता, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हो सकता। जब हम किसी वस्तु का वास्तविक विभाग करते हैं तब वह विभाग कहीं-न-कहीं जाकर अवश्य रुक जाता है। उससे आगे उसका विभाग नहीं हो सकता। काल्पनिक विभाग के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसका कोई अन्त नहीं आ सकता। यही समाधान-जैन-दर्शनादि-सम्मत परमाणु के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

स्पर्शादि गुणों का एक अणु में किस मात्रा में अस्तित्व रहता है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि अणु में एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श होते है। अणु स्वयं शब्द नहीं है, किन्तु शब्द का कारण अवश्य है। जो स्कन्ध से भिन्न है, किन्तु स्कन्ध को बनाने वाला है[1]। इस कथन का तात्पर्य यह है कि एक अणु में उपर्युक्त स्पर्शादि गुणों के बीसों प्रकार नहीं रहते, किन्तु स्पर्श के दो प्रकार जो परस्पर विरोधी न हों, रस का एक प्रकार, गन्ध का एक प्रकार, वर्ण का एक प्रकार—इस तरह पाँच प्रकार रहते हैं। एक निरंश परमाणु में इनसे अधिक प्रकार नहीं रह सकते। मृदु और कठिन, गुरु और लघु ये चारों स्पर्श अणु में नहीं होते, क्योंकि ये चारों गुण सापेक्ष हैं, अतः स्कन्ध में ही हो सकते हैं। अणु शब्द नहीं है, क्योंकि शब्द के लिए अनेक अणुओं की आवश्यकता रहती है। स्कन्ध भी एक से अधिक अणु का होता है, अतः अणु और स्कन्ध में भेद है।

१—पंचास्तिकायसार, ८८

अणु हमारी इन्द्रियों के विषय नहीं बन सकते। वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ उनका ज्ञान नहीं कर सकतीं। यदि ऐसी बात है तो उन्हें अरूपी क्यों न मान लिया जाय? अणु अरूपी नहीं हैं, क्योंकि उनका स्कन्धादि कार्य रूपी है। जो तत्त्व अरूपी होता है उसका कार्य भी अरूपी ही होता है। स्कन्धादि रूपी कार्यों से परमाणु के रूप का अनुमान किया जाता है। इसलिए इन्द्रियजन्यज्ञान के विषय न होते हुए भी अणु रूपी हैं।

जैन दर्शन मानता है कि स्कन्ध से जो अणु पैदा होते हैं वे भेदपूर्वक हैं।[1] इसका अभिप्राय यह है कि जो पुद्गल वर्तमान में अणु रूप से सत् नहीं हैं, वह अणु हो सकता है या नहीं? यदि हो सकता है तो कैसे? पुद्गल के दो रूप बताए जा चुके हैं। उनमें से जो पुद्गल अणुरूप में रहा हुआ है उसकी उत्पत्ति का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जो पुद्गल अणुरूप में नहीं है अपितु स्कन्धरूप में है, वह क्या अणुरूप में आ सकता है? इसका उत्तर है—हाँ, वह अणुरूप में आ सकता है। यह कैसे? इसके उत्तर में कहा गया कि भेदपूर्वक। जब स्कन्ध में भेद होता है—स्कन्ध टूटता है तभी अणु पैदा हो सकता है। स्कन्ध का एक अविभागी अंश ही अणु है। इस प्रकार स्कन्ध का भेद ही अणु की उत्पत्ति में कारण है। संयोग से अणु उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ संयोग होगा वहाँ कम-से-कम दो अणु अवश्य होंगे और दो अणु वाला स्कन्ध होता है, न कि अणु।

वैशेषिक नव द्रव्य मानते हैं—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।[2] इन नव द्रव्यों में से प्रथम चार द्रव्य—पृथ्वी, अप्, तेज और वायु-इन चारों द्रव्यों में जिन गुणों को मानते हैं वे सब गुण पुद्गल द्रव्य में आ जाते हैं। वैशेषिक वायु को स्पर्श गुण युक्त ही मानते हैं। वे कहते हैं कि वायु में वर्ण, रस और गन्ध नहीं हैं।[3] जैन दार्शनिक इस बात को नहीं मानते। वे कहते हैं कि रूप, रस, गन्ध और

१—'भेदादणुः' —तत्त्वार्थसूत्र ५।२७

२—वैशेषिकदर्शन, १।१।५

३—वैशेषिक दर्शन, २।१।४

स्पर्श सहचारी हैं। जहाँ इन चारों में से एक भी गुण की प्रतीति होती हो वहाँ शेष तीन गुण भी अवश्य रहते हैं। उनकी सूक्ष्मता के कारण चाहे स्पष्ट प्रतीति न होती हो, किन्तु उनका सद्भाव वहाँ अवश्य होता है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श चारों गुण प्रत्येक भौतिक द्रव्य में रहते हैं। वायु में रूप होता है, क्योंकि वह स्पर्शाविनाभावी है, जैसे घट में रूप है क्योंकि वहाँ स्पर्श है। रूप होते हुए भी रूप का ग्रहण क्यों नहीं होता ? क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ स्थूल विषय का ग्रहण करती हैं। जैसे सूक्ष्मगन्ध के रहते हुए भी घ्राणेन्द्रिय से उसका ग्रहण नहीं होता उसी प्रकार वायु में सूक्ष्म रूप रहता है तथापि चक्षुरिन्द्रिय उसका ग्रहण नहीं कर सकती। जैनों की यह मान्यता आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर भी सच्ची उतरती है। विज्ञान मानता है कि 'निरंतर ठंडा करते रहने से वायु एक प्रकार के नीले रस में परिवर्तित हो जाता है जिस प्रकार कि वाष्प पानी के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है।'[1] जब वायु में वर्ण-रूप सिद्ध हो जाता है तो रस और गंध तो सिद्ध हो ही जाते हैं।

वैशेषिक तेज में रस और गन्ध नहीं मानते। वे कहते हैं कि तेज में स्पर्श और रूप ही होता है। यह धारणा भी मिथ्या है। तेज—अग्नि भी एक प्रकार का पुद्गल द्रव्य है, इसलिए उसमें चारों गुण होते हैं। विज्ञान भी इस बात को मानता है कि अग्नि एक भौतिक द्रव्य है और उसमें उष्णता का अंश अधिक रहता है।

गन्ध केवल पृथ्वी में ही है, ऐसा वैशेषिकों का विश्वास है। यह भी ठीक नहीं। हमें साधारण तौर से वायु, अग्नि आदि में गंध की प्रतीति नहीं होती। इसके आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि इनमें गंध है ही नहीं। चींटी जितनी आसानी से शक्कर की गंध का पता लगा लेती है उतनी आसानी से हम नहीं लगा सकते। बिल्ली जितनी सरलता से दही और दूध की गंध के आधार पर वहाँ तक पहुँच जाती है उतनी सरलता से हम लोग नहीं पहुँच सकते।

---

1. Air can be converted bluish liquid by continuous cooling, just as steam can be converted into water.

इसका अर्थ यही है कि किसी की इंद्रियशक्ति इतनी तीव्र होती है कि वह बहुत दूर से साधारण सी वस्तु की गंध का पता लगा लेता है। किसी की इन्द्रियशक्ति इतनी मन्द होती है कि उसे तीव्र गंध का भी पता नहीं लग सकता। इसी प्रकार वायु, पानी, अग्नि आदि में गंध की साधारणतया प्रतीति नहीं होती, तथापि उनमें रूप, रस आदि की तरह गंध भी होती है।

वैशेषिक दर्शन जिस प्रकार पृथ्वी आदि द्रव्यों में भिन्न गुण मानता है उसी प्रकार भिन्न द्रव्यों के भिन्न परमाणु भी मानता है। पृथ्वी के परमाणु अलग हैं, पानी के परमाणु अलग हैं, तेज के परमाणु अलग हैं और वायु के परमाणु अलग हैं। ये सारे परमाणु एक दूसरे से भिन्न हैं। पृथ्वी के परमाणु पानी के परमाणु नहीं बन सकते, पानी के परमाणु पृथ्वी के परमाणुओं में परिवर्तित नहीं हो सकते आदि। यह वैशेषिक दर्शन का परमाणु-नित्यवाद है। सब द्रव्यों के परमाणु नित्य होते हैं। उनका कार्य बदलता रहता है किन्तु वे कभी नहीं बदलते। जैन दर्शन ऐसा नहीं मानता। पृथ्वी आदि किसी भी पुद्गल द्रव्य के परमाणु अप् आदि रूपों में परिणत हो सकते हैं। परमाणुओं के रूपों में परिवर्तन होता रहता है। नए नए स्कन्धों के भेद से नए नए परमाणु बनते रहते हैं। किसी अन्य स्कन्ध में मिल जाने से फिर वे उस स्कन्ध के समान हो जाते हैं और पुनः भेद होने से उस नए रूप में रहने लग जाते हैं। परमाणुओं की ऐसी जातियाँ नहीं बनी हुई हैं जिनमें वे नित्य रहते हों। एक परमाणु का दूसरे रूप में बदल जाना साधारण बात है। वैशेषिकों के परमाणु-नित्यवाद में जैन दर्शन विश्वास नहीं रखता। ग्रीक दार्शनिक ल्युसिपस और डेमोक्रेट्स भी इसी तरह परमाणुओं में भेद नहीं मानते। वे सब परमाणुओं को एक जातिका मानते हैं। वह जाति है भूतसामान्य या जड़सामान्य।

स्कन्ध :

यह पहले ही कहा जा चुका है कि स्कन्ध अणुओं का समुदाय है। स्कन्ध तीन तरह से बनते हैं—भेदपूर्वक, संघातपूर्वक और भेद और संघात उभयपूर्वक।[1]

१—'भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते' —तत्त्वार्थसूत्र ५।२६

भेद दो कारणों से होता है—आभ्यन्तर और बाह्य।[1] आभ्यन्तर कारण से जो एक स्कन्ध का भेद होकर दूसरा स्कन्ध बनता है उसके लिए किसी बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं रहती। स्कन्ध में स्वयं विदारण होता है। बाह्य कारण से होने वाले भेद के लिये स्कन्ध के अतिरिक्त अन्य कारण की आवश्यकता रहती है। उस कारण के होने पर उत्पन्न होने वाले भेद को बाह्य कारणपूर्वक कहा गया है।

विविक्त अर्थात् पृथक् भूतों का एकीभाव संघात है। यही बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का हो सकता है। दो पृथक्-पृथक् अणुओं का संयोग संघात का उदाहरण है।

जब भेद और संघात दोनों एक साथ होते हैं तब जो स्कन्ध बनता है वह भेद और संघात उभयपूर्वक होने वाला स्कन्ध कहा जाता है। जैसे ही एक स्कन्ध का एक हिस्सा अलग हुआ और उस स्कन्ध में उसी समय दूसरा स्कन्ध आकर मिल गया और एक नया स्कन्ध बन गया। यह नया स्कन्ध भेद और संघात उभयपूर्वक है।

इस प्रकार स्कन्ध के निर्माण के तीन मार्ग हैं। इन तीन मार्गों में से किसी भी मार्ग से स्कन्ध बन सकता है। कभी केवल भेद से ही स्कन्ध बनता है, तो कभी केवल संघातपूर्वक ही स्कन्ध का निर्माण होता है, तो कभी भेद और संघात उभयपूर्वक स्कन्ध निर्मित होता है।

संघात अथवा बन्ध कैसे होता है, इस प्रश्न के उत्तर में जैन-दार्शनिक कहते हैं कि 'पुद्गल में स्निग्धत्व और रूक्षत्व के कारण बन्ध होता है।'[2] स्निग्ध और रूक्ष दो स्पर्श हैं। इन्हीं के कारण पुद्गल में बंध होता है। बन्ध के लिए निम्न बातें होना जरूरी हैं[3]—

१—सर्वार्थसिद्धि ५।२६

२—स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः

३—"न जघन्यगुणानाम्"
"गुणसाम्ये सदृशानाम्" —तत्त्वार्थ सूत्र ५।३२
"द्वयधिकादिगुणानां तु"
—तत्त्वार्थ सूत्र ५। ३३-३५

१—जघन्य गुण वाले अवयवों का बन्ध नहीं होता।

२—समानगुण होने पर सदृश अर्थात् स्निग्ध से स्निग्ध अवयवों का तथा रूक्ष से रूक्ष अवयवों का बन्ध नहीं होता।

३—द्वयधिकादि गुण वाले अवयवों का बन्ध होता है।

बन्ध के लिए सर्वप्रथम बात यह है कि जिन परमाणुओं में स्निग्धत्व या रूक्षत्व का अंश अर्थात् गुण जघन्य हो उनका पारस्परिक बंध नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि मध्यम और उत्कृष्ट गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष अवयवों का पारस्परिक बंध हो सकता है। इस सिद्धांत को पुनः सीमित करते हुए दूसरी बात कही गई। उसके अनुसार समान गुण वाले सदृश अवयवों का पारस्परिक बन्ध नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि असमान गुण वाले सदृश अवयवों का बन्ध हो सकता है। इसका निषेध करते हुए तीसरा सिद्धान्त स्थापित किया गया। इसके अनुसार असमान गुण वाले सदृश अवयवों में भी यदि एक अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो गुण, तीन गुण आदि अधिक हों तो उन दो सदृश अवयवों का बन्ध हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व की अपेक्षा दूसरे अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व केवल एक गुण अधिक हो तो उनका बन्ध नहीं हो सकता, अन्यथा उनका बन्ध हो सकता है।

बन्ध की इस चर्चा का जब और स्पष्ट विवेचन किया जाता है तब हमारे सामने दो परम्पराएँ उपस्थित होती हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दो परमाणु जब जघन्य गुण वाले हों तभी उनका बन्ध निषिद्ध है। यदि एक परमाणु जघन्य गुण वाला हो और दूसरा जघन्य गुण न हो तो उनका बन्ध हो सकता है। दिगम्बर मान्यता के अनुसार जघन्य गुण वाले एक भी परमाणु के रहते हुए बन्ध नहीं होता। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार एक अवयव से दूसरे अवयव में स्निग्धत्व या रूक्षत्व के दो, तीन, चार, यावत् अनन्तगुण अधिक होने पर भी बन्ध हो जाता है, केवल एक अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं होता। दिगम्बर मान्यता के अनुसार केवल दो गुण अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है। एक अवयव से दूसरे अवयव में स्निग्धत्व या रूक्षत्व तीन, चार यावत्

अनन्त गुण अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता। श्वेताम्बर परम्परा की धारणा के अनुसार दो, तीन आदि गुणों के अधिक होने पर जो बन्ध का विधान है वह सदृश अवयवों के लिए ही है, असदृश अवयवों के लिए नहीं। दिगम्बर धारणा के अनुसार यह विधान सदृश और असदृश दोनों प्रकार के अवयवों के बन्ध के लिए है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं के बन्ध विषयक मतभेद का सार निम्न कोष्ठकों में दिया जाता है[1]—

श्वेताम्बर परम्परा

गुण	सदृश	विसदृश
१—जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
२—जघन्य+एकाधिक	नहीं	है
३—जघन्य+द्व्यधिक	है	है
४—जघन्य+त्र्यधिकादि	है	है
५—जघन्येतर+समजघन्येतर	नहीं	है
६—जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
७—जघन्येतर+द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८—जघन्येतर+त्र्यधिकादि जघन्येतर	है	है

दिगम्बर परम्परा

गुण	सदृश	विसदृश
१—जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
२—जघन्य+एकाधिक	नहीं	नहीं
३—जघन्य+द्व्यधिक	नहीं	नहीं
४—जघन्य+त्र्यधिकादि	नहीं	नहीं
५—जघन्येतर+समजघन्येतर	नहीं	नहीं
६—जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७—जघन्येतर+द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८—जघन्येतर+त्र्यधिकादि जघन्येतर	नहीं	नहीं

बन्ध हो जाने पर कौन से परमाणु किन परमाणुओं में परिणत होते हैं? सदृश और विसदृश परमाणुओं में से कौन किसको अपने

१—तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल संघवी), पृ० २०२, २०३

में परिणत करता है ? समान गुण वाले सदृश अवयवों का तो बन्ध होता ही नहीं। विसदृश बन्ध के समय कभी एक सम दूसरे सम को अपने रूप में परिणत कर लेता है, कभी दूसरा सम पहले को अपने रूप में बदल लेता है। द्रव्य, क्षेत्रादि का जैसा संयोग होता है वैसा हो जाता है। इस प्रकार का बन्ध एक प्रकार का मध्यम बन्ध है। अधिक गुण और हीन गुण के बन्ध के समय अधिक गुणवाला हीन गुणवाले को अपने रूप में परिणत कर लेता है[1]। जिस परम्परा में समान गुण का पारस्परिक बन्ध नहीं होता वहाँ अधिक गुण हीन गुण को अपने स्वरूप में परिणत कर लेता है,[2] यही काफी है।

पुद्गल द्रव्य के अणु और स्कन्ध ये दो मुख्य भेद हैं। इन भेदों के आधार से बनने वाले छः भेदों का भी वर्णन मिलता है[3]। ये छः भेद निम्नलिखित हैं :—

१—स्थूलस्थूल—मिट्टी, पत्थर, काष्ट आदि ठोस पदार्थ इस श्रेणी में आते हैं।

२—स्थूल—दूध, दही, मक्खन, पानी, तैल आदि द्रव पदार्थ स्थूल विभाग के अन्तर्गत हैं।

३—स्थूलसूक्ष्म—प्रकाश, विद्युत्, उष्णता आदि अभिव्यक्तियाँ स्थूल सूक्ष्म कोटि में आती हैं।

४—सूक्ष्मस्थूल—वायु, वाष्प आदि सूक्ष्मस्थूल भेद के अन्तर्गत आते हैं।

५—सूक्ष्म—मनोवर्गणा आदि अचाक्षुप (चक्षुरादि इन्द्रियों के विषय नहीं हैं) द्रव्य सूक्ष्म पुद्गल हैं।

६—सूक्ष्म-सूक्ष्म—अन्तिम निरंश पुद्गल परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म कोटि में आते हैं।

१—'बन्धेसमाधिको पारिणामिकौ'
—तत्त्वार्थसूत्र ५। ३६

२—'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ' —वही ५।३६

३—नियमसार, २१

जो पुद्गल स्कन्ध अचाक्षुष है वह भेद और संघात से चाक्षुष होता है। जब किसी स्कन्ध में सूक्ष्मत्व की निवृति होकर स्थूलत्व की उत्पत्ति होती है तब कुछ नए परमाणु उस स्कन्ध में अवश्य मिलते हैं। इतना ही नहीं अपितु कुछ परमाणु उस स्कन्ध में से अलग भी हो जाते हैं। मिलना और अलग होना, यही संघात और भेद है। इसीलिए यह कहा गया है कि अचाक्षुष से चाक्षुष होने के लिए भेद और संघात दोनों अनिवार्य हैं।

पुद्गल का कार्य :

स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्मादि भेदों का सामान्य परिचय दिया जा चुका है। यहाँ पुद्गल के कुछ विशिष्ट कार्यों का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। वे कार्य हैं—शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत[1]।

शब्द :

वैशेषिक आदि भारतीय दर्शन शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। सांख्य शब्द-तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति मानता है। जैन-दर्शन इन दोनों मान्यताओं को मिथ्या सिद्ध करता है। आकाश पौद्गलिक नहीं है। अतः शब्द, जो कि पौद्गलिक है—इन्द्रियों का विषय बनता है, आकाश से कैसे उत्पन्न हो सकता है? शब्द-तन्मात्रा से भी आकाश की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि शब्द पौद्गलिक है, अतः शब्द-तन्मात्रा भी पौद्गलिक ही होनी चाहिए और यदि शब्द तन्मात्रा पौद्गलिक है तो उससे उत्पन्न होने वाला आकाश भी पौद्गलिक होना चाहिए, किन्तु आकाश पौद्गलिक नहीं है अतः शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न नहीं हो सकता। जब एक पौद्गलिक अवयव का दूसरे पौद्गलिक अवयव से संघर्ष होता है तब शब्द उत्पन्न होता है। अकेला स्कन्ध शब्द उत्पन्न नहीं कर सकता तब अकेला परमाणु शब्द कैसे पैदा कर सकता है? 'परमाणु का रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वह पृथ्वी, अप्, तेज और वायु का कारण है और

१—शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।
—तत्त्वार्थ सूत्र ५।२४

अशब्दात्मक है। शब्द का कारण स्कन्धों का परस्पर में टकराना है[1]।' अतः शब्द पुद्गल का कार्य है।

शब्द दो प्रकार का है—भाषालक्षण और तद्विपरीत अभाषालक्षण। भाषा-लक्षण दो प्रकार का है—अक्षरीकृत और अनक्षरीकृत। अक्षरीकृत मनुष्य आदि की स्पष्ट भाषा है और अनक्षरीकृत द्वीन्द्रियादि प्राणियों की अस्पष्ट भाषा है। भाषा-लक्षण प्रायोगिक ही है। अभाषालक्षण के दो भेद हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक। वैस्रसिक शब्द बिना किसी आत्म-प्रयत्न के उत्पन्न होता है। बादलों की गर्जना आदि वैस्रसिक है। प्रायोगिक शब्द के चार प्रकार हैं—तत, वितत, घन और सौषिर। चर्म से बने वाद्य मृदंग, पटह आदि से उत्पन्न होने वाला शब्द तत कहलाता है। तार वाले वाद्य वीणा, सारंगी आदि से पैदा होने वाला शब्द वितत है। घंटा, ताल आदि के उत्पन्न शब्द घन कहलाता है। फूंक कर बजाए जाने वाले शंख, वंशी आदि से पैदा होने वाला शब्द सौषिर कहलाता है[2]।

बन्ध :

वैस्रसिक और प्रायोगिक भेद से बंध भी दो प्रकार का है। वैस्रसिक बंध के पुनः दो भेद होते हैं—आदिमान् और अनादि। स्निग्ध और रूक्ष गुण-निर्मित विद्युत, उल्का, जलधार, अग्नि, इन्द्रधनुरादिविषयक बन्ध आदिमान् है। धर्म, अधर्म और आकाश का जो बन्ध है वह अनादि है। प्रायोगिक बन्ध दो प्रकार का है। अजीवविषयक और जीवाजीव विषयक। जतु-काष्ठादि का बन्ध अजीवविषयक है। जीवाजीवविषयक बन्ध कर्म और नोकर्म के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का बन्ध कर्म-बन्ध है। औदारिकादि-विषयक बन्ध नोकर्म बन्ध है।[3]

१—पंचास्तिकायसार ८५, ८६

२—तत्त्वार्थराजवार्तिक ५। २४, २-६

३—वही ५। २४, १०-१३

सौक्ष्म्य :

सौक्ष्म्य दो प्रकार का है—अन्त्य और आपेक्षिक[1]। परमाणु की सूक्ष्मता अन्त्य है, क्योंकि उससे अधिक सूक्ष्मता नहीं हो सकती। अन्य पदार्थों की सूक्ष्मता आपेक्षिक है जैसे केले से आँवला छोटा है, आँवला से बेर छोटा है, आदि।

स्थौल्य :

स्थौल्य भी अन्त्य और आपेक्षिक के भेद से दो प्रकार का है[2]। जगद्व्यापी महास्कन्ध अन्त्य स्थौल्य है। बेर, आँवला, केला आदि स्थौल्य आपेक्षिक हैं।

संस्थान :

इत्थं लक्षण और अनित्थं लक्षण के भेद से संस्थान दो प्रकार का है[3]। व्यवस्थित आकृति इत्थं लक्षण है। मेघादि की तरह अव्यवस्थित आकृति अनित्थं लक्षण है।

भेद :

भेद के छः प्रकार हैं—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन[4]। करपत्रादि से काष्ठादि का चीरना उत्कर है। गेहूँ, जौ आदि का आटा चूर्ण है। घटादि के टुकड़ों को खण्ड कहते हैं। चावल, दाल आदि के छिलके निकलना चूर्णिका है। अभ्रपटलादि का अलग होना प्रतर है। तप्तलोहे के पिण्ड को घनादि से पीटने पर स्फुलिंग का निकलना अणुचटन है।

तम :

तम दृष्टि के प्रतिबन्ध का एक कारण है। यह प्रकाश का विरोधी है। नैयायिकादि तम को स्वतन्त्र भावात्मक द्रव्य न मान कर प्रकाश का अभावमात्र मानते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार तम

१—वही ५। २४, १४
२—वही ५। २४, १५
३—वही ५। २४, १६
४—वही ५। २४, १८

अभावमात्र नहीं है, अपितु प्रकाश की ही भाँति भावात्मक द्रव्य है। जैसे प्रकाश में रूप है उसी प्रकार तम में भी रूप है, अतः तम प्रकाश की ही तरह भावरूप है। जिस प्रकार प्रकाश का भासुर रूप और उष्णस्पर्श लोक में प्रसिद्ध है उसी प्रकार अन्धकार का कृष्णरूप और शीतस्पर्श लोक की प्रतीति का विषय है। तम द्रव्य है, क्योंकि उसमें गुण हैं। जो जो गुणवान् होता है, वह वह द्रव्य होता है—जैसे आलोकादि।

छाया :

प्रकाश पर आवरण आ जाने से छाया होती है। इसके दो प्रकार हैं—तद्वर्णादि विकार और प्रतिबिम्ब।[1] दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में जो मुख का बिम्ब पड़ता है और उसमें आकार आदि ज्यों का त्यों देखा जाता है वह तद्वर्णादि विकाररूप छाया है। अन्य अस्वच्छ द्रव्यों पर प्रतिबिम्ब मात्र का पड़ना प्रतिबिम्ब रूप छाया है।

आतप :

सूर्य, अग्नि आदि का उष्ण प्रकाश आतप है।

उद्योत :

चन्द्र, मणि, खद्योत आदि का शीत प्रकाश उद्योत है।

पुद्गल के कार्यों का यह एक दिग्दर्शन मात्र है। इसी प्रकार के अन्य जितने भी कार्य हैं, सब पुद्गल के ही समझने चाहिए। शरीर, वाणी, मन, निःश्वास, उच्छ्वास, सुख, दुःख, जीवन, मरण आदि सभी पुद्गल के ही कार्य हैं।[2] कुछ कार्य शुद्ध पौद्गलिक होते हैं और कुछ कार्य आत्मा और पुद्गल दोनों के सम्बन्ध से होते हैं। शरीर, वाणी आदि कार्य आत्मा के सम्बन्ध से होते हैं।

१–वही ५। २४, २०–२१

२–शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्।
सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च॥

—तत्त्वार्थसूत्र, ५। १९–२०

पुद्गल और आत्मा :

आत्मा पुद्गल से प्रभावित होती है या नहीं ? जैन-दर्शन यह मानता है कि संसारी आत्मा पुद्गल के विना नहीं रह सकती। जब तक जीव संसार में भ्रमण करता है तब तक पुद्गल और जीव का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। पुद्गल आत्मा को किस प्रकार प्रभावित करता है ? इसका उत्तर जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, यही है कि पुद्गल से ही शरीर का निर्माण होता है, वाणी, मन और श्वासोच्छ्वास भी पुद्गल के ही कार्य हैं। यही बात जीवकाण्ड में इस प्रकार कही गई है–

"पुद्गल शरीर-निर्माण का कारण है। आहारकवर्गणा से औदारिक, वैक्रिय और आहारक ये तीन प्रकार के शरीर बनते हैं तथा श्वासोच्छ्वास का निर्माण होता है। तेजोवर्गणा से तेजस् शरीर बनता है। भाषावर्गणा वाणी का निर्माण करती है। मनोवर्गणा से मन का निर्माण होता है। कर्मवर्गणा से कार्मण शरीर बनता है[1]।"

श्वासोच्छ्वास, वाणी और पान का विशेष परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। श्वास को अन्दर खींचना और बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास है। भाषा आदि का व्यवहार वाणी है। मन एक सूक्ष्म आभ्यन्तरिक इन्द्रिय है। वह चक्षुरादि सभी इन्द्रियों के अर्थ का ग्रहण करता है। वैशेषिक दर्शन मन को अणुमात्र मानता है। जैन दर्शन का कहना है कि मन को अणुमात्र मानने से सम्पूर्ण इन्द्रिय से अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि मन एक अणु प्रमाण स्थान पर ही रहता है। मन आशुसंचारी भी नहीं हो सकता क्योंकि वह अचेतन है। अतः मन स्कन्धात्मक है, अणुप्रमाण नहीं।

अब हम औदारिकादि पाँच प्रकार के शरीर का स्वरूप देखेंगे।

औदारिक शरीर :

तिर्यंच और मनुष्य का स्थूल शरीर औदारिक शरीर है। उदर युक्त होने के कारण इसका नाम औदारिक है। यहाँ उदर का अर्थ

१—गाथा, ६०६–६०८

केवल गर्भ नहीं है, अपितु सारा शरीर है । रक्त, मांस आदि इस शरीर के लक्षण हैं ।

वैक्रिय शरीर :

देवगति और नरकगति में उत्पन्न होने वाले जीवों के वैक्रिय शरीर होता है । इन जीवों के अतिरिक्त लब्धिप्राप्त मनुष्य और तिर्यंच भी इस शरीर को प्राप्त कर सकते हैं । यह शरीर साधारण इन्द्रियों का विषय नहीं होता । भिन्न भिन्न आकारों में परिवर्तित होना इस शरीर की विशेषता है । इसमें रक्त, मांस आदि का सर्वथा अभाव होता है ।

आहारक शरीर :

सूक्ष्म पदार्थ के ज्ञान के लिए अथवा किसी शंका के समाधान के लिए प्रमत्त संयत (मुनि) एक विशिष्ट शरीर का निर्माण करता है । यह शरीर बहुत दूर तक जाता है और शंका-समाधान के साथ पुनः अपने स्थान पर आ जाता है । इसे आहारक शरीर कहते हैं ।

तैजस शरीर :

यह एक प्रकार के विशिष्ट पुद्गल परमाणुओं (तेजोवर्गणा) से बनता है । जठराग्नि की शक्ति इसी शरीर की शक्ति है । यह औदारिक शरीर और कार्मण शरीर के बीच की एक आवश्यक कड़ी है ।

कार्मण शरीर :

आन्तरिक सूक्ष्म शरीर जो कि मानसिक, वाचिक और कायिक सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का मूल है, कार्मण शरीर है । यह आठ प्रकार के कर्मों से बनता है ।

उपर्युक्त पाँच प्रकारों में से हम अपनी इन्द्रियों से केवल औदारिक शरीर का ज्ञान कर सकते हैं । शेष शरीर इतने सूक्ष्म हैं कि हमारी इन्द्रियाँ उनका ग्रहण नहीं कर सकतीं । कोई वीतराग केवली ही उनका प्रत्यक्ष कर सकता है । इनकी सूक्ष्मता का क्रम इस प्रकार है—औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, वैक्रिय से आहारक सूक्ष्म है,

आहारक से तैजस सूक्ष्म है और तैजस से कार्मण सूक्ष्म है[१]। तैजस और कार्मण शरीर का किसी से भी प्रतिघात नहीं होता। वे लोकाकाश में अपनी शक्ति के अनुसार कहीं भी जा सकते हैं। उनके लिए किसी भी प्रकार का वाह्य बन्धन नहीं है। ये दोनों शरीर संसारी आत्मा से अनादिकाल से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक जीव के साथ-कम से कम ये दो शरीर तो रहते ही हैं। जन्मान्तर के समय ये दो शरीर ही होते हैं। अधिक से अधिक एक साथ चार शरीर हो सकते हैं[२]। जब जीव के तीन शरीर होते हैं तो तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैक्रिय, जब चार होते हैं तो तैजस, कार्मण औदारिक और वैक्रिय या तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक समझना चाहिए। पाँच शरीर एक साथ नहीं होते, क्योंकि वैक्रिय लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ नहीं हो सकता। वैक्रिय लब्धि के प्रयोग के समय नियमतः प्रमत दशा होती है[३], किन्तु आहारक के विषय में यह बात नहीं है। आहारक लब्धि का प्रयोग तो प्रमत दशा में होता है, किन्तु आहारक शरीर बना लेने के बाद शुद्ध अध्यवसाय होने के कारण अप्रमत्तावस्था रहती है। अतः एक साथ इन दो शरीरों का रहना सम्भव नहीं। शक्ति रूप से एक साथ पाँचों शरीर रह सकते हैं, क्योंकि आहारक-लब्धि और वैक्रिय का साथ रहना सम्भव है, किन्तु उनका प्रयोग एक साथ नहीं हो सकता; अतः पाँचों शरीर अभिव्यक्ति रूप से एक साथ नहीं रह सकते। इस चर्चा के साथ शरीर चर्चा समाप्त होती है और साथ-ही-साथ पुद्गल चर्चा भी पूरी होती है।

धर्म :

जीव और पुद्गल गति करते हैं। इस गति के लिए किसी न किसी माध्यम की आवश्यकता है। यह माध्यम धर्म द्रव्य है। चूँकि यह अस्तिकाय है, इसलिए इसे धर्मास्तिकाय भी कहते हैं। कोई यह

१—तत्त्वार्थसूत्र २।३८
२—वही २।४१–४४
३—तत्त्वार्थसूत्रभाष्यवृत्ति–२।४४

शंका कर सकता है कि गति करने के लिए किसी माध्यम की क्या आवश्यकता है? क्या जीव और पुद्गल स्वयं गति नहीं कर सकते? इसका समाधान यह है कि गति तो जीव और पुद्गल ही करते हैं, किन्तु उनकी गति में जो सहायक कारण है—माध्यम है वह धर्म है। यदि बिना धर्म के भी गति हो सकती तो मुक्तजीव अलोकाकाश में भी पहुँच जाता। अलोकाकाश में आकाश के सिवाय कोई द्रव्य नहीं है। मुक्तजीव स्वभाव से ही ऊर्ध्व गतिवाला होता है। ऐसा होते हुए भी वह लोक के अन्त तक जाकर रुक जाता है[1]; क्योंकि अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय नहीं है। धर्मास्तिकाय के अभाव में गति नहीं हो सकती, इसीलिए ऐसा होता है।

धर्म का लक्षण बताते हुए राजवार्तिककार कहते हैं कि स्वयं क्रिया करने वाले जीव और पुद्गल की जो सहायता करता है वह धर्म है[2]। यह नित्य है, अवस्थित है और अरूपी है[3]। नित्य का अर्थ है तद्भावाव्यय। गति (क्रिया) में सहायता देने रूप भाव से कभी च्युत नहीं होना ही धर्म का तद्भावाव्यय है। अवस्थित का अर्थ है जितने प्रदेश हैं उतने ही प्रदेशों का हमेशा रहना। धर्म के असंख्यात प्रदेश हैं। वे प्रदेश हमेशा असंख्यात ही रहते हैं। अरूपी का अर्थ पहले बताया जा चुका है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णरहित द्रव्य अरूपी हैं। धर्मास्तिकाय पूरा एक द्रव्य है। जीवादि की तरह धर्म भिन्न-भिन्न रूप से नहीं रहता, अपितु एक अखण्ड द्रव्य के रूप में रहता है। यह सारे लोक में व्याप्त है। लोक का ऐसा कोई भी भाग नहीं है, जहाँ धर्मद्रव्य न हो। जब यह सर्वलोक व्यापी है तब यह स्वतः सिद्ध है कि उसे एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

गति का अर्थ है एक देश से दूसरे देश में जाने की क्रिया। इसलिये क्रिया को गति भी कह सकते हैं। धर्म इस प्रकार की

१—'तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्'—तत्त्वार्थ सूत्र १०।५

२—तत्त्वार्थसूत्र ५।१, १६

३—तत्त्वार्थसूत्र ५।४

क्रिया अथवा गति में सहायक है। जिस प्रकार मछली स्वयं तैरती है किन्तु उसकी यह क्रिया विना पानी के नहीं हो सकती, पानी के रहते हुए ही वह तालाव, कूप या समुद्र में तैर सकती है। पानी सूख जाने पर उसमें तैरने की शक्ति रहते हुए भी वह नहीं तैर सकती। इसका अर्थ यही है कि पानी तैरने में सहायक है। जिस समय मछली तैरना चाहती है उस समय उसे पानी की सहायता लेनी ही पड़ती है। न तैरना चाहे तो पानी उसके साथ वलप्रयोग नहीं करता। वहते हुए पानी का प्रश्न दूसरा है। उसी प्रकार जब जीव या पुद्गल गति करता है तब उसे धर्म द्रव्य की सहायता लेनी पड़ती है।

अधर्म :

जिस प्रकार गति में धर्म कारण है उसी प्रकार स्थिति में अधर्म कारण है।[1] जीव और पुद्गल जव स्थितिशील होने वाले होते हैं तब अधर्म द्रव्य उनकी सहायता करता है। जिस प्रकार धर्म के अभाव में गति नहीं हो सकती उसी प्रकार अधर्म के अभाव में स्थिति नहीं हो सकती। अधर्म एक अखण्ड द्रव्य है। इसके असंख्यात प्रदेश हैं। धर्म की तरह यह भी सर्वलोकव्यापी है। 'जिस प्रकार सम्पूर्ण तिल में तेल होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण लोकाकाश में धर्मास्तिकाय है।'[2] एक चलते हुए पथिक के विश्राम में जिस प्रकार एक वृक्ष सहायक होता है उसी प्रकार गति करते हुए जीव और पुद्गल की स्थिति में अधर्म द्रव्य सहायक होता है। धर्म और अधर्म द्रव्य की यह धारणा जैन-दर्शन की अप्रतिम देन है।

कोई यह शंका कर सकता है कि धर्म और अधर्म मूलतः एक ही द्रव्य के अन्तर्गत हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि ये दोनों लोकाकाश

१—नियमसार, ३०

२—लोकाकाशे समस्तेऽपि धर्माधर्मास्तिकाययोः।
तिलेषु तैलवत् प्राहुरवगाहं महर्षयः॥
—तत्त्वार्थसार, ३।२३

व्यापी हैं अतः दोनों का देश-स्थान एक है। दोनों का परिमाण भी एक है, क्योंकि दोनों सारे लोकाकाश में व्याप्त हैं। दोनों का काल भी एक है, क्योंकि दोनों ही त्रैकालिक हैं। दोनों ही अमूर्त हैं, अजीव हैं, अनुमेय हैं। इसका समाधान यह है कि इन सारी एकताओं के होने पर भी उन्हें एक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं। एक का कार्य गति में सहायता देना है तो दूसरे का स्थिति में सहायक होना है। इस प्रकार दो विभिन्न और विरोधी कार्यों के करते हुए दोनों एक कैसे हो सकते हैं? द्रव्यत्व की दृष्टि से भले ही एक हों, किन्तु अपने-अपने कार्य या स्वभाव की दृष्टि से दोनों भिन्न हैं।

धर्म और अधर्म अमूर्त द्रव्य हैं, ऐसी स्थिति में वे गति और स्थिति में कैसे सहायक हो सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि सहायता देने की समर्थता के लिए मूर्तता अनिवार्य गुण नहीं माना जा सकता। कोई द्रव्य अमूर्त होकर भी अपना कार्य कर सकता है। उदाहरण के लिए आकाश यद्यपि अमूर्त है फिर भी पदार्थ को आकाश—स्थान देता है। यदि आकाश के लिए, अवकाश प्रदान रूप कार्य असम्भव नहीं तो धर्म और अधर्म के लिए गति और स्थिति में सहायता रूप कार्य क्यों कर कठिन है।

आकाश :

जो द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को स्थान देता है—अवगाह देता है वह आकाश है।[1] यह सर्वव्यापी है, एक है, अमूर्त है और अनन्त प्रदेश वाला है। इसमें सभी द्रव्य रहते हैं। यह अरूपी है। आकाश के दो विभाग हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। जहाँ पुण्य और पाप का फल देखा जाता है वह लोक है। लोक का जो आकाश है वह लोकाकाश है। जैसे जल के आश्रयस्थान को जलाशय कहते हैं उसी प्रकार लोक के आकाश को लोकाकाश कहते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि आकाश

१—'आकाशस्यावगाहः।'

—तत्त्वार्थसूत्र ५।१८

जब एक है—अखण्ड है तब उसके दो विभाग कैसे हो सकते हैं ? लोकाकाश और अलोकाकाश का जो विभाजन है वह अन्य द्रव्यों की दृष्टि से है, आकाश की दृष्टि से नहीं। जहाँ पर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल रहते हैं वहीं पुण्य और पाप का फल देखा जाता है, इसलिए वही लोकाकाश है। जिस आकाश में यह नहीं होता वह अलोकाकाश है। वैसे सारा आकाश एक है, अखण्ड है, सर्वव्यापी है। उसमें कोई भेद नहीं हो सकता। भेद का आधार अन्य है। आकाश की दृष्टि से लोकाकाश और अलोकाकाश में कोई भेद नहीं है। आकाश सर्वत्र एक रूप है।

आकाश का लक्षण बताते हुए यह कहा गया कि अवकाश देना आकाश का धर्म है। लोकाकाश पाँच द्रव्यों को अवकाश देता है, अतः उसे हम आकाश कह सकते हैं। अलोकाकाश किसी को आश्रय नहीं देता, ऐसी दशा में उसे आकाश क्यों कहा जाय ? इस शंका का समाधान यों किया जा सकता है कि आकाश का धर्म अवकाशदान है, यह ठीक है, किन्तु आकाश अवकाश उसी को दे सकता है जो उसके अन्दर रहता है। अलोकाकाश में कोई द्रव्य नहीं रहता तो फिर आकाश अवकाश किसे दे ? हाँ, यदि वहाँ कोई द्रव्य होता और फिर भी आकाश उसे अवकाश न देता तो हम कह सकते कि अलोक को आकाश नहीं कहना चाहिए। जब वहाँ कोई द्रव्य ही नहीं पहुँचता तो अलोकाकाश का क्या अपराध है। वह तो अवकाश देने के लिए सर्वदा प्रस्तुत है। कोई द्रव्य वहाँ पहुँचे भी तो सही। इसीलिए अलोक को आकाश मानने में कोई बाधा नहीं है। आकाश-स्वभाव वहाँ भी है। उससे लाभ उठाने वाला कोई द्रव्य वहाँ नहीं है। इसीलिए उसे अलोकाकाश कहते हैं।

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश है। सारे आकाश के अनन्त प्रदेश हैं, यह कहा जा चुका है। अनन्त प्रदेश में से असंख्यात प्रदेश निकाल देने से जो प्रदेश बचते हैं वे भी अनन्त हो सकते हैं क्योंकि अनन्त बहुत बड़ा है। इतना ही नहीं, अनन्त में से अनन्त निकाल देने पर भी अनन्त रह

सकता है, क्योंकि अनन्त परितानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त के भेद से तीन प्रकार का है।[1]

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों सर्व लोकव्यापी हैं तो इनमें परस्पर व्याघात क्यों नहीं होता? व्याघात हमेशा मूर्त पदार्थों में होता है, अमूर्त पदार्थों में नहीं। धर्म, अधर्म और आकाश अमूर्त हैं, अतः वे एक साथ निर्विरोध रह सकते हैं।

आकाश अन्य द्रव्यों को अवकाश देता है, यह ठीक है, किन्तु आकाश को कौन अवकाश देता है? आकाश स्वप्रतिष्ठित है। उसके लिए किसी अन्य द्रव्य की आवश्यकता नहीं। यदि ऐसा है तो सभी द्रव्यों को स्वप्रतिष्ठित क्यों न मान लिया जाय? इसका उत्तर यह है कि निश्चय दृष्टि से तो सभी द्रव्य आत्म-प्रतिष्ठित हैं। व्यवहार दृष्टि से अन्य द्रव्य आकाशाश्रित हैं। इन द्रव्यों का सम्बन्ध अनादि है। अनादि सम्बन्ध होते हुए भी इनमें शरीर हस्तादि की तरह आधाराधेय भाव घट सकता है। आकाश अन्य द्रव्यों से अधिक व्यापक है, अतः वह सबका आधार है।

आकाश को कुछ दार्शनिकों ने स्वतन्त्र द्रव्य माना है और कुछ ने नहीं माना। जिन्होंने उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है उनमें से किसी ने भी जैन दर्शन की तरह लोकाकाश और अलोकाकाश के रूप में नहीं माना। पाश्चात्य दर्शनशास्त्र के इतिहास में 'रिक्तआकाश (Empty space) है या नहीं' इस विषय पर काफी विवाद है, किन्तु इस ढंग के दो अलग-अलग विभाग वहाँ भी नहीं हैं।

अद्धासमय :

परिवर्तन का जो कारण है उसे अद्धासमय या काल कहते हैं। काल की व्याख्या दो दृष्टियों से की जा सकती है। द्रव्य का स्व-जाति के परित्याग के बिना वैस्रसिक और प्रायोगिक विकाररूप परिणाम[2] व्यवहार दृष्टि से काल को सिद्ध करता है। प्रत्येक द्रव्य परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तनों के होते हुए भी उसकी जाति

१—तत्त्वार्थराजवार्तिक ५।१०, २
२—वही ५।२२, १०

का कभी विनाश नहीं होता। इस प्रकार के परिवर्तन परिणाम कहे जाते हैं। इन परिणामों का जो कारण है वह काल है। यह व्यवहार दृष्टि से काल की व्याख्या हुई। प्रत्येक द्रव्य और पर्याय की प्रतिक्षण-भावी स्वसत्तानुभूति वर्तना है।[1] इस वर्तना का कारण काल है। यह काल की पारमार्थिक व्याख्या है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक वृत्तिवाला है। यह वृत्ति प्रतिक्षण रहती है। कोई भी क्षण इस वृत्ति के बिना नहीं रह सकता। यही पारमार्थिक काल का कार्य है। काल का अर्थ है परिवर्तन। परिवर्तन को समझने के लिए अन्वय का ज्ञान होना आवश्यक है। अनेक परिवर्तनों में एक प्रकार का अन्वय रहता है। इसी अन्वय के आधार पर यह जाना जा सकता है कि इस वस्तु में परिवर्तन हुआ। यदि अन्वय न हो तो क्या परिवर्तन हुआ, किसमें परिवर्तन हुआ—इसका जरा भी ज्ञान नहीं हो सकता। यही बात ऊपर कही गई है। स्वजाति का त्याग किए बिना विविध प्रकार के परिवर्तन होना, काल का कार्य है। इसी काल के आधार पर हम घंटा, मिनट, सेकण्ड आदि विभाग करते हैं। यह व्यावहारिक काल है। पारमार्थिक या निश्चय दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ का क्षणिकत्व काल का द्योतक है। क्षण-क्षण में पदार्थ में परिवर्तन होता रहता है, यह परिवर्तन बौद्ध परिवर्तन की तरह ऐकान्तिक न होकर ध्रौव्ययुक्त है। इस प्रकार दोनों दृष्टियों से काल का लक्षण परिवर्तन है।

काल असंख्यात प्रदेश प्रमाण होता है। ये प्रदेश एक अवयवी के प्रदेश नहीं हैं, अपितु स्वतन्त्र रूप से सत् हैं। इसीलिए काल को अनस्तिकाय कहा गया है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक एक काल प्रदेश बैठा हुआ है। रत्नों की राशि की तरह लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर जो एक एक द्रव्य स्थित है वह काल है। वह असंख्यात द्रव्यप्रमाण है[2]। इससे यह फलित होता है कि काल एक

१—वही ५।२२, ४

२—लोयायासपदेसे, इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाणं रासी इव, ते कालाणू असंखदव्वाणि॥

—द्रव्यसंग्रह, २२

द्रव्य नहीं है, अपितु असंख्यात द्रव्यप्रमाण है। परिवर्तन की दृष्टि से यद्यपि काल के सभी प्रदेशों का एक स्वभाव है, तथापि वे परस्पर भिन्न हैं। वे सब मिलकर एक अवयवी का निर्माण नहीं करते। जिस प्रकार उपयोग सभी आत्माओं का स्वभाव है, किन्तु सभी आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार वर्तनालक्षण का साम्य होते हुए भी प्रत्येक काल भिन्न भिन्न है। जीवत्व सामान्य को लेकर सभी आत्माओं को जीव कहा जाता है उसी प्रकार कालत्व (वर्तना) सामान्य की दृष्टि से सभी कालों को काल कहा गया है। अतः काल वर्तना-सामान्य की दृष्टि से असंख्यात हैं। काल को अस्तिकाय न मानकर अनस्तिकाय क्यों माना गया ? इसका सन्तोषप्रद उत्तर देना कठिन है। यह कहा जा सकता है कि द्रव्य के प्रत्येक अवयव-अंश का परिवर्तन स्वतंत्र है। इसलिए प्रत्येक काल स्वतन्त्र है। यहाँ एक कठिनाई है। परिवर्तन प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक अंश में होता है। पुद्गल द्रव्य के अनन्त प्रदेश हैं। इसी प्रकार सभी जीवों के अनन्त प्रदेश हैं। ऐसी स्थिति में असंख्यात प्रदेश प्रमाण वाला काल अनन्त प्रदेशों में परिवर्तन कैसे कर सकता है ? जहाँ तक असंख्यात प्रदेश वाले आकाश में अनन्त प्रदेश के रहने का प्रश्न है, यह बात किसी तरह मान भी लें कि परस्पर व्याघात के विना दीपकों के प्रकाश की तरह उनका रहना सम्भव है। परन्तु परिवर्तन ऐसी चीज नहीं कि एक काल एक से अधिक अंश में परिवर्तन कर सके। आकाश की तरह परिवर्तन की बात भी किसी तरह घट सकती, यदि काल आकाश की भाँति एक अखण्ड द्रव्य होता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह माना गया कि काल लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित है, न कि जीव या पुद्गल के प्रत्येक प्रदेश पर। जब लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर काल की सत्ता मानी गई तो क्या कारण है कि आकाश की तरह काल को अखण्ड द्रव्य नहीं माना गया ? आकाश का धर्म अवकाशदान है और अवकाश में विशेष विभिन्नता नहीं होती। काल का धर्म वर्तना है—परिणाम है। इसमें अत्यधिक विभिन्नता होती है। प्रत्येक परिवर्तन विलक्षण होता है। यदि काल एक अखण्डद्रव्य होता तो परिवर्तन में विलक्षणता नहीं आती। सम्भवतः इसीलिए प्रत्येक काल को स्वतंत्र द्रव्य

माना गया। यह समाधान भी सन्तोषजनक नहीं है। परिवर्तन की विलक्षणता में स्वयं द्रव्य की विलक्षणता कारण है। काल का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त और कोई हेतु दिखाई नहीं देता जिसके आधार पर प्रत्येक काल को स्वतंत्र द्रव्य माना जाय। शायद इन्हीं कठिनाइयों के कारण काल सर्वसम्मत रूप से स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना गया।[1]

जैन दर्शन प्रतिपादित तत्त्व का यह विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तत्त्व का ठीक स्वरूप समझे बिना अन्य विषयों का यथार्थज्ञान होना कठिन है। प्रमाणशास्त्र, ज्ञानवाद आदि गम्भीर विषयों के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है।

१—'कालश्चेत्येके' —तत्त्वार्थ सूत्र ५।३८

पाँच

ज्ञानवाद और प्रमाणशास्त्र

ज्ञानवाद और प्रमाणशास्त्र

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध दण्ड और दण्डी के सम्बन्ध से भिन्न है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। ज्ञान के अभाव में आत्मा की कल्पना करना सम्भव नहीं। न्याय-वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आगन्तुक मानता है, मौलिक नहीं। जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का मौलिक धर्म मानता है। कहीं-कहीं तो ज्ञान को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि आत्मा के अन्य गुणों की उपेक्षा करके ज्ञान और आत्मा को एक मान लिया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार नय और निश्चय नय का सहारा लेकर कहा कि व्यवहार नय से आत्मा और ज्ञान में भेद है, किन्तु निश्चयनय से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं[1]। यहाँ पर आत्मा के अन्य गुणों को ज्ञानान्तर्गत कर लिया गया है, अन्यथा यह कभी नहीं हो सकता कि ज्ञान ही आत्मा हो जाय, क्योंकि आत्मा में और भी कई गुण हैं। इस बात का प्रमाण आगे मिलता है। प्रवचनसार में उन्होंने स्पष्ट लिख दिया कि अनन्तसुख अनन्तज्ञान है। सुख और ज्ञान अभिन्न हैं[2]। जैन

१—समयसार ६।७

२—वही, १।५९-६०

आगमों में भी यही बात मिलती है। आत्मा और ज्ञान के अभेद की चर्चा बहुत पुरानी है। कुन्दकुन्द ने सर्वज्ञ की चर्चा करते समय भी यही कहा कि व्यवहार दृष्टि से केवली सभी द्रव्यों को जानता है। परमार्थतः वह आत्मा को ही जानता है[1]। आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं, अतः केवली आत्मा को जानता है, इसका अर्थ यह हुआ कि केवली अपने ज्ञान को जानता है। अपने ज्ञान को कैसे जाना जा सकता है ? उसके लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता रहने पर अनवस्था होती है। ज्ञान स्वयं को स्वयं से जानता है, यह बात जल्दी समझ में नहीं आती। कोई भी चतुर नट अपने खुद के कन्धों पर नहीं चढ़ सकता। अग्नि अपने आप को नहीं जला सकती। जैन दर्शन मानता है कि ज्ञान अपने आप को जानता हुआ ही दूसरे पदार्थों को जानता है। वह दीपक की तरह स्वयं प्रकाशक है। तात्पर्य यह है कि आत्मा का स्वरूप समझने के लिए ज्ञान का स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है। इसीलिए ज्ञान का इतना महत्त्व है।

आगमों में ज्ञानवाद :

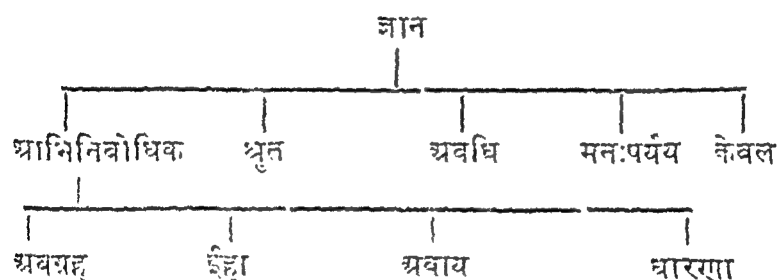
आगमों में ज्ञान-सम्बन्धी जो मान्यताएँ मिलती हैं वे बहुत प्राचीन हैं। सम्भवतः ये मान्यताएँ भगवान् महावीर के पहले की हों। पंचज्ञान की चर्चा आगम साहित्य में मिलती है। उसके विषय में राजप्रश्नीय-सूत्र में एक वृतान्त मिलता है। श्रमण केशिकुमार अपने मुख से कहते हैं-"हम श्रमण निर्ग्रन्थ पाँच प्रकार के ज्ञान मानते हैं—आभिनिबोधिक-ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान।[2] केशिकुमार पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु थे। उन्होंने अपने मुख से पाँच ज्ञानों का नाम लिया है। ठीक वे ही पाँच ज्ञान महावीर की परम्परा में भी प्रचलित हुए। महावीर ने ज्ञानविषयक कोई नवीन प्ररूपणा

१—जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥
—नियमसार, १५८

२—'एवंखु पएसी अम्हं समणाणं निग्गंथाणं पंचविहे नाणे पण्णत्ते। तंजहा-अभिणिवोहियनाणे, सुयनाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे केवल-णाणे'। १६५

नहीं की। यदि पार्श्वनाथ की परम्परा से महावीर का एतद्विषयक कुछ भी मतभेद होता तो वह आगमों में अवश्य मिलता। पंचज्ञान की मान्यता श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में प्रायः एक सी है। इस विषय पर केवलज्ञान और केवलदर्शन आदि की एक दो बातों के अतिरिक्त कोई विशेष मतभेद नहीं है। जैन आगमों में पंचज्ञान की मान्यता के कितने रूप मिलते हैं व उनके भेद-प्रभेदों में क्या अन्तर है, इस पर थोड़ा विचार करें। आगमों में ज्ञानचर्चा की तीन भूमिकाएँ मिलती हैं :—[1]

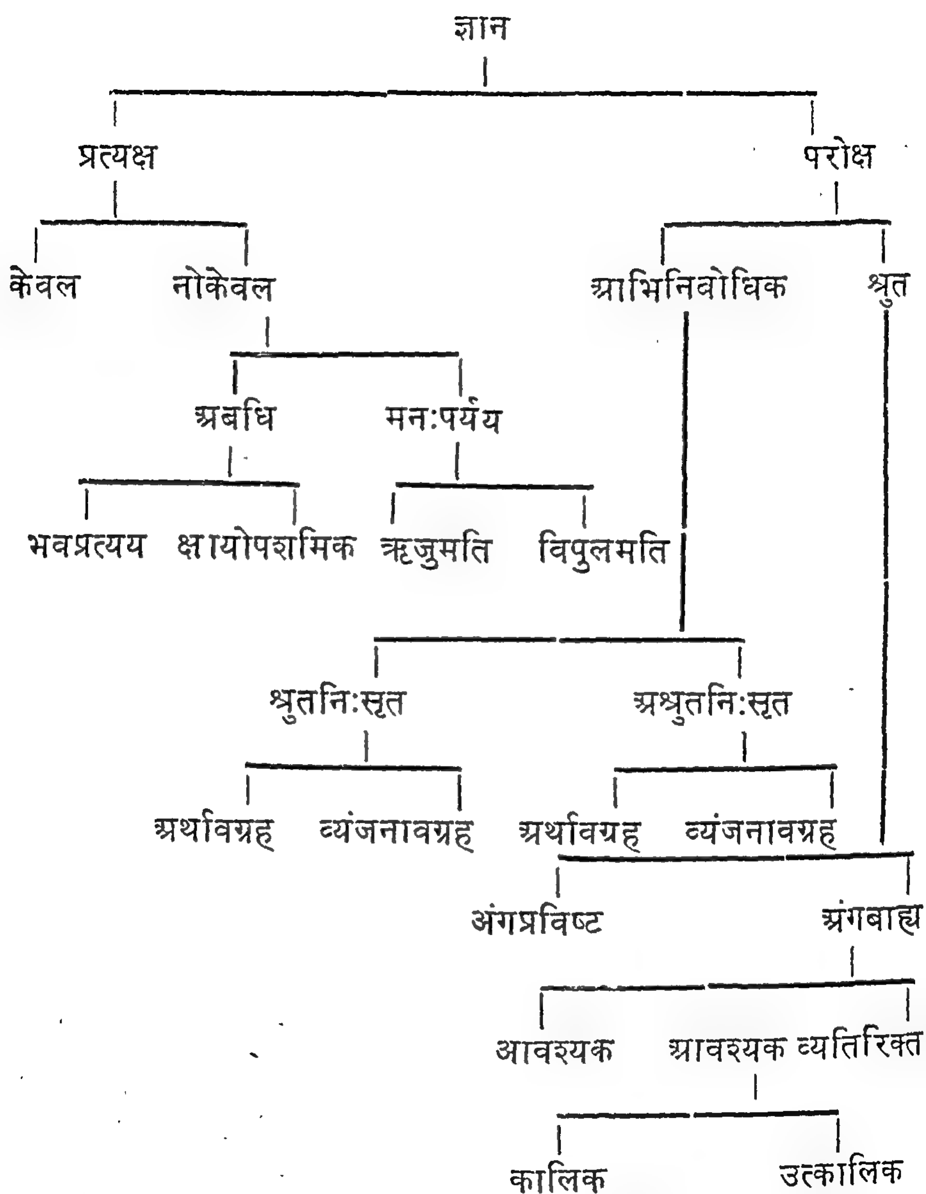
१—प्रथम भूमिका में ज्ञान का सीधा पाँच भेदों में विभाग है और प्रथम भेद के पुनः चार भेद किए गए हैं। यह विभाग इस प्रकार है।[2]



अवग्रहादि के भेद-प्रभेद अन्य स्थानों के अनुसार निर्दिष्ट हैं।

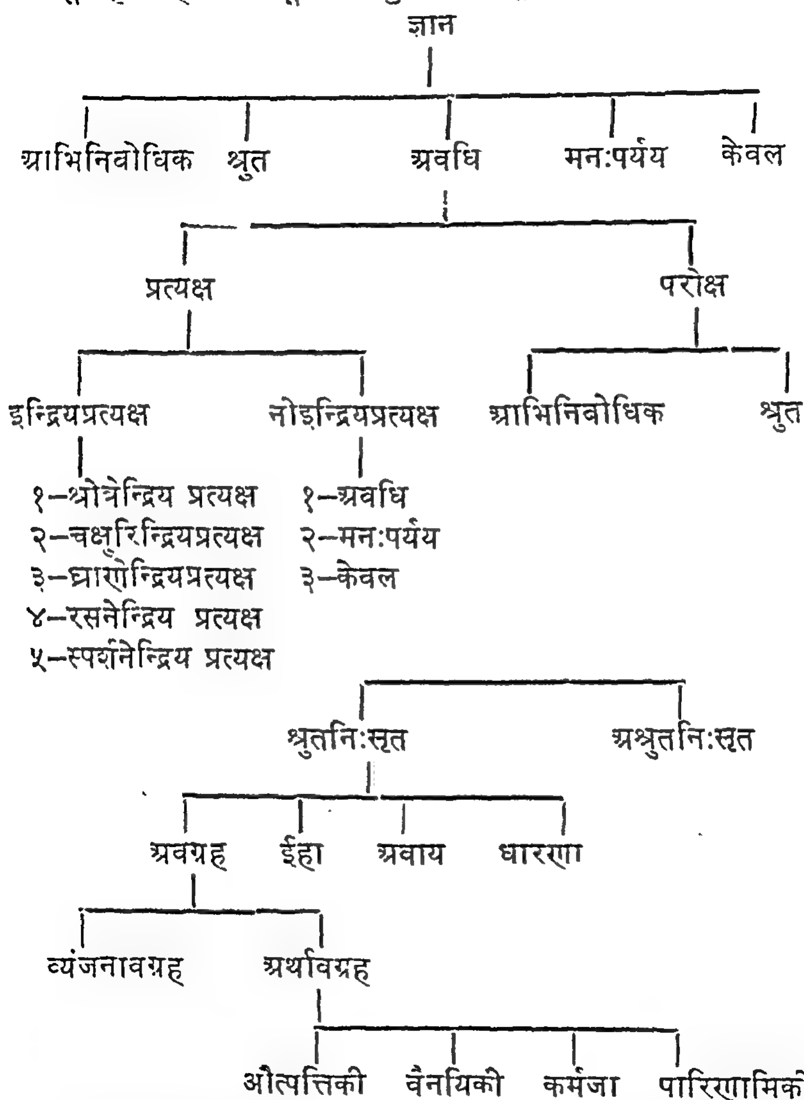
२—द्वितीय भूमिका में ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष में विभक्त किया गया है। तदनन्तर प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद-प्रभेद करके ज्ञान का विस्तार किया गया है। यह योजना स्थानांगसूत्र में है :—

१—न्यायावतारवार्तिकवृत्ति—प्रस्तावना पृ० ५८ (पं० दलसुख मालवणिया)
२—भगवतीसूत्र ८।२, ३१७



३—द्वितीय भूमिका में इन्द्रियजन्य मतिज्ञान का परोक्ष के अन्दर समावेश किया गया। तृतीय भूमिका में इस विषय में थोड़ा सा परिवर्तन हो गया। इन्द्रियजन्य मतिज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों में स्थान दिया गया। इसका कारण लौकिक प्रभाव

मालूम होता है। नन्दीसूत्र के अनुसार इस भूमिका का सार यह है :—



उपर्युक्त तीनों भूमिकाओं को देखने से पता लगता है कि प्रथम भूमिका में दार्शनिक पुट का अभाव है। यह भूमिका प्राचीन परम्परा

का सीधा सा दिग्दर्शन है। ज्ञान को प्रारम्भ मे ही पाँच भागों में विभक्त करके मतिज्ञान के अवग्रहादि प्रभेद करना बहुत प्राचीन परिपाटी है। इसी परिपाटी का दिग्दर्शन भगवतीसूत्र में है। द्वितीय भूमिका पर दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव है और साथ ही साथ शुद्ध जैन दृष्टि की छाप भी है। सर्वप्रथम ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष में विभक्त किया गया। यह विभाग बाद के जैनतार्किकों द्वारा भी मान्य हुआ। इस विभाग के पीछे वैशद्य और अवैशद्य की भूमिका है। वैशद्य का आधार आत्मप्रत्यक्ष है और अवैशद्य का आधार इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञान है। जैन दर्शन की प्रत्यक्ष और परोक्ष सम्बन्धी व्याख्या इसी आधार पर है। अन्य दर्शनों की प्रत्यक्ष-विषयक मान्यता से जैन दर्शन की प्रत्यक्ष-विषयक मान्यता में यही अन्तर है कि जैन दर्शन आत्मप्रत्यक्ष को ही वास्तविक प्रत्यक्ष मानता है, जब कि अन्य दर्शन इन्द्रियजन्यज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष के भेद हैं। क्षेत्र, विशुद्धि आदि की दृष्टि से इनमें तारतम्य है। केवलज्ञान शुद्धि, क्षेत्र आदि की अन्तिम सीमा है। इससे बढ़कर कोई ज्ञान विशुद्ध या पूर्ण नहीं है। आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष के भेद हैं। आभिनिबोधिकज्ञान को मतिज्ञान भी कहते हैं। श्रुतज्ञान का आधार मन है। मतिज्ञान का आधार इन्द्रियाँ और मन दोनों हैं। मति, श्रुतादि के अनेक अवान्तर भेद हैं। तृतीय भूमिका में जैन दृष्टि और इतर दृष्टि दोनों का पुट है। प्रत्यक्ष को इन्द्रिय–प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष–इन दो भागों में बाँटा गया। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में इन्द्रियजन्यज्ञान को स्थान मिला, जो वास्तव में इन्द्रियाश्रित होने से परोक्ष है। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष में वास्तविक प्रत्यक्ष रखा गया, जो इन्द्रियाश्रित न होकर सीधा आत्मा से उत्पन्न होता है। इन्द्रियप्रत्यक्ष जैनेतर दृष्टि का, जिसे हम लौकिक दृष्टि कह सकते हैं, प्रतिनिधित्व करता है। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष जैनदर्शन की वास्तविक परम्परा का द्योतक है ही।

आभिनिबोधिक ज्ञान के अवग्रहादि भेदों का बाद के तार्किकों ने भी अच्छा विश्लेषण किया है। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि की इन

तार्किकों ने दार्शनिक भूमिका पर जिस ढंग से व्याख्या की है वैसी व्याख्या आगमकाल में नहीं मिलती। इसका कारण दार्शनिक संघर्ष है। आगमकाल के बाद जैनदार्शनिकों को अन्य दार्शनिक विचारों के साथ काफी संघर्ष करना पड़ा और उस संघर्ष के परिणामस्वरूप एक नए ढंग के ढाँचे का निर्माण हुआ। इस ढाँचे की शैली और सामग्री दोनों का आधार दार्शनिक चिंतन रहा। सर्व प्रथम हम पाँचों ज्ञानों का स्वरूप देखेंगे। इसके लिए आवश्यकतानुसार आगमग्रंथ और दार्शनिक ग्रंथ दोनों का उपयोग किया जाएगा। तर्कशास्त्र और प्रमाणशास्त्र से सम्बन्धित स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि का विवेचन प्रमाण चर्चा के समय किया जाएगा। इस विवेचन का मुख्य आधार प्रमाणशास्त्र से सम्बन्धित दार्शनिक ग्रंथ होंगे।

मतिज्ञान :

हम देख चुके हैं कि आगमों में मतिज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहा गया है। उमास्वाति ने मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को एकार्थक बताया है[1]। भद्रबाहु ने मतिज्ञान के लिए निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग किया है—ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति, प्रज्ञा[2]। नंदीसूत्र में भी ये ही शब्द हैं। मतिज्ञान का लक्षण बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है[3]। स्वोपज्ञभाष्य में मतिज्ञान के दो प्रकार बताए गए हैं—इन्द्रियजन्यज्ञान और मनोजन्यज्ञान[4]। ये दो भेद उपर्युक्त लक्षण से ही फलित होते हैं। सिद्धसेनगणि की टीका में तीन भेदों का वर्णन है—इन्द्रियजन्य, अनिन्द्रियजन्य (मनोजन्य) और इन्द्रियानिन्द्रियजन्य[5]। इन्द्रियजन्यज्ञान

१—'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'
—तत्त्वार्थसूत्र १/१३

२—विशेषावश्यक भाष्य, ३९६

३—'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्' १/१४

४—तत्त्वार्थभाष्य १/१४

५—तत्त्वार्थसूत्र पर टीका १/१४

केवल इन्द्रियों से उत्पन्न होता है। अनिन्द्रियजन्यज्ञान केवल मन से पैदा होता है। इन्द्रियानिन्द्रियजन्य ज्ञान के लिए इन्द्रिय और मन दोनों का संयुक्त प्रयत्न आवश्यक है। ये तीन भेद भी उपर्युक्त सूत्र से ही फलित होते हैं।

अकलंक ने सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) के दो भेद किए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—मुख्य और सांव्यवहारिक। मुख्य को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक को इन्द्रियानिन्द्रिय प्रत्यक्ष का नाम भी दिया है।[1] इन्द्रिय प्रत्यक्ष के चार भेद किए गए हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष को स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध में विभक्त किया है। श्रुत, अर्थापत्ति, अनुमान, उपमान आदि परोक्षान्तर्गत हैं।[2] इन्द्रियप्रत्यक्ष के चार भेद बताए गए हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इनके अवान्तर भेद भी हैं, जिनका निर्देश आगे किया जाएगा। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के स्मृति, संज्ञा आदि भेद हैं। यहाँ पर हम अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के स्वरूप का विचार करेंगे। ये चारों मतिज्ञान के मुख्य भेद हैं। इसके पहले इन्द्रिय और मन का क्या अर्थ है, यह देख लें।

इन्द्रिय :

आत्मा की स्वाभाविक शक्ति पर कर्म का आवरण होने से सीधा आत्मा से ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिए किसी माध्यम की आवश्यकता रहती है। यह माध्यम इन्द्रिय है। जिसकी सहायता से ज्ञान का लाभ हो सके, वह इन्द्रिय है। ऐसी इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। सांख्य आदि दर्शन वाक्, पाणि आदि कर्मेन्द्रियों को भी इन्द्रिय-संख्या में गिनते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं। प्रत्येक इन्द्रिय दो प्रकार की होती है—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पुद्गल का ढाँचा द्रव्येन्द्रिय है और आत्मा का परिणाम भावेन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय के पुनः दो भेद हैं—

१—लघीयस्त्रय ३–४
२—वही ६१

निर्वृत्ति और उपकरण। इन्द्रियों की विशिष्ट आकृतियाँ निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय हैं। निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय की बाह्य और आभ्यन्तरिक पौद्गलिक शक्ति, जिसके बिना आकृति के होते हुए भी ज्ञान होना सम्भव नहीं, उपकरण द्रव्येन्द्रिय हैं। भावेन्द्रिय भी लब्धि और उपयोग रूप में दो प्रकार की है। ज्ञानावरण कर्म आदि के क्षयोपशम से प्राप्त होने वाली आत्मिक शक्ति-विशेष लब्धि है। लब्धि प्राप्त होने पर आत्मा एक विशेष प्रकार का व्यापार करती है। यही व्यापार उपयोग है। स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है। रसनेन्द्रिय का विषय रस है। घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है। चक्षुरिन्द्रिय का विषय वर्ण है। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है[1]।

मन :

प्रत्येक इन्द्रिय का भिन्न-भिन्न विषय है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण नहीं कर सकती। मन एक ऐसी सूक्ष्म इन्द्रिय है, जो सभी इन्द्रियों के सभी विषयों का ग्रहण कर सकता है। इसलिए इसे सर्वार्थग्राही इन्द्रिय कहते हैं[2]। इसको अनिन्द्रिय इसलिए कहा जाता है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म है। अनिन्द्रिय का अर्थ इन्द्रिय का अभाव नहीं, अपितु ईषत् इन्द्रिय है। जैसे अनुदरा कन्या का अर्थ बिना उदरवाली लड़की नहीं होता अपितु ऐसी लड़की होता है जिसका उदर गर्भभार सहन करने में असमर्थ है। उसी प्रकार चक्षुरादि के समान प्रतिनियत देश, विषय अवस्थान का अभाव होने से मन को अनिन्द्रिय कहते हैं। इसका नाम अन्तःकरण भी है, क्योंकि इसका अन्य इन्द्रियों की तरह कोई बाह्य आकार नहीं है। इसे सूक्ष्म इन्द्रिय इसलिए कहते हैं कि यह अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है।

इन्द्रियों की तरह मन भी दो प्रकार का है—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन पौद्गलिक है। भावमन लब्धि और उपयोग रूप से दो प्रकार का है।

१—प्रमाणमीमांसा १।२।२१-२३

२—'सर्वार्थग्रहणं मनः'।

—वही १।२।२४

मतिज्ञान के विषय में एक शंका का समाधान करके फिर अवग्रहादि के विषय में लिखेंगे। शंका यह है कि मतिज्ञान की उत्पत्ति के लिए केवल इन्द्रिय और मन काफी नहीं है। उदाहरण के लिए चक्षुरिन्द्रिय को लीजिए। उसके द्वारा ज्ञान तभी उत्पन्न होता है जब प्रकाश और पदार्थ दोनों उपस्थित हों। इसलिए मतिज्ञान की उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रिय और मन के अतिरिक्त पदार्थ तथा अन्य आवश्यक सामग्री उपस्थित हो। जैन-दर्शन इस शर्त को नहीं मानता। अर्थ, आलोक आदि ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त नहीं हैं क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति और अर्थालोक में कोई व्याप्ति नहीं है। दूसरे शब्दों में बाह्य पदार्थ और प्रकाश रूप-ज्ञानोत्पत्ति के आवश्यक और अव्यवहित कारण नहीं हैं। यह ठीक है कि वे आकाश, काल आदि की तरह व्यवहित कारण हो सकते हैं। यह भी ठीक है कि वे मतिज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम के प्रति उपकारक हैं। इतना होते हुए भी इन्हें ज्ञानोत्पत्ति के प्रति कारण इसलिए नहीं माना जा सकता कि उनका और ज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। यह कैसे? आलोक और अर्थ ज्ञानोत्पत्ति में अव्यवहित कारण तभी माने जाते, जब आलोक और अर्थ के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति होती ही नहीं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। नक्तंचर, मार्जार आदि रात्रि में भी देखते हैं। यदि आलोक के अभाव में रूपज्ञान नहीं होता तो उन्हें कैसे दिखाई देता? यह कहने से काम नहीं चल सकता कि उनके नेत्रों में तेज होता है, अतः वे रात्रि में भी देख सकते हैं, क्योंकि ऐसा कहने का अर्थ होगा अपनी प्रतिज्ञा का त्याग। दूसरी ओर उलूकादि दिन के प्रकाश में नहीं देख सकते। वे रात्रि में ही देख सकते हैं। यदि प्रकाश ज्ञानोत्पत्ति का आवश्यक कारण होता तो उन्हें दिन में दिखाई देता। हमारे सामने दोनों तरह के उदाहरण विद्यमान हैं। पहला उदाहरण रात्रि और दिन—अन्धकार और आलोक दोनों में रूपज्ञान की उत्पत्ति का है। दूसरा उदाहरण बिल्कुल विपरीत है। केवल अंधकार में ही होने वाला रूपज्ञान 'आलोक के अभाव में रूपज्ञान नहीं हो सकता' इस सिद्धान्त का सर्वनाश करता है। इनके अतिरिक्त हमारे सामने ऐसे उदाहरण भी हैं, जिनसे

यह सिद्ध होता है कि आलोक के होने पर ही रूपज्ञान की उत्पत्ति होती है। साधारण मनुष्यों का रूपज्ञान इसी श्रेणी का है। तात्पर्य यह है कि ऐसा एकांत नियम नहीं है कि आलोक के होने पर ही रूपज्ञान उत्पन्न हो। कहीं पर आलोक के होने पर ही रूपज्ञान होता है, कहीं पर अन्धकार के होने पर ही रूपज्ञान होता है, और कहीं पर आलोक और अंधकार दोनों प्रकार की अवस्थाओं में रूपज्ञान होता है। इसलिए यह कथन उचित नहीं कि आलोक ज्ञानोत्पत्ति का अनिवार्य कारण है। अर्थ के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। मरीचिकाज्ञान बिना ही अर्थ के उत्पन्न होता है। स्वप्नज्ञान के समय हमारे सामने कोई पदार्थ नहीं रहता। इन ज्ञानों को मिथ्या कह कर नहीं टाला जा सकता, क्योंकि मिथ्या होते हुए भी ज्ञान तो हैं ही। यहाँ प्रश्न सत्य और मिथ्या का नहीं है। प्रश्न है अर्थ के अभाव में ज्ञानोत्पत्ति का। ज्ञान कैसा भी हो, किंतु यदि अर्थ के अभाव में उत्पन्न हो जाता है तो यह प्रतिज्ञा समाप्त हो जाती है कि अर्थ के होने पर ही ज्ञान उत्पन्न होता है। स्वप्नादिज्ञानों को थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दें, तो भी यह सिद्धांत ठीक नहीं उतरता, क्योंकि भूत और भविष्य के प्रत्यक्ष की सिद्धि इस आधार पर नहीं की जा सकती। योगियों के ज्ञान का विषय भी यदि वर्तमान पदार्थ ही माना जाय तो त्रिकाल-विषयक ज्ञान की बात व्यर्थ हो जाती है। अतः अर्थ भी ज्ञानोत्पत्ति के प्रति अनिवार्य कारण नहीं है।

अवग्रह :

अवग्रह को बताने वाले कई शब्द हैं। नंदीसूत्र में अवग्रह के लिए अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलम्बनता और मेधा का प्रयोग हुआ है[1]। तत्त्वार्थभाष्य में निम्न शब्द आते हैं—अवग्रह, ग्रह, ग्रहण, आलोचन और अवधारण[2]। इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर नाम आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य

१—३०

२—१, १५

मात्र का ज्ञान अवग्रह है।[1] इस ज्ञान में यह निश्चित प्रतीति नहीं होती कि किस पदार्थ का ज्ञान हुआ है। केवल इतना मालूम होता है कि यह कुछ है। इन्द्रिय और अर्थ का जो सामान्य सम्बन्ध है वह दर्शन है। दर्शन के बाद पैदा होने वाला सामान्य ज्ञान अवग्रह है। इसमें केवल सत्ता का ही ज्ञान नहीं होता, अपितु पदार्थ का प्रारंभिक ज्ञान हो जाता है कि कुछ है। अवग्रह दो प्रकार का होता है—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह।[2] अर्थ और इन्द्रिय का संयोग व्यंजनावग्रह है। ऊपर जो अवग्रह की व्याख्या की गई है वह वास्तव में अर्थावग्रह है। इस व्याख्या के अनुसार व्यंजनावग्रह दर्शन की कोटि में आता है और अवग्रह का अर्थ अर्थावग्रह ही होता है। व्यंजनावग्रह को ज्ञान मानने वालों के लिए दर्शन इन्द्रिय और अर्थ के संयोग या सम्बन्ध से भी पहले होता है। यह एक प्रतिभास मात्र है, जो सत्ता मात्र का ग्रहण करता है। उसके बाद अर्थ और इन्द्रिय का संयोग होता है, जिसे व्यंजनावग्रह कहते हैं। इन्द्रिय और अर्थ के संयोग के सम्बन्ध से पहले दर्शन कैसे हो सकता है? इसका समाधान यही हो सकता है कि उनका सम्बन्ध अवश्य होता है, किन्तु वह सम्बन्ध व्यंजनावग्रह से भी पहले होता है। व्यंजनावग्रह रूप जो सम्बन्ध है वह ज्ञानकोटि में आता है और उससे भी पूर्व जो एक सत्ता सामान्य का सम्बन्ध है—सत्ता सामान्य का भान है वह दर्शन है। इसके अतिरिक्त और क्या समाधान हो सकता है, यह हम नहीं जानते।

अर्थावग्रह का पूर्ववर्ती ज्ञानव्यापार, जो इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होने पर उत्पन्न होता है, और क्रमशः पुष्ट होता जाता है, व्यंजनावग्रह कहलाता है। यह ज्ञान अव्यक्तज्ञान है। यह ज्ञान क्रमशः किस प्रकार पुष्ट होता है और अर्थावग्रह की कोटि में आता

१—'अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः।'
—प्रमाणमीमांसा १।१।२६

२—'अर्थस्य।'
व्यंजनस्यावग्रहः।
—तत्त्वार्थसूत्र।१।१७-१८

है, यह समझने के लिए एक उदाहरण देना ठीक होगा। कुम्भकार ने अपने आवाप (अवाड़ा) में से एक ताजा शराव (सकोरा) निकाला, निकाल कर उसमें एक-एक बूँद पानी डालता गया। प्रथम बिन्दु डालते ही सूख गया। दूसरा बिन्दु भी सूख गया। तीसरा, चौथा और इस तरह अनेक बिन्दु सूखते गए। अंततोगत्वा एक समय ऐसा आता है जब वह शराव पानी को सुखाने में असमर्थता दिखाने लगता है। धीरे-धीरे वह पानी से भर जाता है। प्रथम बिन्दु से लगा कर अन्तिम बिन्दु तक का सारा पानी शराव में होता है, किन्तु पहले कुछ बिन्दुओं की इतनी कम शक्ति होती है कि वे स्पष्टरूप से दिखाई नहीं देते। ज्यों-ज्यों पानी की शक्ति बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसकी अभिव्यक्ति भी स्पष्ट होती जाती है। इसी तरह जब किसी सोये हुए व्यक्ति को पुकारा जाता है तब पहले के कुछ शब्द कान में जाकर चुपचाप बैठ जाते हैं। उनकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। दो चार बार पुकारने पर उसके कान में काफी शब्द एकत्र हो जाते हैं। तभी उसे यह ज्ञान होता है कि मुझे कोई बुला रहा है। यह ज्ञान पहले शब्द के समय इतना अस्पष्ट और अव्यक्त होता है कि उसे इस बात का पता नहीं लगता कि कोई बुला रहा है। जब शब्दों का जलबिन्दुओं की तरह काफी मात्रा में संग्रह हो जाता है तब उसे यह ज्ञान होता है कि मुझे कोई पुकार रहा है। प्रथम कोटि का व्यक्त ज्ञान अर्थावग्रह है। व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह में अव्यक्तता और व्यक्तता का भेद है। सामान्यात्मक ज्ञान अवग्रह है। इसी ज्ञान के विकास-क्रम के दो रूप हैं। प्रथम रूप अव्यक्त ज्ञानात्मक है। यही व्यंजनावग्रह है। द्वितीय रूप व्यक्तज्ञानात्मक है। यही अर्थावग्रह है।

क्या व्यंजनावग्रह सभी इंद्रियों से होता है ? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता[1]। चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह क्यों नहीं होता ? क्योंकि ये दोनों अप्राप्यकारी हैं। व्यंजनावग्रह के लिए अर्थ और इंद्रियों का संयोग

१—'न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्'।

—तत्त्वार्थसूत्र १।१९

अपेक्षित है। संयोग के लिए प्राप्यकारित्व अनिवार्य है। चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं, अतः इनके साथ अर्थ का संयोग नहीं होता। संयोग न होने से व्यंजनावग्रह नहीं होता। मन को अप्राप्यकारी माना जा सकता है, किंतु चक्षु अप्राप्यकारी कैसे है? चक्षु अप्राप्यकारी है, क्योंकि वह स्पृष्ट अर्थ का ग्रहण नहीं करता। यदि प्राप्यकारी होता तो त्वगिन्द्रिय के समान स्पृष्ट अंजन का ग्रहण करता। चूँकि वह ग्रहण नहीं करता, अतः अप्राप्यकारी है। कोई यह कह सकता है कि चक्षु प्राप्यकारी है, क्योंकि वह आवृत वस्तु का ग्रहण नहीं करता-जैसे त्वगिन्द्रिय। यह ठीक नहीं, क्योंकि चक्षु काच, अभ्र, स्फटिक आदि से आवृत अर्थ का ग्रहण करता है। यदि चक्षु अप्राप्यकारी है तो वह व्यवहित और अतिविप्रकृष्ट अर्थ का भी ग्रहण कर लेगा। यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि चुम्बक अप्राप्यकारी होते हुए भी अमुक सीमा के अन्दर रहने वाले लोहे को ही पकड़ता है, व्यवहित और अतिविप्रकृष्ट को नहीं। चक्षु स्वयं प्राप्यकारी नहीं है, अपितु इसकी तैजस रश्मियाँ प्राप्यकारी हैं। यह भी ठीक नहीं; क्योंकि हमें यह भी अनुभव नहीं होता कि चक्षु तैजस हैं। यदि चक्षु तैजस होता तो चक्षुरिन्द्रिय का स्थान उष्ण होता। नक्तंचर प्राणियों के नेत्रों में रात को रश्मियाँ दिखाई देती हैं, अतः चक्षु रश्मियुक्त है, यह धारणा ठीक नहीं। अतैजस द्रव्य में भी भासुररूप देखा जाता है–जैसे मणि आदि। अतः चक्षु प्राप्यकारी नहीं है। अप्राप्यकारी होते हुए भी तदावरण के क्षयोपशम से वस्तु का ग्रहण होता है। इसलिए मन और चक्षु से व्यंजनावग्रह नहीं होता। श्रोत्र, घ्राण, रसन और स्पर्श इन चार इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह होता है।

अर्थावग्रह संयोगरूप नहीं है अपितु सामान्यज्ञानरूप है। चक्षु और मन से अर्थावग्रह होता है, क्योंकि इन दोनों का विषय-ग्रहण सीधा सामान्यज्ञानरूप होता है। इस प्रकार अर्थावग्रह पांच इन्द्रियाँ और छठा मन–इन छः से होता है। 'ईहा, अवाय और धारणा भी पाँचों इंद्रियों और मन पूर्वक होते हैं।

ईहा :

अवग्रह के बाद ज्ञान ईहा में परिणत होता है। अवगृहीतार्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा ईहा है।[1] नंदीसूत्र में ईहा के लिए निम्न शब्द आते हैं—आयोगणता, मार्गणता, गवेषणता, चिन्ता, विमर्ष[2]। उमास्वाति ने ईहा, ऊह, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा का प्रयोग किया है[3]। अवग्रह से गुजरते हुए ईहा तक कैसे पहुँचते हैं, इसे समझने के लिए पुनः शब्द का उदाहरण लेते हैं। अवग्रह में इतना ज्ञान हो जाता है कि कहीं से शब्द सुनाई दे रहा है। शब्द सुनने पर व्यक्ति सोचता है कि किसका शब्द है ? कौन बोल रहा है ? स्त्री है या पुरुष ? इसके बाद स्वर की तुलना होती है। स्वर मीठा और आकर्षक है, इसलिए किसी स्त्री का होना चाहिए। पुरुष का स्वर कठोर एवं रूखा होता है। यह स्वर पुरुष का नहीं हो सकता। ईहा में ज्ञान यहाँ तक पहुँच जाता है।

ईहा संशय नहीं है, क्योंकि संशय में दो पलड़े बराबर रहते हैं। ज्ञान का किसी एक ओर झुकाव नहीं होता। 'पुरुष है या स्त्री' ? इसका जरा भी निर्णय नहीं होता। न तो पुरुष की ओर ज्ञान झुकता है, न स्त्री की ओर। ज्ञान की दशा त्रिशंकु सी रहती है। ईहा में ज्ञान एक ओर झुक जाता है। अवाय में जिसका निश्चय होने वाला है उसी ओर ज्ञान का झुकाव हो जाता है। 'यह स्त्री का शब्द होना चाहिए, क्योंकि इसकी यह विशेषता है'—इस प्रकार का ज्ञान ईहा है। यद्यपि ईहा में पूर्ण निर्णय नहीं हो पाता तथापि ज्ञान निर्णय की ओर झुक अवश्य जाता है। संशय में ज्ञान किसी ओर नहीं झुकता। संशय ईहा के पहले होता है। ईहा हो जाने पर संशय समाप्त हो जाता है।

१—'अवगृहीतार्थविशेषकांक्षणमीहा'।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक २।८

२—३१

३—तत्त्वार्थभाष्य १।१५

अवाय :

ईहितार्थ का विशेष निर्णय अवाय है[1]। ईहा में हमारा ज्ञान यहाँ तक पहुँच जाता है कि यह शब्द किसी स्त्री का होना चाहिए। जब यह निश्चित हो जाता है कि यह शब्द स्त्री का ही है, तब हमारा ज्ञान अवाय की कोटि तक पहुँच जाता है। इसमें सम्यक् असम्यक् की विचारणा पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाती है और असम्यक् का निवारण होकर सम्यक् का निर्णय हो जाता है। जो गुण वास्तविक हैं उनका निश्चित ज्ञान हो जाता है, और जो गुण अवास्तविक हैं उनका पृथक्करण हो जाता है। विशेषावश्यकभाष्य में एक मत यह भी मिलता है कि जो गुण पदार्थ के अन्दर नहीं हैं उनका निवारण अवाय है और जो गुण पदार्थ में हैं उनका स्थिरीकरण धारणा है[2]। भाष्यकार के मत से यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। चाहे असद् गुणों का निवारण हो, चाहे सद्गुणों का स्थिरीकरण हो, चाहे दोनों एक साथ हों—सब अवायान्तर्गत है[3]। नन्दीसूत्र में अवाय के निम्न पर्याय हैं—आवर्तनता, प्रत्यावर्तनता, अवाय, बुद्धि, विज्ञान[4]। तत्त्वार्थसूत्रभाष्य में अवाय के लिए निम्न शब्दों का प्रयोग हुआ है—अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अपगत, अपविद्ध, अपनुत[5]। ये शब्द निषेधात्मक हैं। विशेषावश्यकभाष्य में जिस मत का उल्लेख है, सम्भवतः वह यही परम्परा हो। अवाय और अपाय दोनों शब्दों को देखने से मालूम होता है कि अपाय निषेधात्मक है और अवाय विध्यात्मक है। जो परम्परा इस ज्ञान को निषेधात्मक मानती है उसमें अधिकतर अपाय शब्द का प्रयोग हुआ है[6]। जिस परम्परा में इसका विध्यात्मक विधान भी है उसमें अधिकतर अवाय

१—ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः।

—प्रमाणमीमांसा १।१।२८

२—१८५

३—१८६

४—३२

५—१, १५।

६—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि

शब्द का प्रयोग हुआ है[१]। यह ज्ञान धारणा की कोटि में पहुँच कर ही पक्का होता है, इसलिए यह मतभेद है। अवाय में कुछ कमी अवश्य रहती है। विध्यात्मक मानकर भी उसकी दृढावस्था धारणा में ही मानी गई है। इसलिए इन दोनों परम्पराओं में विशेष भेद नहीं रह जाता।

धारणा :

अवाय के बाद धारणा होती है। धारणा में ज्ञान इतना दृढ़ हो जाता है कि वह स्मृति का कारण बनता है। इसीलिए धारणा को स्मृति का हेतु कहा गया है[२]। यह संख्येय अथवा असंख्येय समय तक रहती है[३]। नंदीसूत्र में धारणा के लिए इन शब्दों का प्रयोग हुआ है—धारणा, स्थापना, प्रतिष्ठा, कोष्ठा। उमास्वाति ने निम्नलिखित पर्याय दिए हैं—प्रतिपत्ति, अवधारणा, अवस्थान, निश्चय, अवगम, अवबोध[४]। जिनभद्र ने धारणा की व्याख्या करते हुए कहा है कि ज्ञान की अविच्युति को धारणा कहते हैं[५]। जो ज्ञान शीघ्र ही नष्ट न हो जाय, अपितु स्मृति के लिए हेतु का कार्य कर सके, वही ज्ञान धारणा है। यह धारणा तीन प्रकार की है। (१) अविच्युति—पदार्थ के ज्ञान का विनाश न होना। (२) वासना—संस्कार का निर्माण होना। (३) अनुस्मरण—भविष्य में उन संस्कारों का जाग्रत् होना[६]। इस प्रकार अविच्युति, वासना, और स्मृति तीनों धारणा के अंग हैं। वादिदेवसूरि के अनुसार यह मत ठीक नहीं है। धारणा, अवाय-प्रदत्त ज्ञान की दृढ़तमावस्था है। कुछ काल के लिए अवाय का दृढ़ रहना—यही धारणा है। धारणा स्मृति का कारण नहीं बन सकती, क्योंकि किसी ज्ञान का इतने लम्बे काल तक बराबर चलते रहना सम्भव

१—तत्त्वार्थसूत्र भाष्य, हारिभद्रीय टीका, सिद्धसेनीय टीका
२—'स्मृतिहेतुर्धारणा'—प्रमाणमीमांसा १।१।२९
३—३५
४—३३
५—'अविच्चुई धारणा तस्स—विशेषावश्यक १८०
६—वही २९१

नहीं। यदि धारणा इतने लम्बे काल तक चलती रहे तो धारणा और स्मृति के बीच के काल में दूसरा ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते[1]। संस्कार एक भिन्न गुण है, जो आत्मा के साथ रहता है। धारणा उसका व्यवहित कारण हो सकती है। किन्तु धारणा को सीधा स्मृति का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं। धारणा अपनी अमुक समय की मर्यादा के बाद समाप्त हो जाती है। उसके बाद नया ज्ञान पैदा होता है। इस तरह एक ज्ञान के बाद दूसरे ज्ञान की परम्परा चलती रहती है। वादिदेवसूरि का यह कथन युक्तिसंगत है।

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चार भेद किये गए। अवग्रह के व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह—ये दो भेद हुए। इनमें से अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चार प्रकार के ज्ञान श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन और मन—इन छः से होते हैं। व्यंजनावग्रह केवल श्रोत्र, घ्राण, रसन और स्पर्शन इन चार इन्द्रियों से होता है। चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं, अतः इन दोनों से व्यंजनावग्रह नहीं होता। अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चार पाँच इन्द्रियाँ और मन—इन छः से होते हैं, अतः ४×६=२४ भेद हुए। व्यंजनावग्रह मन और चक्षु को छोड़कर चार इन्द्रियों से होता है, अतः उसके ४ भेद हुए। इन २४+४=२८ प्रकार के ज्ञानों में से प्रत्येक ज्ञान पुनः बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिश्चित, निश्चित, असंदिग्ध, संदिग्ध, ध्रुव और अध्रुव—इस प्रकार बारह प्रकार का होता है[2]। ये नाम श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार हैं। दिगम्बर परम्परा में इन नामों में थोड़ा सा अन्तर है। अनिश्चित और निश्चित के स्थान पर अनिःसृत और निःसृत और असंदिग्ध और संदिग्ध के स्थान पर अनुक्त और उक्त का प्रयोग है[3]।

१—स्याद्वादरत्नाकर २।१०

२—'बहुबहुविधक्षिप्रानिश्चितासन्दिग्धध्रुवाणां सेतराणाम्'।

—तत्त्वार्थसूत्र १।१६

३—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि १।१६

बहु का अर्थ अनेक और अल्प का अर्थ एक है। अनेक वस्तुओं का ज्ञान बहुग्राही है। एक वस्तु का ज्ञान अल्पग्राही है। अनेक प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान बहुविधग्राही है। एक ही प्रकार की वस्तु का ज्ञान अल्पविधग्राही है। बहु और अल्प संख्या से सम्बन्धित हैं और बहुविध तथा अल्पविध प्रकार या जाति से सम्बन्धित हैं। शीघ्रता-पूर्वक होने वाले अवग्रहादि ज्ञान, क्षिप्र कहलाते है। विलम्ब से होने वाले ज्ञान अक्षिप्र हैं। अनिश्चित का अर्थ हेतु के बिना होने वाला वस्तुज्ञान है। निश्चित का अर्थ पूर्वानुभूत किसी हेतु से होने वाला ज्ञान है। जो अनिश्चित के स्थान पर अनिःसृत और निश्चित के स्थान पर निःसृत का प्रयोग करते हैं उनके मतानुसार अनिःसृत का अर्थ है असकलरूप से आविर्भूत पुद्गलों का ग्रहण और निःसृत का अर्थ है सकलतया आविर्भूत पुद्गलों का ग्रहण। असंदिग्ध का अर्थ है निश्चितज्ञान और संदिग्ध का अर्थ है अनिश्चित ज्ञान। अवग्रह और ईहा के अनिश्चय से इसमें भेद है। इसमें अमुक पदार्थ है—ऐसा निश्चय होते हुए भी उसके विशेष गुणों के प्रति सन्देह रहता है। असंदिग्ध और संदिग्ध के स्थान पर अनुक्त और उक्त—ऐसा पाठ मानने वाले अनुक्त का अर्थ करते हैं अभिप्राय मात्र से ज्ञान लेना और उक्त का अर्थ करते है—कहने पर ही जानना। ध्रुव का अर्थ है—अवश्यम्भावी ज्ञान और अध्रुव का अर्थ है—कदाचित्-भावी ज्ञान। इन बारह भेदों में से चार भेद प्रमेय की विविधता पर अवलम्बित है और शेष आठ भेद प्रमाता के क्षयोपशम की विविधता पर आश्रित है। उपर्युक्त २८ भेदों में से प्रत्येक के १२ भेद होने पर कुल २८×१२=३३६ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ भेद हैं। इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

(१)

मतिज्ञान

अवग्रह		ईहा	अवाय	धारणा
व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह			
१–स्पर्शन	५–स्पर्शन	११–स्पर्शन	१७–स्पर्शन	२३–स्पर्शन
२–रसन	६–रसन	१२–रसन	१८–रसन	२४–रसन
३–घ्राण	७–घ्राण	१३–घ्राण	१९–घ्राण	२५–घ्राण
४–श्रोत्र	८–श्रोत्र	१४–श्रोत्र	२०–श्रोत्र	२६–श्रोत्र
	९–चक्षु	१५–चक्षु	२१–चक्षु	२७–चक्षु
	१०–मन	१६–मन	२२–मन	२८–मन

(२)

भेद	बहुग्राही	अल्प ग्राही	बहुविध ग्राही	अल्पविध ग्राही	क्षिप्र ग्राही	अक्षिप्र ग्राही	अनिश्रित ग्राही	निश्रित ग्राही	असन्दिग्ध ग्राही	सन्दिग्ध ग्राही	ध्रुव ग्राही	अध्रुव ग्राही
	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
स्पर्शन व्यञ्जनावग्रह	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
रसन व्यञ्जनावग्रह	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
घ्राण व्यञ्जनावग्रह	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
श्रोत्र व्यंजनावग्रह	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
स्पर्शन अर्थावग्रह	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
रसन अर्थावग्रह	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
घ्राण अर्थावग्रह	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
श्रोत्र अर्थावग्रह	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
चक्षु अर्थावग्रह	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
मन अर्थावग्रह	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
स्पर्शन ईहा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
रसन ईहा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
घ्राण ईहा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,

	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
श्रोत्र ईहा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
चक्षु ईहा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
मन ईहा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
स्पर्शन अवाय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
रसन अवाय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
घ्राण अवाय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
श्रोत्र अवाय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
चक्षु अवाय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
मन अवाय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
स्पर्शन धारणा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
रसन धारणा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
घ्राण धारणा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
श्रोत्र धारणा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
चक्षु धारणा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
मन धारणा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	२८	२८	२८	२८	२८	२८	२८	२८	२८	२८	२८

= ३३६

श्रुतज्ञान :

श्रुतज्ञान का अर्थ है, वह ज्ञान जो श्रुत अर्थात् शास्त्रनिबद्ध है। आप्त पुरुष द्वारा प्रणीत आगम या अन्य शास्त्रों से जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। उसके दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य अनेक प्रकार का है। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं[1]।

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है, इसका क्या अर्थ है ? श्रुतज्ञान होने के लिए शब्द-श्रवण आवश्यक है, क्योंकि शास्त्र वचनात्मक है। शब्द-श्रवण मति के अन्तर्गत है, क्योंकि यह श्रोत्र का विषय है। जब शब्द सुनाई देता है तब उसके अर्थ का स्मरण होता है। शब्द-श्रवण रूप जो व्यापार है वह मतिज्ञान है। तदनन्तर उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसीलिए मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान नहीं हो सकता। श्रुतज्ञान का वास्तविक कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। मतिज्ञान तो उसका बहिरंग कारण है। मतिज्ञान होने पर भी यदि श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम न हो तो श्रुतज्ञान नहीं होता। अन्यथा जो कोई शास्त्र-वचन सुनता, सब को श्रुतज्ञान हो जाता।

अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट रूप से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है। अंगप्रविष्ट उसे कहते हैं जो साक्षात् तीर्थंकर द्वारा प्रकाशित होता है और गणधरों द्वारा सूत्रबद्ध किया हुआ होता है। आयु, बल, बुद्धि आदि की क्षीण अवस्था देखकर बाद में होने वाले आचार्य सर्वसाधारण के हित के लिए अंगप्रविष्ट ग्रन्थों को आधार बनाकर भिन्न भिन्न विषयों पर ग्रन्थ लिखते हैं। ये ग्रन्थ अंगबाह्य ज्ञान के अन्तर्गत हैं। तात्पर्य यह है कि जिन ग्रन्थों के रचयिता स्वयं गणधर हैं वे अंगप्रविष्ट और जिनके रचयिता उसी परम्परा के अन्य आचार्य हैं वे अंगबाह्य ग्रन्थ हैं। अंगबाह्य ग्रन्थ कालिक, उत्कालिक आदि अनेक प्रकार के हैं। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं। ये बारह अंग कहलाते हैं। इनके नाम पहले गिनाये जा

---

१. 'श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्'।

—तत्त्वार्थसूत्र १।२०

चुके हैं। श्रुत वास्तव में ज्ञानात्मक है, किन्तु उपचार से शास्त्रों को भी श्रुत कहते हैं, क्योंकि वे ज्ञानोत्पत्ति के साधन हैं। श्रुतज्ञान के भेद मोटे तौर पर समझने के लिये हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है कि जितने अक्षर हैं और उनके जितने विविध संयोग हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं। इसलिए उसके सारे भेद गिनाना सम्भव नहीं। श्रुतज्ञान के चौदह मुख्य प्रकार हैं—अक्षर, संज्ञी, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक और अंगप्रविष्ट ये सात और अनक्षर, असंज्ञी, मिथ्या, अनादिक, अपर्यवसित, अगमिक और अंगबाह्य ये सात इनसे विपरीत[1]। नन्दीसूत्र में इन भेदों का स्वरूप बताया गया है। अक्षर श्रुत के तीन भेद किये गए हैं—संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर, और लब्ध्यक्षर। वर्ण का आकार संज्ञाक्षर है। वर्ण की ध्वनि व्यंजनाक्षर है। जो वर्ण सीखने में समर्थ है वह लब्ध्यक्षरधारी है[2]। संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर द्रव्य-श्रुत है। लब्ध्यक्षर भावश्रुत है। खांसना, ऊँचा श्वास लेना आदि अनक्षरश्रुत है। संज्ञी श्रुत के भी तीन भेद हैं—दीर्घकालिकी, हेतूपदेशिकी, और दृष्टिवादोपदेशिकी। वर्तमान, भूत और भविष्य त्रिकालविषयक विचार दीर्घकालिकी संज्ञा है। केवल वर्तमान की दृष्टि से हिताहित का विचार करना हेतूप-देशिकी संज्ञा है। सम्यक् श्रुत के ज्ञान के कारण हिताहित का बोध होना दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा है। जो इन संज्ञाओं को धारण करते हैं वे संज्ञी कहलाते हैं। जो इन संज्ञाओं को धारण नहीं करते वे असंज्ञी हैं। असंज्ञी तीन तरह के होते हैं। जो समनस्क होते हुए भी सोच नहीं सकते वे प्रथम कोटि के असंज्ञी हैं। जो अमनस्क हैं वे दूसरी कोटि के असंज्ञी हैं। अमनस्क का अर्थ मन-रहित नहीं है, अपितु अत्यन्त सूक्ष्म मन वाला है। जो मिथ्याश्रुत में विश्वास रखते हैं वे तीसरी कोटि के असंज्ञी हैं[3]। सादिक श्रुत वह है जिसकी

१—आवश्य निर्युक्ति १७–१९

२—नंदीसूत्र ३८

३—वही ३९–४०

आदि है। जिसकी कोई आदि नहीं है वह अनादिक श्रुत है। द्रव्यरूप से श्रुत अनादिक है और पर्यायरूप से सादिक है। सपर्यवसित श्रुत वह है जिसका अन्त होता है। जिसका कभी अन्त नहीं होता वह अपर्यवसित श्रुत है। यहाँ भी द्रव्य और पर्याय दृष्टि का उपयोग करना चाहिए। गमिक उसे कहते हैं, जिसके सदृश पाठ उपलब्ध हैं। अगमिक असदृशाक्षरालापक होता है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के विषय में लिख ही चुके हैं।

श्रुतज्ञान का मुख्य आधार शब्द है। हस्तसंकेत आदि अन्य साधनों से भी यह ज्ञान होता है। वहाँ पर ये साधन शब्द का ही कार्य करते हैं। अन्य शब्दों की तरह उनका स्पष्ट उच्चारण कानों में नहीं पड़ता। मौन उच्चारण से ही वे अपना कार्य करते हैं। श्रुतज्ञान जब इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसके लिए संकेतस्मरण की आवश्यकता नहीं रह जाती तब वह मतिज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है। श्रुतज्ञान के लिए चिन्तन और संकेतस्मरण परमावश्यक है। अभ्यास दशा में ऐसा न होने पर वह ज्ञान श्रुत की कोटि से बाहर निकल कर मति की कोटि में आ जाता है।

मति और श्रुत :

जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार प्रत्येक जीव में कम-से-कम ज्ञान—मति और श्रुत आवश्यक होते हैं। केवलज्ञान के समय इन दोनों की स्थिति के विषय में मतभेद है। कुछ लोग उस समय भी मति और श्रुत की सत्ता मानते हैं और कहते हैं कि केवलज्ञान के महाप्रकाश के सामने उनका अल्प प्रकाश दब जाता है। सूर्य के प्रखर प्रकाश के रहते हुए चन्द्र आदि का प्रकाश नहींवत् मालूम होता है। कुछ लोग यह बात नहीं मानते। उनके मत से केवलज्ञान अकेला ही रहता है। मति, श्रुतादि क्षायोपशमिक हैं। जब सम्पूर्ण ज्ञानावरण का क्षय हो जाता है तब क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकता। यह मत जैन दर्शन की परम्परा के अनुकूल है। केवलज्ञान का अर्थ ही अकेला ज्ञान है। वह क्षायिक ही होता है। उसे किसी की सहायता अपेक्षित नहीं है।

मति और श्रुत के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में उमास्वाति

का मत है कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है, जब कि मतिज्ञान के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह श्रुतपूर्वक ही हो[1]। नन्दीसूत्र का मत है कि जहाँ आभिनिबोधिक ज्ञान (मति) है वहाँ श्रुतज्ञान भी है और जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ मतिज्ञान भी है[2]। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी इसी मत का समर्थन है[3]। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या ये दोनों मत परस्पर विरोधी हैं? एक मत के अनुसार श्रुतज्ञान के लिए मतिज्ञान अनिवार्य है, जबकि मतिज्ञान के लिए श्रुतज्ञान आवश्यक नहीं। दूसरा मत कहता है कि मति और श्रुत दोनों सहचारी हैं। एक के अभाव में दूसरा नहीं रह सकता। जहाँ मति होगी वहाँ श्रुत अवश्य होगा और जहाँ श्रुत होगा वहाँ मति अवश्य होगी। हम समझते हैं कि ये दोनों मत परस्पर विरोधी नहीं हैं। उमास्वाति जब यह कहते हैं कि श्रुत के पूर्व मति आवश्यक है तो उसका अर्थ केवल इतना ही है कि जब कोई विशेष श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है तब वह तद्विषयक मतिपूर्वक ही होता है। पहले शब्द सुनाई देता है और फिर उसका श्रुतज्ञान होता है। मतिज्ञान के लिए यह आवश्यक नहीं कि पहले श्रुतज्ञान हो और फिर मतिज्ञान हो, क्योंकि मतिज्ञान पहले होता है और श्रुतज्ञान बाद में। यह भी आवश्यक नहीं कि जिस विषय का मतिज्ञान हो उसका श्रुतज्ञान भी हो। ऐसी दशा में दोनों सहचारी कैसे हो सकते हैं? नन्दीसूत्र में जो सहचारित्व है वह किसी विशेष ज्ञान की अपेक्षा से नहीं है। वह तो एक सामान्य सिद्धान्त है। सामान्यतया मति और श्रुत सहचारी हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव में ये दोनों ज्ञान साथ-साथ रहते हैं। मति और श्रुत के बिना कोई जीव नहीं है। ऐकेन्द्रिय से लगाकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक हरेक जीव में कम-से-

---

१—श्रुतज्ञानस्य मतिज्ञानेन नियतः सहभावः तत्पूर्वकत्वात्। यस्य श्रुतज्ञानं तस्य नियतं मतिज्ञानं, यस्य तु मतिज्ञानं तस्य श्रुतज्ञानं स्याद्वा न वेति।

—तत्त्वार्थसूत्रभाष्य १।३१

२—२४

३—सर्वार्थसिद्धि १।३०; तत्त्वार्थराजवार्तिक १।६।३०

क्रम से दो ज्ञान रहते हैं। इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि जहाँ मतिज्ञान है वहाँ श्रुतज्ञान भी है और जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ मति-ज्ञान भी है। ये दोनों ज्ञान जीव में किसी-न-किसी मात्रा में हर समय रहते हैं। शक्तिरूप से इनकी सत्ता सदैव रहती है। जीव की दृष्टि से यह सहचारित्व है, न कि किसी विशेष ज्ञान की दृष्टि से।

जिनभद्र कहते हैं कि जो ज्ञान श्रुतानुसारी है, इन्द्रिय और मन से पैदा होता है, तथा नियत अर्थ को समझाने में समर्थ है, वह भावश्रुत है। शेष मति है[1]। केवल शब्दज्ञान श्रुत नहीं है। जिस शब्दज्ञान के पीछे श्रुतानुसारी संकेतस्मरण है और जो नियत अर्थ को समझाने में समर्थ है वही शब्दज्ञान श्रुत है। इसके अतिरिक्त जितना भी शब्दज्ञान है, सब मति है। सामान्य शब्दज्ञान, जो कि केवल मतिज्ञान है, बढ़ते-बढ़ते उपर्युक्त स्तर तक पहुँचता है तभी वह श्रुतज्ञान बनता है। शब्दज्ञान होने से कोई भी शब्दज्ञान श्रुत नहीं हो जाता। श्रुत के लिए जो शर्तें हैं उन्हें पूरी करने पर ही शब्दज्ञान श्रुत बनता है। श्रुतज्ञान के प्रति कारण होने से शब्द को द्रव्यश्रुत कहा जाता है। वास्तव में भावश्रुत ही श्रुत है। वह शास्त्रसापेक्ष है, अतः श्रुतानुसारित्व, इन्द्रिय और मनोजन्य व्यापार और नियत अर्थ को समझाने का सामर्थ्य—ये सब बातें होना आवश्यक है। आगे इसी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वक्ता या श्रोता का वही ज्ञान श्रुत है जो श्रुतानुसारी है। जो ज्ञान श्रुतानुसारी नहीं है वह मति है[2]। केवल शब्द-संसर्ग से ही ज्ञान श्रुत नहीं हो जाता। अन्यथा ईहा, अवाय आदि भी श्रुत ही होते क्योंकि—वे बिना शब्द-संसर्ग के उत्पन्न नहीं होते। मन में 'यह स्त्री

१—इंदिय-मणोनिमित्तं, जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं।
निययत्थुत्तिसमत्थं तं भावसुयं मई सेसं॥
—विशेषावश्यकभाष्य, १००

२. भासओ सुणओ व सुयं न जमिह सुयाणुसारि विण्णाणं।
सेसं तु सुयाईयं, ज विण्णाणं मई सुयं॥
—विशेषावश्यकभाष्य, १२१

का शब्द है या पुरुष का' यह विकल्प बिना अन्तर्जल्प के नहीं हो सकता। यह अन्तर्जल्प शब्द-संसर्ग है। शब्द-संसर्ग होते हुए जहाँ श्रुतानुसारित्व हो वह ज्ञान श्रुत है। श्रुतानुसारी का अर्थ है—शब्द व शास्त्र के अर्थ की परम्परा का अनुसरण करने वाला।

अवधिज्ञान :

आत्मा का स्वाभाविक गुण केवलज्ञान है। कर्म के आवरण की तरतमता के कारण यह ज्ञान विविध रूपों में प्रकट होता है। मति और श्रुत इन्द्रिय तथा मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं, अतः वे आत्मा की दृष्टि से परोक्ष हैं। अवधि, मनःपर्यय और केवल सीधे आत्मा से होते हैं, अतः उन्हें प्रत्यक्ष कहा गया है। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है और अवधि और मनःपर्यय विकलप्रत्यक्ष हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान आत्मा से पैदा होते हैं इसलिए प्रत्यक्ष हैं किन्तु अपूर्ण हैं, अतः विकल हैं। अवधि का अर्थ है 'सीमा' अथवा 'वह जो सीमित है'। अवधिज्ञान की क्या सीमा है ? अवधि का विषय केवल रूपी पदार्थ है[1]। जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्शयुक्त है वही अवधि का विषय है। इससे आगे अरूपी पदार्थों में अवधि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो छः द्रव्यों में से केवल एक द्रव्य अवधि का विषय हो सकता है। वह द्रव्य है पुद्गल, क्योंकि केवल पुद्गल ही रूपी है। अन्य पाँच द्रव्य उसके विषय नहीं हो सकते।

अवधिज्ञान के अधिकारी दो प्रकार के होते हैं—भवप्रत्ययी और गुणप्रत्ययी। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारक को होता है[2]। गुण-प्रत्यय का अधिकारी मनुष्य या तिर्यञ्च होता है। भवप्रत्यय का अर्थ है जन्म से प्राप्त होने वाला। जो अवधिज्ञान जन्म के साथ ही-साथ प्रकट होता है- वह भवप्रत्यय है। देव और नारक को पैदा होते ही अवधिज्ञान प्राप्त होता है। इसके लिए उन्हें व्रत, नियमादि का पालन नहीं करना पड़ता। उनका भव ही ऐसा है कि वहाँ पैदा होते ही अवधिज्ञान हो जाता है। मनुष्य और अन्य प्राणियों

१—'रूपिष्ववधेः।' —तत्त्वार्थसूत्र १, २८

२—स्थानांगसूत्र ७१ नंदीसूत्र ७-८, तत्त्वार्थसूत्र १, २२-२३

के लिये ऐसा नियम नहीं है। मति और श्रुतज्ञान तो जन्म के साथ ही होते हैं किन्तु अवधिज्ञान के लिए यह आवश्यक नहीं है। व्यक्ति के प्रयत्न से कर्मों का क्षयोपशम होने पर ही यह ज्ञान पैदा होता है। देव और नारक की तरह मनुष्यादि के लिए यह ज्ञान जन्म सिद्ध नहीं है, अपितु व्रत, नियम आदि गुणों के पालन से प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए इसे गुणप्रत्यय अथवा क्षायोपशमिक कहते हैं। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जब यह नियम है कि अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से ही अवधिज्ञान प्रकट होता है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि देव और नारक जन्म से ही अवधि-ज्ञानी होते हैं ? उनके लिए भी क्षयोपशम आवश्यक है। उनमें और दूसरों में अन्तर इतना ही है कि उनका क्षयोपशम भवजन्य होता है अर्थात् उस जाति में जन्म लेने पर अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम हो ही जाता है। वह जाति ही ऐसी है कि जिसके कारण यह कार्य बिना विशेष प्रयत्न के पूरा हो जाता है। मनुष्यादि अन्य जातियों के लिए यह नियम नहीं। वहाँ तो व्रत, नियमादि का विशेपरूप से पालन करना पड़ता है। तभी अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है। क्षयोपशम तो सभी के लिए आवश्यक है। अन्तर साधन में है। जो जीव केवल जन्म मात्र से क्षयोपशम कर सकते हैं उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय है। जिन्हें इसके लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है उनका अवधिज्ञान गुणप्रत्यय है।

गुणप्रत्यय अवधि के छः भेद होते हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्ध-मान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित[1]।

जो अवधिज्ञान एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी नष्ट न हो, अपितु साथ-साथ जावे, वह अनुगामी है।

उत्पत्तिस्थान का त्याग कर देने पर जो नष्ट हो जाय वह अननुगामी है।

जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय से क्रमशः बढ़ता जाय वह

१—'अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात् षड्विधः'
—तत्त्वार्थराजवार्तिक १।२२।४

का शब्द है या पुरुष का' यह विकल्प बिना अन्तर्जल्प के नहीं हो सकता। यह अन्तर्जल्प शब्द-संसर्ग है। शब्द-संसर्ग होते हुए जहाँ श्रुतानुसारित्व हो वह ज्ञान श्रुत है। श्रुतानुसारी का अर्थ है—शब्द व शास्त्र के अर्थ की परम्परा का अनुसरण करने वाला।

अवधिज्ञान :

आत्मा का स्वाभाविक गुण केवलज्ञान है। कर्म के आवरण की तरतमता के कारण यह ज्ञान विविध रूपों में प्रकट होता है। मति और श्रुत इन्द्रिय तथा मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं, अतः वे आत्मा की दृष्टि से परोक्ष हैं। अवधि, मनःपर्यय और केवल सीधे आत्मा से होते हैं, अतः उन्हें प्रत्यक्ष कहा गया है। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है और अवधि और मनःपर्यय विकलप्रत्यक्ष हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान आत्मा से पैदा होते हैं इसलिए प्रत्यक्ष हैं किन्तु अपूर्ण हैं, अतः विकल हैं। अवधि का अर्थ है 'सीमा' अथवा 'वह जो सीमित है'। अवधिज्ञान की क्या सीमा है? अवधि का विषय केवल रूपी पदार्थ है[1]। जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्शयुक्त है वही अवधि का विषय है। इससे आगे अरूपी पदार्थों में अवधि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो छः द्रव्यों में से केवल एक द्रव्य अवधि का विषय हो सकता है। वह द्रव्य है पुद्गल, क्योंकि केवल पुद्गल ही रूपी है। अन्य पाँच द्रव्य उसके विषय नहीं हो सकते।

अवधिज्ञान के अधिकारी दो प्रकार के होते हैं—भवप्रत्ययी और गुणप्रत्ययी। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारक को होता है[2]। गुण-प्रत्यय का अधिकारी मनुष्य या तिर्यञ्च होता है। भवप्रत्यय का अर्थ है जन्म से प्राप्त होने वाला। जो अवधिज्ञान जन्म के साथ ही-साथ प्रकट होता है- वह भवप्रत्यय है। देव और नारक को पैदा होते ही अवधिज्ञान प्राप्त होता है। इसके लिए उन्हें व्रत, नियमादि का पालन नहीं करना पड़ता। उनका भव ही ऐसा है कि वहाँ पैदा होते ही अवधिज्ञान हो जाता है। मनुष्य और अन्य प्राणियों

१—'रूपिष्ववधेः।' —तत्त्वार्थसूत्र १, २८

२—स्थानांगसूत्र ७१ नंदीसूत्र ७-८, तत्त्वार्थसूत्र १, २२-२३

के लिये ऐसा नियम नहीं है। मति और श्रुतज्ञान तो जन्म के साथ ही होते हैं. किन्तु अवधिज्ञान के लिए यह आवश्यक नहीं है। व्यक्ति के प्रयत्न से कर्मों का क्षयोपशम होने पर ही यह ज्ञान पैदा होता है। देव और नारक की तरह मनुष्यादि के लिए यह ज्ञान जन्म सिद्ध नहीं है, अपितु व्रत, नियम आदि गुणों के पालन से प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए इसे गुणप्रत्यय अथवा क्षायोपशमिक कहते हैं। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जब यह नियम है कि अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से ही अवधिज्ञान प्रकट होता है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि देव और नारक जन्म से ही अवधिज्ञानी होते हैं? उनके लिए भी क्षयोपशम आवश्यक है। उनमें और दूसरों में अन्तर इतना ही है कि उनका क्षयोपशम भवजन्य होता है अर्थात् उस जाति में जन्म लेने पर अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम हो ही जाता है। वह जाति ही ऐसी है कि जिसके कारण यह कार्य बिना विशेष प्रयत्न के पूरा हो जाता है। मनुष्यादि अन्य जातियों के लिए यह नियम नहीं। वहाँ तो व्रत, नियमादि का विशेषरूप से पालन करना पड़ता है। तभी अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है। क्षयोपशम तो सभी के लिए आवश्यक है। अन्तर साधन में है। जो जीव केवल जन्म मात्र से क्षयोपशम कर सकते हैं उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय है। जिन्हें इसके लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है उनका अवधिज्ञान गुणप्रत्यय है।

गुणप्रत्यय अवधि के छः भेद होते हैं–अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित[1]।

जो अवधिज्ञान एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी नष्ट न हो, अपितु साथ-साथ जावे, वह अनुगामी है।

उत्पत्तिस्थान का त्याग कर देने पर जो नष्ट हो जाय वह अननुगामी है।

जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय से क्रमशः बढ़ता जाय वह

१—'अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात् षड्विधः'
—तत्त्वार्थराजवार्तिक १।२२।४

वर्धमान है। यह वृद्धि क्षेत्र, शुद्धि आदि किसी भी दृष्टि से हो सकती है।

जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय से परिणामों की विशुद्धि कम हो जाने के कारण क्रमशः अल्प-विषयक होता जाता है वह हीयमान है।

जो न तो बढ़ता है और न कम होता है, अपितु जैसा उत्पन्न होता है वैसा-का वैसा बना रहता है। जन्मातर के समय अथवा केवलज्ञान होने पर नष्ट होता है, वह अवस्थित है।

जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी प्रकट होता है, कभी तिरोहित हो जाता है उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान के उपर्युक्त छः भेद स्वामी के गुण की दृष्टि से हैं। इनके अतिरिक्त क्षेत्र आदि की दृष्टि से तीन भेद और होते हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि[1]। देशावधि के पुनः तीन भेद होते हैं—जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट। सर्वावधि एक ही प्रकार का होता है।

जघन्य देशावधि का क्षेत्र उत्सेधांगुले[2] का असंख्यातवाँ भाग है। उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र सम्पूर्ण लोक है। अजघन्योत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र इन दोनों के बीच का है, जो असंख्यात प्रकार का है।

जघन्य परमावधि का क्षेत्र एक प्रदेशाधिक लोक है। उत्कृष्ट परमावधि का क्षेत्र असंख्यातलोक प्रमाण है। अजघन्योत्कृष्ट परमावधि का क्षेत्र इन दोनों के बीच का है।

सर्वावधि का क्षेत्र उत्कृष्ट परमावधि के क्षेत्र से बाहर असंख्यात क्षेत्र प्रमाण है।

१—'पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदा देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति'।
—वही १।२२।५ (वृत्तिसहित)

२—अंगुल एक प्रकार का क्षेत्र का नाप है। यह तीन प्रकार का है—उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल। भिन्न भिन्न पदार्थों के नाप के लिए भिन्न भिन्न अंगुल निश्चित हैं।

लोक से अधिक क्षेत्र नहीं हो सकता, क्योंकि लोक के बाहर कोई पदार्थ नहीं जिसे अवधिज्ञानी जान सके। इसलिए जहाँ लोक से अधिक क्षेत्र का निर्देश है वहाँ उत्तरोत्तर उतने ही प्रमाण में ज्ञान की सूक्ष्मता समझना चाहिए। जिस तरह क्षेत्र की दृष्टि से विभिन्न प्रकार हैं उसी प्रकार काल की दृष्टि में भी अनेक भेद हो सकते हैं। उन सब का वर्णन करना यहाँ अभीष्ट नहीं।

आवश्यकनिर्युक्ति में क्षेत्र, संस्थान, अवस्थित, तीव्र, मन्द आदि चौदह दृष्टियों से अवधिज्ञान का लम्बा वर्णन है[1]। विशेषावश्यक भाष्य में सात प्रकार के निक्षेप से अवधिज्ञान को समझने की सूचना है। ये सात निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव।

मनःपर्ययज्ञान :

'मनुष्यों के मन के चिन्तित अर्थ को प्रकट करने वाला ज्ञान मनःपर्ययज्ञान है। यह मनुष्य क्षेत्र तक सीमित है, गुण के कारण उत्पन्न होता है और चारित्रवान् व्यक्ति ही इसका अधिकारी है[2]। यह मनःपर्ययज्ञान की व्याख्या आवश्यकनिर्युक्तिकार ने की है। मन एक प्रकार का पौद्गलिक द्रव्य है। जब व्यक्ति किसी विषय का विचार करता है तब उसके मन का विविध पर्यायों में परिवर्तन होता है। उसका मन तद्तद् पर्यायों में परिणत होता है। मनःपर्ययज्ञानी उन पर्यायों का साक्षात्कार करता है। उस साक्षात्कार के आधार पर वह यह जान सकता है कि यह व्यक्ति इस समय यह बात सोच रहा है। अनुमान—कल्पना से किसी के विषय में यह सोचना कि 'अमुक व्यक्ति अमुक विचार कर रहा है' मनःपर्ययज्ञान नहीं है। मन के परिणमन का आत्मा से साक्षात् प्रत्यक्ष करके मनुष्य के चिन्तित अर्थ को जान लेना मनःपर्ययज्ञान है। यह ज्ञान

१—२६-२८

२—मणपज्जवणाणं पुण, जणमणपरिचिंतियत्थपागडणं।
माणुसखेत्तनिबद्धं, गुणपच्चइयं चरित्तवओ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, ७६

आत्मपूर्वक होता है न कि मनपूर्वक। मन तो विषय मात्र होता है। ज्ञाता साक्षात् आत्मा है।

मनःपर्ययज्ञान के दो प्रकार हैं—ऋजुमति और विपुलमति[1]। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति का ज्ञान विशुद्धतर होता है, क्योंकि विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा मन के सूक्ष्मतर परिणामों को भी जान सकता है। दूसरा अन्तर यह है कि ऋजुमति प्रतिपाती है अर्थात् उत्पन्न होने के बाद चला भी जाता है किन्तु विपुलमति नष्ट नहीं हो सकता। वह केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त अवश्य रहता है[2]।

मनःपर्ययज्ञान के विषय में दो परम्पराएँ चली आ रही हैं। एक परम्परा तो यह मानती है कि मनःपर्ययज्ञानी चिन्तित अर्थ का प्रत्यक्ष कर लेता है[3]। दूसरी परम्परा इसके विपरीत यह मानती है कि मनःपर्ययज्ञानी मन की विविध अवस्थाओं का तो प्रत्यक्ष करता है, किन्तु उन अवस्थाओं में जो अर्थ रहा हुआ है उसका अनुमान करता है।[4] दूसरे शब्दों में एक परम्परा अर्थ का ही प्रत्यक्ष मानती है और दूसरी परम्परा मन का तो प्रत्यक्ष मानती है किन्तु अर्थ का ज्ञान अनुमान से मानती है। मन की विविध परिणतियों को मनःपर्ययज्ञानी प्रत्यक्ष रूप से जान लेता है और उन परिणतियों के आधार से उस अर्थ का अनुमान लगाता है, जिसके कारण मन का उस रूप से परिणमन हुआ हो। इसी बात को और स्पष्ट करें। पहली परम्परा मन के द्वारा चिन्तित अर्थ के ज्ञान के लिए मन को माध्यम न मानकर सीधा उस अर्थ का प्रत्यक्ष मान लेती है। मन के पर्याय और अर्थ के पर्याय में लिंग और लिंगी का सम्बन्ध नहीं मानती। केवल मन एक सहारा है। जैसे कोई यह कहे कि 'देखो, बादलों में चन्द्रमा है' तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि चन्द्रमा

१—ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः। —तत्त्वार्थसूत्र, १।२४

२—वही १।२५

३—सर्वार्थसिद्धि, १।९; तत्त्वार्थराजवार्तिक, १।२६।६-७

४—विशेषावश्यकभाष्य, ८१४

सचमुच बादलों में है। यह तो दृष्टि के लिए एक आधारमात्र है। इसी प्रकार मन भी अर्थ जानने का एक आधारमात्र है। वास्तव में प्रत्यक्ष तो अर्थ का ही होता है। इसके लिए मन के आधार की आवश्यकता अवश्य रहती है। दूसरी परम्परा यह मानने के लिए तैयार नहीं। वहाँ मन का ज्ञान मुख्य है और अर्थ का ज्ञान उस ज्ञान के बाद की चीज है। मन के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होता है न कि सीधा अर्थज्ञान। मनःपर्यय का अर्थ ही यह है कि मन की पर्यायों का ज्ञान न कि अर्थ की पर्यायों का ज्ञान।

उपर्युक्त दोनों परम्पराओं में से दूसरी परम्परा युक्तिसंगत मालूम होती है। मनःपर्ययज्ञान से साक्षात् अर्थज्ञान होना सम्भव नहीं, क्योंकि उसका विषय रूपी द्रव्य का अनन्तवाँ भाग है[1]। यदि वह मन के सम्पूर्ण विषयों का साक्षात् ज्ञान कर लेता है तो अरूपी द्रव्य भी उसके विषय हो जाते हैं, क्योंकि मन से अरूपी द्रव्य का भी विचार हो सकता है। ऐसा होना इष्ट नहीं। मनः-पर्ययज्ञान मूर्त द्रव्यों का साक्षात्कार करता है और वह भी अवधि-ज्ञान जितना नहीं। अवधिज्ञान सब प्रकार के पुद्गल द्रव्यों का ग्रहण करता है किन्तु मनःपर्ययज्ञान उनके अनन्तवें भाग अर्थात् मनरूप बने हुये पुद्गलों का मानुषोत्तर क्षेत्र के अन्तर्गत ही ग्रहण करता है। मन का साक्षात्कार हो जाने पर तच्चिन्तित अर्थ का ज्ञान अनुमान से हो सकता है। ऐसा होने पर मन के द्वारा चिन्तित मूर्त, अमूर्त सभी द्रव्यों का ज्ञान हो सकता है।

अवधि और मनःपर्यय :

अवधि और मनःपर्यय दोनों ज्ञान रूपी द्रव्य तक सीमित हैं तथा अपूर्ण अर्थात् विकलप्रत्यक्ष हैं। इतना होते हुए भी दोनों में अन्तर है। यह अन्तर चार दृष्टियों से है—विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय[2]। मनः-पर्ययज्ञान अपने विषय को अवधिज्ञान की अपेक्षा विशद्‌रूप से जानता

१—'तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य'।

—तत्त्वार्थसूत्र १।२९

२—'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः।

—तत्त्वार्थसूत्र १।२६

है। अतः उससे विशुद्धतर है। यह विशुद्धि विषय की न्यूनाधिकता पर नहीं, किन्तु विषय की सूक्ष्मता पर अवलम्बित है। अधिक मात्रा में विषय का ज्ञान होना उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना विषय की सूक्ष्मताओं का ज्ञान होना। मनःपर्ययज्ञान से रूपी द्रव्य का सूक्ष्म अंश जाना जाता है। अवधिज्ञान उतनी सूक्ष्मता तक नहीं पहुँच सकता। अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सारा लोक है मनःपर्ययज्ञान का क्षेत्र मनुष्य लोक (मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त) है। अवधिज्ञान का स्वामी देव, नरक, मनुष्य और तिर्यञ्च किसी भी गति का जीव हो सकता है। मनःपर्ययज्ञान का स्वामी केवल चारित्रवान् मनुष्य ही हो सकता है। अवधिज्ञान का विषय सभी रूपीद्रव्य हैं (सब पर्याय नहीं), किन्तु मनः-पर्ययज्ञान का विषय केवल मन है, जो कि रूपीद्रव्य का अनन्तवाँ भाग है।

उपर्युक्त विवेचन को देखने से मालूम पड़ता है कि अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में कोई ऐसा अन्तर नहीं जिसके आधार पर दोनों ज्ञान स्वतन्त्र सिद्ध हो सकें। दोनों में एक ही ज्ञान की दो भूमिकाओं से अधिक अन्तर नहीं है। एक ज्ञान कम विशुद्ध है, दूसरा ज्ञान अधिक विशुद्ध है। दोनों के विषयों में भी समानता ही है। क्षेत्र और स्वामी की दृष्टि से भी सीमा की न्यूनाधिकता है। कोई ऐसा मौलिक अन्तर नहीं दीखता जिसके कारण दोनों को स्वतन्त्र ज्ञान कहा जा सके। दोनों ज्ञान आंशिक आत्म-प्रत्यक्ष की कोटि में हैं। मति और श्रुतज्ञान के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

केवलज्ञान :

यह ज्ञान विशुद्धतम है। मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से कैवल्य प्रकट होता है[1]। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। केवलज्ञान क्षायिक है। केवलज्ञान के चार प्रतिबंधक कर्म हैं—मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय। यद्यपि इन चारों कर्मों के क्षय से चार भिन्न-भिन्न शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु केवलज्ञान उन सब में मुख्य है; इसलिए हमने उपर्युक्त वाक्य

१—तत्त्वार्थसूत्र १०।१

का प्रयोग किया है। सर्व-प्रथम मोह का क्षय होता है। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त के बाद ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय—इन तीनों कर्मों का क्षय होता है। तदनन्तर केवलज्ञान पैदा होता है और उसके साथ-ही-साथ केवलदर्शन आदि तीन अन्य शक्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं। केवलज्ञान का विषय सर्व द्रव्य और सर्व पर्याय हैं[1]। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसको केवलज्ञानी न जानता हो। कोई भी पर्याय ऐसा नहीं है, जो केवलज्ञान का विषय न हो। जितने भी द्रव्य हैं और उनके वर्तमान, भूत और भविष्य के जितने भी पर्याय हैं, सब केवलज्ञान के विषय हैं। केवलज्ञान के समय मति आदि चारों ज्ञान नहीं होते, इसका निर्देश पहले कर चुके हैं। आत्मा की ज्ञानशक्ति का पूर्ण विकास या आविर्भाव केवलज्ञान है। इस ज्ञान के होते ही जितने छोटे मोटे क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, सब समाप्त हो जाते हैं। मति आदि क्षायोपशमिक ज्ञान आत्मा के अपूर्ण विकास के द्योतक हैं। जब आत्मा का पूर्ण विकास हो जाता है तब इनकी स्वतः समाप्ति हो जाती है। पूर्णता के साथ अपूर्णता नहीं टिक सकती। दूसरे शब्दों में पूर्णता के अभाव का नाम ही अपूर्णता है। पूर्णता का सद्भाव अपूर्णता के असद्भाव का द्योतक है। केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है—सम्पूर्ण है, अतः उसके साथ मति आदि अपूर्णज्ञान नहीं रह सकते। जैन दर्शन की केवलज्ञान-विषयक मान्यता व्यक्ति के ज्ञान के विकास का अन्तिम सोपान है।

दर्शन और ज्ञान :

आत्मा का स्वरूप बताते समय हम कह चुके हैं कि उपयोग जीव का लक्षण है। यह उपयोग दो प्रकार का होता है—अनाकार और साकार। अनाकार उपयोग को दर्शन कहते हैं और साकार उपयोग को ज्ञान[2]। अनाकार का अर्थ है-निर्विकल्पक और साकार का अर्थ है-सविकल्पक। जो उपयोग सामान्यभाव का ग्रहण करता है वह निर्विकल्पक है और

१—'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'। —तत्त्वार्थसूत्र १।३०

२—तत्त्वार्थसूत्रभाष्य ।९

जो विशेष का ग्रहण करता है वह सविकल्पक है। सत्ता सामान्य की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। सत्ता में भेद होते ही विशेष प्रारम्भ हो जाता है।

जैनदर्शन में दर्शन और ज्ञान की मान्यता बहुत प्राचीन है। कर्मों के आठ भेदों में पहले के दो भेद ज्ञान और दर्शन से सम्बन्धित हैं। कर्म-विषयक मान्यता जितनी प्राचीन है, ज्ञान और दर्शन की मान्यता भी उतनी ही प्राचीन है। ज्ञान को आच्छादित करने वाले कर्म का नाम ज्ञानावरण कर्म है। दर्शन की शक्ति को आवृत्त करने वाले कर्म को दर्शनावरण कर्म कहते हैं। इन दोनों प्रकार के आवरणों के क्षयोपशम से ज्ञान और दर्शन का आविर्भाव होता है। आगमों में ज्ञान के लिए 'जाणइ' (जानाति) अर्थात् जानता है और दर्शन के लिए 'पासइ' (पश्यति) अर्थात् देखता है का प्रयोग हुआ है।

साकार और अनाकार के स्थान पर एक मान्यता यह भी देखने में आती है कि बहिर्मुख उपयोग ज्ञान है और अन्तर्मुख उपयोग दर्शन है। आचार्य वीरसेन लिखते हैं कि सामान्य-विशेषात्मक बाह्यार्थ का ग्रहण ज्ञान है और तदात्मक आत्मा का ग्रहण दर्शन है[1]। तत्त्व सामान्य-विशेषात्मक है। चाहे आत्मा हो, चाहे आत्मा से इतर पदार्थ हों—सब इसी लक्षण से युक्त हैं। दर्शन और ज्ञान का भेद यही है कि दर्शन सामान्य-विशेषात्मक आत्मा का उपयोग है—स्वरूप दर्शन है, जब कि ज्ञान आत्मा से इतर प्रमेय का ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त दर्शन और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। जो लोग यह मानते हैं कि सामान्य का ग्रहण दर्शन है और विशेष का ग्रहण ज्ञान है वे इस मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान का स्वरूप नहीं जानते। सामान्य और विशेष दोनों पदार्थ के धर्म हैं। एक के अभाव में दूसरा नहीं रह सकता। दर्शन और ज्ञान, इन दोनों धर्मों का ग्रहण करते हैं। केवल सामान्य या केवल विशेष का ग्रहण नहीं हो सकता। सामान्य-व्यतिरिक्त विशेष का ग्रहण करने वाला

१—'सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानम्, तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम्'।

—षट्खण्डागम पर धवला टीका १।१।४

को सामान्यग्राही मानने का अर्थ केवल इतना ही है कि उस उपयोग में सामान्य धर्म झलकता है जब कि ज्ञानोपयोग में विशेष धर्म की ओर प्रवृत्ति रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि सामान्य का तिरस्कार करके विशेष का ग्रहण किया जाता है अथवा विशेष को एक ओर फेंककर सामान्य का सम्मान किया जाता है। वस्तु में दोनों धर्मों के रहते हुए भी उपयोग किसी एक धर्म का मुख्य रूप से ग्रहण कर सकता है। यदि ऐसा न होता तो हम सामान्य और विशेष का भेद ही नहीं कर पाते। उपयोग में धर्मों का भेद हो सकता है, वस्तु में नहीं। उपयोग में सामान्य और विशेष का भेद किसी भी तरह व्यभिचारी नहीं है।

ज्ञान और दर्शन में क्या भेद है, इसका विवेचन हो चुका। अब यह देखेंगे कि काल की दृष्टि से दोनों का क्या सम्बन्ध है? जहाँ तक छद्मस्थ अर्थात् सामान्य व्यक्ति का प्रश्न है, सभी आचार्य एकमत हैं कि दर्शन और ज्ञान युगपद् न होकर क्रमशः होते हैं। हाँ, केवली के प्रश्न को लेकर आचार्यों में मतभेद है। केवली में दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है, इस प्रश्न के विषय में तीन मत हैं। एक मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान क्रमशः होते हैं। दूसरी मान्यता के अनुसार दर्शन और ज्ञान युगपद् होते हैं। तीसरा मत यह है कि ज्ञान और दर्शन में अभेद है—दोनों एक हैं।

आवश्यकनियुक्ति में कहा गया है कि केवली के दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते[1]। आगम इस विषय में एकमत हैं। वे दर्शन और ज्ञान को युगपद् नहीं मानते[2]।

दिगम्बर आचार्य दूसरी मान्यता का समर्थन करते हैं। इस विषय में वे सभी एकमत हैं कि केवलदर्शन और केवलज्ञान युगपद् होते हैं। उमास्वाति का कथन है कि मति, श्रुत आदि में उपयोग क्रम से होता है, युगपद् नहीं। केवली में दर्शन और ज्ञानात्मक उपयोग प्रत्येक क्षण

१—'सव्वस्स केवलिस्स वि जुगवं दो नत्थि उवओगा', ९७३

२—भगवतीसूत्र, १८।८

में युगपद् होता है[1]। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्टरूप से इसका समर्थन किया है। वे कहते हैं–'जिस प्रकार सूर्य में प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं उसी प्रकार केवली में दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं[2]।' सर्वार्थसिद्धिकार भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं— 'ज्ञान साकार है, दर्शन अनाकार है। छद्मस्थ में वे क्रमशः होते हैं, केवली में युगपद् होते हैं[3]।' इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के सभी आचार्यों ने केवलदर्शन और केवलज्ञान की उत्पत्ति युगपद् मानी। जहाँ तक छद्मस्थ के दर्शन और ज्ञान का प्रश्न है, श्वेताम्बर परम्परा और दिगम्बर परम्परा दोनों एकमत हैं।

तीसरी परम्परा सिद्धसेन दिवाकर की है। वे कहते हैं कि मनः-पर्यय तक तो ज्ञान और दर्शन का भेद सिद्ध कर सकते हैं, किन्तु केवल-ज्ञान और केवलदर्शन का भेद सिद्ध करना सम्भव नहीं[4]। दर्शनावरण और ज्ञानावरण का युगपद् क्षय होता है। उस क्षय से होने वाले उपयोग में 'यह पहले होता है और यह बाद में होता है' इस प्रकार का भेद कैसे किया जा सकता है[5]। जिस समय कैवल्य की प्राप्ति होती है उस समय सर्व प्रथम मोहनीय का क्षय होता है, तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का युगपद् क्षय होता है। जब दर्शनावरण

१—मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति न युगपद्। सम्भिन्न-ज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपद्...........भवति।

—तत्त्वार्थसूत्रभाष्य १।३१

२—जुगवं वट्टइ नाणं,केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासताप जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥

—नियमसार, १५९

३—सर्वार्थसिद्धि २।९

४—मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो।
केवलणाणं पुण दंसणंति णाणं ति य समाणं ॥

—सन्मतितर्क प्रकरण २।३

५—वही २।९

और ज्ञानावरण दोनों के क्षय में काल का भेद नहीं है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि पहले केवलदर्शन होता है, फिर केवलज्ञान होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कोई यह माने कि दोनों का युगपद् सद्भाव है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते। इस कठिनाई को दूर करने का सबसे सरल एवं युक्तिसंगत मार्ग यही है कि केवली अवस्था में दर्शन और ज्ञान में भेद नहीं होता। दर्शन और ज्ञान को भिन्न मानने में एक कठिनाई और है। यदि केवली एक ही क्षण में सब कुछ जान लेता है तो उसे हमेशा के लिए सब कुछ जानते रहना चाहिए। यदि उसका ज्ञान हमेशा पूर्ण नहीं है तो वह सर्वज्ञ किस बात का[1] ? यदि उसका ज्ञान सदैव पूर्ण है तो क्रम और अक्रम का प्रश्न ही नहीं उठता। वह हमेशा एक रूप है। वहाँ दर्शन और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं। 'ज्ञान सविकल्पक है और दर्शन निर्विकल्पक है'—इस प्रकार का भेद आवरणरूप कर्म के क्षय के बाद नहीं रहता[2]। सविकल्पक और निर्विकल्पक का भेद वहीं होता है जहाँ उपयोग में अपूर्णता होती है। पूर्ण उपयोग में किसी तरह का भेद-भाव नहीं रहता। एक कठिनाई और है। ज्ञान हमेशा दर्शनपूर्वक होता है, किन्तु दर्शन ज्ञानपूर्वक नहीं होता[3]। केवली को जब एक बार सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है तब पुनः दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि दर्शन ज्ञानपूर्वक नहीं होता। इसलिए ज्ञान और दर्शन का क्रमभाव नहीं घट सकता।

१—जइ सव्वं सायारं, जाणइ एक्कसमएण सव्वण्णू।
जुज्जइ सया वि एवं अहवा सव्वं ण याणाइ ॥
—सन्मतितर्क प्रकरण २।१०

२—परिसुद्धं सायारं, अवियत्तं दंसणं अणायारं।
ण य रवीणावरणिज्जे, जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं ॥
—वही २।११

३—दंसणपुव्वं णाणं णाणणिमित्तं तु दंसणं णत्थि।
तेण सुविणिच्छियामो, दंसणणाणा अण्णत्तं ॥
—वही २।२२

ज्ञान और दर्शन की इस चर्चा के साथ आगम-प्रतिपादित पंच ज्ञान की स्वरूप-चर्चा समाप्त होती है। ज्ञान से सम्बन्धित एक और विषय है और वह है प्रमाण। कौन सा ज्ञान प्रमाण है और कौन सा अप्रमाण? प्रामाण्य का आधार क्या है? प्रमाण का क्या फल है? आदि प्रश्नों का प्रमाण-चर्चा के समय विचार किया जायगा।

आगमों में प्रमाणचर्चा :

प्रमाणचर्चा केवल तर्कयुग की देन नहीं है। आगमयुग में भी प्रमाण विषयक चर्चा होती थी। आगमों में कई स्थलों पर स्वतन्त्ररूप से प्रमाण-चर्चा मिलती है। ज्ञान और प्रमाण दोनों पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन होता था, ऐसा कहने के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण हैं।

भगवतीसूत्र में महावीर और गौतम के बीच एक संवाद है। गौतम महावीर से पूछते हैं—'भगवन्! जैसे केवली अन्तिम शरीरी (जो इसी भव से मुक्त होने वाला हो) को जानते हैं वैसे ही क्या छद्मस्थ भी जानते हैं?' महावीर उत्तर देते हैं—'गौतम! वे अपने-आप नहीं जान सकते। या तो सुनकर जानते हैं या प्रमाण से। किससे सुनकर? केवली से ....। किस प्रमाण से? प्रमाण चार प्रकार के कहे गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। इनके विषय में जैसा अनुयोगद्वार में वर्णन है वैसा यहाँ भी समझना चाहिए[1]।'

स्थानांग सूत्र में प्रमाण और हेतु दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। निक्षेप पद्धति के अनुसार प्रमाण के निम्न भेद किए गए हैं—द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण[2]। हेतु शब्द का जहाँ

१—गोयमा! णो तिणठ्ठे समट्ठे। सोच्चा जाणति पासति, पमाणतो वा··················से किं तं पमाणे? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते-तं जहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे, जहा अणुओगद्दारे··· —भग० ५।४।१९१-१९२

२—'चउव्विहे पमाणे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वप्पमाणे, खेत्तप्पमाणे, कालप्पमाणे, भावप्पमाणे,' ३२१

प्रयोग है वहाँ भी चार भेद मिलते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और आगम[1]। कहीं-कहीं पर प्रमाण के तीन भेद भी मिलते हैं। स्थानांगसूत्र में व्यवसाय को तीन प्रकार का कहा है–प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और आनुगामिक[2]। व्यवसाय का अर्थ होता है निश्चय। निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रमाण के कितने भेद होते हैं, इस विषय में अनेक परम्पराएँ प्रचलित रही हैं। आगमों में जो विवरण मिलता है वह तीन और चार भेदों का निर्देश करता है। सांख्य प्रमाण के तीन भेद मानते आए हैं। नैयायिकों ने चार भेद माने हैं। ये दोनों परम्पराएँ स्थानांगसूत्र में मिलती हैं। अनुयोगद्वार में प्रमाण के भेदों का किस प्रकार वर्णन है ? संक्षेप में देखने का प्रयत्न किया जाएगा।

प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष।

इन्द्रियप्रत्यक्ष के पाँच भेद हैं—श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष, चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष जिव्हेन्द्रियप्रत्यक्ष और स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्ष।

नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के तीन प्रकार हैं—अवधिप्रत्यक्ष, मनःपर्ययप्रत्यक्ष और केवलप्रत्यक्ष।

मानसप्रत्यक्ष को अलग नहीं गिनाया गया है। सम्भवतः उसका पाँचों इन्द्रियों में समावेश कर लिया गया है। आगे के दार्शनिकों ने इसे स्वतन्त्र स्थान दिया है।

१—अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे, ३३८

२—'तिविहे ववसाए पण्णत्ते, तं जहा पच्चक्खे, पच्चइए, अणुगामिए' १८५

'व्यवसायो निश्चयः स च प्रत्यक्ष अवधिमनःपर्ययकेवलाख्यः, प्रत्ययात् इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणात् निमित्ताज्जातः प्रात्ययिकः साध्यमग्न्यादिकमनुगच्छति–साध्याभावे न भवति योधूमादिहेतुः सोऽनुगामी ततो जातम् आनुगमिकम्—अनुमानम्, तद्‌योव्यवसाय–आनुगामिक एवेति। अथवा प्रत्यक्षः स्वयंदर्शनलक्षणः प्रात्ययिक आप्तवचनप्रभवः, तृतीयस्तथैवेति'।

—अभयदेवकृत व्याख्या

अनुमान—अनुमान प्रमाण के तीन भेद किए गए हैं—पूर्ववत्, शेषवत्, और दृष्टसाधर्म्यवत् । न्याय, बौद्ध और सांख्यदर्शन में भी अनुमान के ये ही तीन भेद बताये गये हैं । उनके यहाँ अन्तिम भेद का नाम दृष्टसाधर्म्यवत् न होकर सामान्यतोदृष्ट है[1] ।

पूर्ववत्—पूर्वपरिचित लिंग (हेतु) द्वारा पूर्व परिचित पदार्थ का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है । एक माता अपने पुत्र को बाल्यावस्था के समय देखती है । पुत्र कहीं बाहर चला जाता है । कुछ वर्षों के बाद वह युवावस्था में प्रविष्ट हो जाता है । जब वह वापिस घर आता है तो पहले माता उसे नहीं पहचान पाती है । थोड़ी देर बाद उसके शरीर पर कोई ऐसा चिन्ह देखती है जो बाल्यावस्था में भी था । यह देखते ही वह तुरन्त जान जाती है कि यह मेरा ही पुत्र है । यह पूर्ववत् अनुमान का उदाहरण है[2] ।

शेषवत्—शेषवत् अनुमान पाँच प्रकार का है—कार्य से कारण का अनुमान, कारण से कार्य का अनुमान, गुण से गुणी का अनुमान, अवयव से अवयवी का अनुमान और आश्रित से आश्रय का अनुमान ।

शब्द से शंख का, ताडन से भेरी का, ढक्कित से वृषभ का, केकायित से मयूर का, हेषित से अश्व का, गुलगुलायित से गज का, घणघणायित से रथ का अनुमान कार्य से कारण का अनुमान है ।

तन्तु से ही पट होता है, पट से तन्तु नहीं, मृत्पिण्ड से ही घट बनता है, घट से मृत्पिण्ड नहीं इत्यादि कारणों से कार्य-व्यवस्था करना कारण से कार्य का अनुमान है ।

१—न्यायसूत्र १।१।५, उपायहृदय पृ० १३, सांख्यकारिका ५–६

२—माया पुत्तं जहा नट्ठं जुवाणं पुणरागयं ।
काई पच्चभिजाणेज्जा, पुव्वलिंगेण केणई ।
तं जहा—खत्तेणवा वण्णेण वा लंछणेण वा मसेण वा तिलएण वा ।
—अनुयोगद्वार सूत्र, प्रमाण प्रकरण

निकष से सुवर्ण का, गन्ध से पुष्प का, रस से लवण का, आस्वाद से मदिरा का, स्पर्श से वस्त्र का अनुमान गुण से गुणी का अनुमान है।

सींग से भैंसे का, शिखा से कुक्कुट का, दांत से हाथी का, दाढ़ से वराह का, पिच्छ से मयूर का, खुर से घोड़े का, नख से व्याघ्र का, केश से चमरी गाय का, पूँछ से बन्दर का, दो पैर से मनुष्य का, चार पैर से पशु का, बहुत पैर से गोजर आदि का, केसर से सिंह का, ककुभ से वृषभ का, वलयवाली भुजा से महिला का, परिकरबन्ध से योद्धा का, अधोवस्त्र-लँहगे से नारी का अनुमान अवयव से अवयवी का अनुमान है।

धूम से वन्हि का, बलाका से पानी का, अभ्रविकास से वृष्टि का, शीलसमाचार से कुलपुत्र का अनुमान आश्रित से आश्रय का अनुमान है।

ये पाँच भेद अपूर्ण मालूम होते हैं। कारण और कार्य को लेकर दो भेद कर दिए किन्तु गुण और गुणी, अवयव और अवयवी तथा आश्रित आश्रय के दो दो भेद नहीं किए। जब कारण से कार्य का अनुमान कर सकते हैं तो गुणी से गुण, अवयवी से अवयव और आश्रय से आश्रित का अनुमान भी हो सकता है। सूत्रकार ने किस सिद्धान्त के आधार पर पाँच भेद किए, यह नहीं कहा जा सकता।

दृष्ट साधर्म्यवत्--इसके दो भेद हैं–सामान्य दृष्ट और विशेष दृष्ट। किसी एक वस्तु के दर्शन से सजातीय सभी वस्तुओं का ज्ञान करना अथवा जाति के ज्ञान से किसी विशेष पदार्थ का ज्ञान करना, सामान्य-दृष्ट अनुमान है। एक पुरुष को देखकर पुरुषजातीय सभी व्यक्तियों का ज्ञान करना अथवा पुरुषजाति के ज्ञान से पुरुषविशेष का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमान का दृष्टान्त है।

अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को पृथक् करके उसका ज्ञान करना विशेषदृष्ट अनुमान है। अनेक पुरुषों में खड़े हुए विशेष पुरुष को पहचानना कि 'यह वही पुरुष है जिसे मैंने अमुक स्थान पर देखा था' विशेषदृष्ट दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान का उदाहरण है।

सामान्यदृष्ट उपमान के समान लगता है और विशेषदृष्ट प्रत्यभिज्ञान भिन्न प्रतीत नहीं होता।

काल की दृष्टि से भी अनुमान तीन प्रकार का होता है। अनुयोगद्वार में इन तीनों प्रकारों का वर्णन है :—

१—अतीतकालग्रहण–तृणयुक्तवन, निष्पन्नशस्यवाली पृथ्वी, जल से भरे हुए कुण्ड-सर-नदी-तालाव आदि देखकर यह अनुमान करना कि अच्छी वर्षा हुई है, अतीतकालग्रहण है।

२—प्रत्युत्पन्नकालग्रहण–भिक्षाचर्या के समय प्रचुर मात्रा में भिक्षा प्राप्त होती देखकर यह अनुमान करना कि सुभिक्ष है, प्रत्युत्पन्नकाल-ग्रहण है।

३—अनागतकालग्रहण–मेघों की निर्मलता, काले-काले पहाड़, विद्युतयुक्त बादल, मेघगर्जन, वातोद्भ्रम, रक्त और स्निग्ध सन्ध्या, आदि देखकर यह सिद्ध करना कि खूब वर्षा होगी, अनागतकाल-ग्रहण है।

इन तीनों लक्षणों की विपरीत प्रतीति से विपरीत अनुमान किया जा सकता है। सूखे वनों को देखकर कुवृष्टि का, भिक्षा की प्राप्ति न होने पर दुर्भिक्ष का और खाली बादल देखकर वर्षा के अभाव का अनुमान करना विपरीत प्रतीति के उदाहरण हैं।

अनुमान के अवयव–मूल आगमों में अवयव की चर्चा नहीं है। अवयव का अर्थ होता है दूसरों को समझाने के लिए जो अनुमान का प्रयोग किया जाता है उसके हिस्से। किस ढंग से अनुमान का प्रयोग करना चाहिए? उसके लिए किस ढंग से वाक्यों की संगति बैठानी चाहिए? अधिक से अधिक कितने वाक्य होने चाहिए? कम से कम कितने वाक्यों का प्रयोग होना चाहिए? इत्यादि बातों का विचार अवयव-चर्चा में किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने दशवैकालिक-निर्युक्ति में अवयवों की चर्चा की है। उन्होंने दो से लगाकर दस अवयवों तक के प्रयोग का समर्थन किया है[1]। दस अवयवों को भी उन्होंने दो

१—'कत्थइ पंचावयवं दसहा वा सव्वहा ण पडिकुट्ठंति।

—दशवैकालिकनिर्युक्ति, ५०

प्रकार से गिनाए हैं[२]। दो अवयवों की गणना में उदाहरण का नाम है, हेतु का नहीं। भद्रबाहु ने कितने अवयव माने हैं और वे कौन कौन से हैं, इसकी गणना इस प्रकार है:—

दो—प्रतिज्ञा, उदाहरण

तीन—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण

पाँच—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार, निगमन

(१) दस—प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविशुद्धि, हेतु, हेतुविशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्तविशुद्धि, उपसंहार, उपसंहारविशुद्धि, निगमन, निगमनविशुद्धि

(२) दस—प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, तत्प्रतिषेध, निगमन।

दो, तीन और पाँच अवयवों के नाम वही हैं जिनका अन्य दार्शनिकों ने उल्लेख किया है। दस अवयवों के नामों का भद्रबाहु ने स्वतन्त्र निर्माण किया है।

उपमान—उपमान दो प्रकार का है—साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत।

साधर्म्योपनीत के तीन भेद हैं-किंचित्साधर्म्योपनीत, प्रायःसाधर्म्योपनीत और सर्वसाधर्म्योपनीत।

किंचित् साधर्म्योपनीत—जैसा मन्दर है वैसा सर्षप है, जैसा सर्षप है वैसा मन्दर है। जैसा समुद्र है वैसा गोष्पद है, जैसा गोष्पद है वैसा समुद्र है। जैसा आदित्य है वैसा खद्योत है, जैसा खद्योत है वैसा आदित्य है। जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, जैसा कुमुद है वैसा चन्द्र है। ये उदाहरण किंचित्साधर्म्योपनीत उपमान के हैं। मन्दर और सर्षप का थोड़ा सा साधर्म्य है। इसी प्रकार आदित्य और खद्योत आदि का समझ लेना चाहिए।

१—दशवैकालिकनिर्युक्ति, ९२

२—'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः'।

—न्यायसूत्र १।१।३२

गणधरों के शिष्यों के लिए अर्थरूप आगम परम्परागम है, क्योंकि उन्हें अर्थ का साक्षात् उपदेश नहीं दिया जाता अपितु परम्परा से प्राप्त होता है। अर्थागम तीर्थंकर से गणधरों के पास जाता है और गणधरों से उनके शिष्यों के पास आता है। सूत्ररूप आगम गणधर-शिष्यों के लिए अनन्तरागम है, क्योंकि सूत्रों का उपदेश उन्हें साक्षात् गणधरों से मिलता है। गणधर-शिष्यों के बाद में होने वाले आचार्यों के लिए अर्थागम और सूत्रागम दोनों परम्परागम हैं।

इस विवेचन के आधार पर सहज ही इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि जैन आगमों मे प्रमाणशास्त्र पर प्रचुर मात्रा में सामग्री बिखरी पड़ी है। जिस प्रकार ज्ञान का विवेचन करने में आगम पीछे नहीं रहे हैं उसी प्रकार प्रमाण की चर्चा में भी पीछे नहीं हैं। ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय में आगमों में अच्छी सामग्री है। यह ठीक है कि बाद में होने वाले दर्शन के आचार्यों ने इसका जिस ढंग से तर्क के आधार पर विचार किया है—पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में जिन युक्तियों का आधार लिया है और जैन प्रमाणशास्त्र की नींव को सुदृढ़ बनाने का सफल प्रयत्न किया है वैसा प्रयत्न आगमों में नहीं मिलता; किन्तु मूलरूप में यह विषय उनमें अवश्य है।

तर्कयुग में ज्ञान और प्रमाण :

उमास्वाति ने ज्ञान और प्रमाण में किसी प्रकार का भेद नहीं रखा। उन्होंने पहले पाँच ज्ञानों के नाम गिनाए और फिर कह दिया कि ये पाँचों ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाण का अलग लक्षण बताकर, फिर ज्ञान में उस लक्षण को घटा कर, ज्ञान और प्रमाण का अभेद सिद्ध करने के वजाय, ज्ञान को ही प्रमाण कह दिया। प्रामाण्य-अप्रामाण्य का अलग विचार न करके ज्ञान के स्वरूप के साथ ही उनका स्वरूप समझ लेने का संकेत कर दिया।

वाद में होने वाले तार्किकों ने इस पद्धति में परिवर्तन कर दिया। उन्होंने प्रमाण की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या करना प्रारम्भ किया। उनका लक्ष्य प्रामाण्य-अप्रामाण्य की ओर अधिक रहा। मात्र ज्ञानों के नाम गिनाकर और उनको प्रमाण का नाम देकर ही वे सन्तुष्ट न हुए।

अपितु प्रमाण का अन्य दार्शनिकों की तरह स्वतन्त्र विवेचन किया। उसकी उत्पत्ति और ज्ञप्ति पर भी विशेष भार दिया। ज्ञान को प्रमाण मानते हुए भी कोन सा ज्ञान प्रमाण हो सकता है, इसकी विशद चर्चा की। इस चर्चा के बाद में इस निर्णय पर पहुँचे कि ज्ञान और प्रमाण कथंचिद् अभिन्न हैं।

प्रमाण क्या है ? इस प्रश्न को हस्तगत करने के लिए एक दो आचार्यों का आधार लें। माणिक्यनन्दी प्रमाण का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि वही ज्ञान प्रमाण है जो स्व का और अपूर्व अर्थ का निर्णय करता है[1]। ज्ञान अपने को भी जानता है और बाह्य अर्थ को भी जानता है। ज्ञानरूप प्रमाण के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने को भी जाने और अर्थ को भी जाने। अर्थज्ञान में भी पिष्टपेषण न हो, अपितु कुछ नवीनता हो। इसलिए अर्थ के पहले 'अपूर्व' विशेषण है। ज्ञान ही प्रमाण क्यों है ? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि ज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि इष्ट वस्तु का ग्रहण और अनिष्ट वस्तु का त्याग ज्ञान के कारण ही हो सकता है[2]। ग्रहण और त्याग रूप क्रियाएँ ज्ञान के अभाव में नहीं घट सकतीं। अतः ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है।

वादिदेवसूरि ने प्रमाण का लक्षण यों बताया—'स्व और पर का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है[3]।' इन्होंने अपूर्व विशेषण हटा दिया। अपूर्व अर्थ का हो या पूर्व अर्थ का हो-कैसा भी ज्ञान हो, यदि वह निश्चयात्मक है तो प्रमाण है। ज्ञान ही यह बता सकता है कि क्या अभीप्सित है और क्या अनभीप्सित है, अतः वही प्रमाण है[4]।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में लिखा—अर्थ का सम्यक

१—परीक्षामुख १।२

२—वही १।२

३—'स्वपरव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक १।२

४—वही १।३

निर्णय प्रमाण है[1]। यहाँ पर 'स्व और पर' ऐसा प्रयोग नहीं है। अर्थ का निर्णय स्वनिर्णय के अभाव में नहीं हो सकता, अतः अर्थनिर्णय का अविनाभावी स्वनिर्णय स्वतः सिद्ध है। जब स्वनिर्णय होता है तभी अर्थनिर्णय होता है। हेमचन्द्र ने इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए 'स्वनिर्णय' विशेषण का प्रयोग नहीं किया।

प्रमाण के उपर्युक्त लक्षणों को देखने से यह मालूम होता है कि ज्ञान और प्रमाण में अभेद है। ज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान है, न कि मिथ्याज्ञान। ज्ञान जब किसी पदार्थ का ग्रहण करता है तो स्वप्रकाशक होकर ही। जैन दर्शन में ज्ञान को स्वपरप्रकाशक माना गया है। ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि वह स्वयं प्रकाशित होकर ही अर्थ का प्रकाश करता है। जो स्वयं अप्रकाशित होता है वह दूसरे को प्रकाशित नहीं कर सकता। दीपक जब उत्पन्न होता है तो घटादि पदार्थों को प्रकाशित करने के साथ-ही-साथ अपने को भी प्रकाशित करता है। उसको प्रकाशित करने के लिए किसी दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं रहती। वह प्रकाशरूप उत्पन्न होकर ही दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार ज्ञान भी प्रकाशरूप है, जो स्वप्रकाश के साथ अर्थ को प्रकाशित करता है। इसीलिए ज्ञान को स्वपरप्रकाशक कहा गया है। जैनदर्शन में निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण माना गया है। निश्चयात्मक का अर्थ है सविकल्पक। वही ज्ञान प्रमाण हो सकता है, जो निश्चयात्मक हो—व्यवसायात्मक हो—निर्णयात्मक हो—सविकल्पक हो। न्यायबिन्दु में निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है। वहाँ कल्पनापोढ़[2] शब्द है जिसका अर्थ है कल्पना अर्थात् विकल्प से रहित। जैनदर्शन इस सिद्धान्त का खण्डन करता है। वह कहता है कि जो निर्विकल्पक होता है वह प्रमाण-अप्रमाण कुछ नहीं होता। दूसरे शब्दों में ज्ञान निर्विकल्पक हो ही नहीं सकता। जहाँ विकल्प अर्थात् निश्चय या निर्णय होता है वहीं ज्ञान होता है। ज्ञान भी हो और विकल्प भी न हो,

१—'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।'

—प्रमाणमीमांसा १।१।२

२—न्यायबिन्दु का प्रथम प्रकरण।

यह कैसे हो सकता है ? निर्विकल्पक उपयोग तो दर्शनमात्र है। ज्ञान उसके बाद का उपयोग है। ऐसी स्थिति में ज्ञान निर्विकल्पक कैसे हो सकता है। प्रमाण और अप्रमाण का निर्णय करने के लिए निश्चयात्मक उपयोग होना आवश्यक है।

ज्ञान का प्रामाण्य :

सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण होता है, यह हमने देख लिया। कौन सा ज्ञान सम्यक् है और कौन सा मिथ्या ? इसका निर्णय करना अभी बाकी है। दूसरे शब्दों में ज्ञान को जिसके कारण प्रमाण कहा जाता है वह प्रामाण्य क्या है ? प्रामाण्य की कसौटी क्या है जिसके आधार पर हम यह निर्णय कर सकें कि अमुक ज्ञान तो प्रमाण है और अमुक ज्ञान अप्रमाण। प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निर्णय कैसे हो ? जैन तार्किक कहते हैं कि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय या तो स्वतः होता है या परतः ? किसी परिस्थिति में ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः निश्चित हो जाता है। किसी परिस्थिति में प्रामाण्य-निश्चय के लिए दूसरे साधनों का सहारा लेना पड़ता है। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी हैं। मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान प्रमाणरूप ही उत्पन्न होता है। उसमें जो अप्रामाण्य आता है वह बाह्य दोष के कारण है। ज्ञान के प्रामाण्यनिश्चय के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं। प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है और ज्ञात होता है। प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः है। इसे स्वतःप्रामाण्यवाद कहते हैं। नैयायिक स्वतःप्रामाण्यवाद को नहीं मानते। वे कहते है कि ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण, इसका निर्णय किसी बाह्य पदार्थ के आधार पर ही किया जा सकता है। जो ज्ञान यथार्थ अर्थात् अर्थ से अव्यभिचारी होता है वह प्रमाण है। जो ज्ञान अर्थाव्यभिचारी नहीं होता वह अप्रमाण है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की कसौटी बाह्य वस्तु है। ज्ञान स्वतः न तो प्रमाण है और न अप्रमाण। प्रमाण

१—'प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा'।

—प्रमाणमीमांसा १।१।८

और अप्रमाण का निर्णय तभी होता है जब वह वस्तु से मिलाया जाता है। जैसी वस्तु है वैसा ही ज्ञान होता है तो उसे हम प्रमाण कहते हैं। विपरीत ज्ञान होता है तो उसे हम अप्रमाण कहते हैं। नैयायिकों का यह सिद्धान्त परतःप्रामाण्यवाद है। इसमें प्रामाण्य का निश्चय स्वतः न होकर परतः होता है। सांख्यदर्शन की मान्यता का भी उल्लेख कर देना चाहिए। सांख्यों की मान्यता है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो स्वतः हैं। अमुकज्ञान प्रमाण है या अमुक ज्ञान अप्रमाण है, ये दोनों निर्णय स्वतः होते हैं। यह मान्यता नैयायिकों से बिल्कुल विपरीत है। अस्तु, नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः मानते हैं, जब कि सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः मानते हैं। जैनदर्शन इन तीनों से भिन्न सिद्धान्त की स्थापना करता है। प्रामाण्यनिश्चय के लिए स्वतःप्रामाण्यवाद और परतःप्रामाण्यवाद दोनों की आवश्यकता है। स्वतःप्रामाण्यवाद के उदाहरण देखिए—एक व्यक्ति अपनी हथेली हमेशा देखता है। वह उससे खूब परिचित है। उस व्यक्ति के हथेली-विषयक ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है। हथेली को देखते ही वह व्यक्ति निश्चय कर लेता है कि यह मेरी ही हथेली है। दूसरा उदाहरण पानी का है। एक व्यक्ति को प्यास लगी है। वह पानी पीता है और तुरन्त प्यास बुझ जाती है। प्यास बुझते ही वह समझ लेता है कि मैंने पानी ही पिया। वह पानी था या नहीं, इसका निश्चय करने के लिए उसे दूसरी वस्तु का सहारा नहीं लेना पड़ता। कई बार ऐसे अवसर आते हैं जब व्यक्ति अपने आप अपने ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नहीं कर पाता। उसे किसी बाह्‌य वस्तु का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरण के लिए एक कमरे में छोटा सा छेद है। उससे थोड़ा सा प्रकाश बाहर निकल रहा है। वह प्रकाश दीपक का है या मणि का इसका निर्णय नहीं हो रहा है। इसके निर्णय के लिए कमरा खोला जाता है। दीपक की बत्ती दिखाई देती है। तेल का प्रत्यक्ष होता है। इन सब चीजों को देख कर यह निश्चय हो जाता है कि मेरा दीपक-विषयक ज्ञान तो सच्चा है और मणिविषयक ज्ञान झूठा। दीपक-विषयक ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है और मणि-विषयक ज्ञान के अप्रामाण्य का।

इस निश्चय के लिए बत्ती, तेल आदि का आधार लेना पड़ा। दूसरा उदाहरण लीजिए। एक जगह सफेद ढेर लगा हुआ है। हमें ऐसी प्रतीति हो रही है कि यह शक्कर है, किन्तु इसका निश्चय कैसे हो कि यह शक्कर ही है। उसमें से थोड़ी सी मात्रा उठा कर मुँह में डाल ली। मुँह मीठा हो गया। तुरन्त निश्चय हो गया कि यह शक्कर है। इस निर्णय के लिए पदार्थ के कार्य या परिणाम की प्रतीक्षा करनी पड़ी। स्वतः निर्णय न हो सका। यदि वही ढेर पहले देखा हुआ होता तो तुरन्त निर्णय हो जाता कि यह शक्कर का ढेर है। उस अवस्था में होने वाला ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः होता। आगे के परिणाम की प्रतीक्षा करने पर होने वाला प्रामाण्य-निश्चय परतःप्रामाण्यवाद के अन्तर्गत है। जैन दर्शन स्वतः प्रामाण्यवाद और परतःप्रामाण्यवाद दोनों का भिन्न-भिन्न दृष्टि से समर्थन करता है। अभ्यासावस्था आदि में होने वाला निश्चय स्वतःप्रामाण्यवाद का साक्षी है। किसी अन्य आधार पर होने वाला प्रामाण्य-निश्चय परतःप्रामाण्यवाद का समर्थक है।

प्रमाण का फल :

प्रमाण के भेद-प्रभेद की चर्चा करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि प्रमाण का फल क्या है? प्रमाण की चर्चा क्यों की जाय? प्रमाण-चर्चा से क्या लाभ है? प्रमाण का प्रयोजन क्या है? प्रमाण का मुख्य प्रयोजन अर्थप्रकाश है।[1] अर्थ का ठीक-ठीक स्वरूप समझने के लिए प्रमाण का ज्ञान आवश्यक है। प्रमाण-अप्रमाण के विवेक के बिना अर्थ के यथार्थ—अयथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी बात को दूसरी तरह से यों कह सकते हैं—प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान का नाश है। केवलज्ञान के लिए उसका फल सुख और उपेक्षा है। शेष ज्ञानों के लिए ग्रहण और त्यागबुद्धि है।[2]

१—'फलमर्थप्रकाशः'

—वही १।१।३४

२—प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्त्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्षे, शेषस्यादानहानधीः॥

—न्यायावतार २८

सामान्य दृष्टि से प्रमाण का फल यही है कि अज्ञान नहीं रहने पाता। जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार का सर्वनाश हो जाता है उसी प्रकार प्रमाण से अज्ञान का विनाश होता है। यह साधारण फल है। इस अज्ञान-नाश का किसके लिए क्या फल है, इसे बताने के लिए कहा गया है कि जिसे केवलज्ञान होता है उसके लिए अज्ञाननाश का यही फल है कि उसे आत्म-सुख प्राप्त होता है और जगत् के पदार्थों के प्रति उसका उपेक्षाभाव रहता है। दूसरे लोगों के लिए अज्ञान-नाश का फल ग्रहण और त्यागरूप बुद्धि का उत्पन्न होना है। अमुक वस्तु निर्दोष है अतः इसका ग्रहण करना चाहिए। अमुक वस्तु सदोष है अतः इसका त्याग करना चाहिए। इस प्रकार का विवेक अज्ञान के विनाश से जाग्रत् होता है। यही विवेक सत्कार्य में प्रवृत्ति करने की प्रेरणा देता है, असत्कार्य से दूर हटने का बोध कराता है। प्रमाण का यह फल ज्ञान से भिन्न नहीं है। पूर्वकालभावी ज्ञान उत्तर-कालभावी ज्ञान के लिए प्रमाण है और उत्तरकालभावी ज्ञान पूर्वकालभावी ज्ञान का फल है। यह परम्परा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

प्रमाण के भेद :

ज्ञान का विवेचन करते समय हमने यह देखा है कि जैन दर्शन मुख्यरूप से ज्ञान के दो भेद मानता है–प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष सीधा आत्मा से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है और परोक्ष इन्द्रियादि करणों की सहायता से पैदा होता है। जैनतार्किकों ने इसी आधार पर प्रमाण के भी दो भेद किए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष[1]। बौद्धों ने प्रमाण के जो दो भेद किए हैं उनसे ये भिन्न हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद न करके बौद्ध तार्किकों ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो भेद किए हैं[2]। जैनदर्शन के अनुसार अनुमान परोक्ष का

१—'प्रमाणं द्विधा।
प्रत्यक्षं परोक्षं च।'
—प्रमाणमीमांसा १।१।९–१०

२—'प्रत्यक्षमनुमानं च।'
—न्यायबिन्दु १।३

एक भेद है। इसलिए बौद्धदर्शन का प्रमाण-विभाजन अपूर्ण है। चार्वाक दर्शन केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा गया है कि केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष के आधार पर हमारा ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। 'यह प्रमाण है, यह प्रमाण नहीं है' यह व्यवस्था अनुमान के अभाव में नहीं हो सकती। 'अमुक व्यक्ति अमुक प्रकार की भाषा का प्रयोग कर रहा है, अमुक प्रकार की उसकी चेष्टाएँ हैं अतः उसके मन में इस समय यह भावना काम कर रही है'—इस प्रकार की दूसरे की चेष्टा का ज्ञान करना प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं। 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानादि परोक्ष नहीं'— इस प्रकार का निषेध भी प्रत्यक्ष के आधार पर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार बिना अनुमान के न तो कोई व्यवस्था हो सकती है, न दूसरे का अभिप्राय जाना जा सकता है, न स्वपक्ष की सिद्धि अथवा परपक्ष का निषेध ही हो सकता है[1]। इन्हीं सब कठिनाइयों को सामने रखते हुए जैन दार्शनिक अनुमानादि परोक्ष प्रमाण को भी मान्यता देते हैं तथा जो लोग केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं उनकी मान्यता का विरोध करते हैं।

जो ज्ञान यथार्थ होता है अर्थात् अर्थ के अनुकूल होता है वही ज्ञान प्रमाण माना जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सब के लिए यह सिद्धान्त समानरूप से महत्वपूर्ण है। द्विचन्द्रज्ञान प्रत्यक्ष होते हुए भी प्रमाण नहीं है क्योंकि वह ज्ञान यथार्थ नहीं है। उसका विषय चन्द्र तो एक है किन्तु ज्ञान में दो चन्द्रों का प्रतिभास होता है। ज्ञान और अर्थ में अनुकूलता नहीं है। अतः यह ज्ञान मिथ्या है। इसी प्रकार अनुमानादिजन्य ज्ञान भी मिथ्या हो सकता है। जिस प्रकार एक प्रत्यक्ष ज्ञान के मिथ्या होने से सारे प्रत्यक्षज्ञान मिथ्या नहीं हो जाते उसी प्रकार अनुमानादि में एक जगह व्यभिचार होने से सारे ज्ञान व्यभिचारी नहीं हो जाते। प्रत्यक्ष की तरह अर्थानुकूल उत्पन्न

१—'व्यवस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिः।

—प्रमाणमीमांसा १।१।११

होने से अनुमानादि अव्यभिचारी हैं। यदि कहीं कहीं प्रत्यक्ष में दोष या व्यभिचार आ सकता है तो अनुमानादि में भी वैसी संभावना हो सकती है। ऐसी स्थिति में एक को प्रमाण मानना और दूसरे को अप्रमाण मानना युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता। जिस यथार्थता के कारण प्रत्यक्ष में प्रमाणता की स्थापना की जा सकती है उसी यथार्थता को दृष्टि में रखते हुए अनुमानादि को भी प्रमाण कहा जा सकता है।

वैशेषिक और सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। नैयायिक चार प्रमाण स्वीकृत करते हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान। प्राभाकर पाँच प्रमाण मानते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति। भाट्ट इससे भी आगे बढ़ते हैं। वे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव–ये छः प्रमाण मानते हैं। जैन-दर्शन-सम्मत दोनों प्रमाणों में ये सब प्रमाण समा जाते हैं। प्रत्यक्ष को अन्य दर्शनों की तरह जैनदर्शन भी प्रमाण मानता है। अनुमान जैनदर्शन-सम्मत परोक्ष का एक भेद है। आगम भी परोक्ष का ही एक प्रकार है। उपमान भी परोक्ष प्रमाणान्तर्गत है। अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं। अभाव प्रत्यक्ष का ही एक अंश है। वस्तु भाव और अभाव उभयात्मक हैं। दोनों का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही होता है। जहाँ हम किसी के भावांश का ग्रहण करते हैं वहाँ उसके अभावांश का भी अभाव रूप से ग्रहण हो ही जाता है अन्यथा अभावांश का भी भावरूप से ग्रहण होता। वस्तु भाव और अभाव—इन दो रूपों को छोड़कर तीसरे रूप में नहीं मिलती। एक वस्तु जिस दृष्टि से भावरूप है तदितर दृष्टि से अभावरूप है। जब भावरूप का ग्रहण होता है तब अभावरूप का भी ग्रहण होता है। दोनों प्रत्यक्षग्राह्य हैं। ऐसी स्थिति में अभावग्राहक भिन्न प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती। अभाव की दूसरी तरह से परीक्षा करें। 'इस भूमि पर घट नहीं है' यह अभाव का उदाहरण है। यहाँ अभाव प्रमाण घटाभाव का ग्रहण करता है। यह घटाभाव क्या है? यदि हम इसका विचार करें तो मालूम होगा कि यह घटाभाव शुद्ध भूतल के अतिरिक्त कुछ

नहीं है। जिस भूतल पर पहले हमने घट देखा था उसी भूतल को अब हम शुद्ध भूतल के रूप में देख रहे हैं। यह शुद्ध भूतल ही घटाभाव है और इसका दर्शन प्रत्यक्षपूर्वक है। इस विश्लेषण से यही फलित होता है कि अभाव प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है। एक का अभाव दूसरे का भाव है।

प्रत्यक्ष :

प्रत्यक्ष का लक्षण वैशद्य या स्पष्टता है[1]। सन्निकर्ष या कल्पनापोढत्व प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं माना गया है। वैशद्य किसे कहते हैं? जिसके प्रतिभास के लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता न हो अथवा जो 'यह'–इदन्तया प्रतिभासित होता हो उसे वैशद्य कहते हैं[2]। प्रमाणान्तर का निषेध इसलिए किया गया है कि प्रत्यक्ष अपने विषय के प्रतिभास के लिए स्वयं समर्थ है। उसे किसी दूसरे प्रमाण से सहायता की अपेक्षा नहीं। अनुमान, आगमादि प्रमाण अपने आप में पूर्ण नहीं हैं। उनका आधार प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष अपने में पूर्ण है। उसे किसी अन्य आधार के सहयोग की आवश्यकता नहीं। 'यह' इस रूप से प्रतिभासित होना भी प्रत्यक्षपूर्वक ही है। 'यह' का अर्थ स्पष्ट प्रतिभास है। जिस प्रतिभास में स्पष्टता न हो, बीच में व्यवधान हो, एक प्रतीति के आधार से दूसरी प्रतीति तक पहुँचना पड़ता हो वह प्रतिभास 'यह' एतद्रूप प्रतिभास नहीं है। ऐसे व्यवहित प्रतिभास को परोक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष में इस प्रकार का कोई व्यवधान नहीं रहता।

हम यह देख चुके हैं कि जैनतार्किकों ने प्रत्यक्ष का दो दृष्टियों से प्रतिपादन किया। एक लोकोत्तर या पारमार्थिक दृष्टि है और

१—'विशदः प्रत्यक्षम्' —प्रमाणमीमांसा १।१।१३
'स्पष्टं प्रत्यक्षम्' —प्रमाणनयतत्त्वालोक २।२
'विशदं प्रत्यक्षमिति' —परीक्षामुख २।३

२—'प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्।' —प्रमाणमीमांसा १।१।१४
'प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।' —परीक्षामुख २।४

दूसरी लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि है। पारमार्थिक दृष्टि से पारमार्थिक प्रत्यक्ष का विश्लेषण किया और व्यावहारिक दृष्टि से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का अनुमोदन किया[1]। पारमार्थिक प्रत्यक्ष सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है। सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान है और विकलप्रत्यक्ष अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चार भेद होते हैं। पारमार्थिक और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद-प्रभेदों का वर्णन पहले किया जा चुका है। यहाँ हम परोक्ष पर थोड़ा सा प्रकाश डालेंगे।

परोक्ष :

जो ज्ञान अविशद अथवा अस्पष्ट है वह परोक्ष है।[2] परोक्ष प्रत्यक्ष से ठीक विपरीत है। जिसमें वैशद्य अथवा स्पष्टता का अभाव है वह परोक्ष है। परोक्ष के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम[3]।

स्मृति—वासना का उद्‌बोध होने पर उत्पन्न होने वाला 'वह' इस आकार वाला ज्ञान स्मृति है[4]। स्मृति अतीत के अनुभव का स्मरण है। किसी ज्ञान या अनुभव की वासना की जागृति से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है। वासना की जागृति कैसे होती है? समानता, विरोध आदि अनेक कारणों से वासना का उद्‌बोध हो सकता है। चूँकि स्मृति अतीत के अनुभव का स्मरण है इसलिए 'वह' इस प्रकार का ज्ञान स्मृति की विशेषता है।

भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में जैनदर्शन ही ऐसा है जो स्मृति को प्रमाण मानता है। स्मृति को प्रमाण न मानने वाले

१—'तद् द्विप्रकारं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च।'
—प्रमाणनयनतत्त्वालोक, २।४

२—'अविशदः परोक्षम्' —प्रमाणमीमांसा १।२।१
'अस्पष्टं परोक्षम्' —प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।१

३—'स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पंचप्रकारम्'। —वही ३।२

४—वासनोद्‌बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः।
—प्रमाणमीमांसा १।२।३

दार्शनिक खास दोष यह देते हैं कि स्मृति का विषय अतीत का अर्थ है। वह तो नष्ट हो चुका। उसके ज्ञान को इस समय प्रमाण कैसे कहा जा सकता है? जिस ज्ञान का कोई विषय नहीं, जिस अनुभव का कोई वर्तमान आधार नहीं, वह उत्पन्न ही कैसे हो सकता है? विना विषय के ज्ञानोत्पत्ति कैसे सम्भव है! इसका उत्तर यह है कि ज्ञान के प्रामाण्य का आधार वस्तु की यथार्थता है, न कि उसकी वर्तमानता। पदार्थ किसी भी समय उपस्थित क्यों न हो, यदि ज्ञान उसकी वास्तविकता का ग्रहण करता है तो वह प्रमाण है। वर्तमान, भूत और भविष्य किसी भी काल में रहने वाला पदार्थ ज्ञान का विषय बन सकता है। यदि वर्तमानकालीन पदार्थ को ही ज्ञान का विषय माना जाय तो अनुमान भी प्रमाण की कोटि से बाहर हो जायगा, क्योंकि वह त्रैकालिक वस्तु का ग्रहण करता है। केवल वर्तमान के आधार पर अनुमान की भित्ति नहीं बन सकती। स्मृति यदि अतीत के अर्थ का ग्रहण करती हुई यथार्थ है तो प्रमाण है। जो लोग यह आग्रह रखते हैं कि वर्तमान पदार्थ का ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, उनके विरोध में कोई यह भी कह सकता है कि अतीत के पदार्थ का ज्ञान ही प्रमाण है। कथन-मात्र से यदि कोई बात सिद्ध हो जाती हो तो प्रमाण और अप्रमाण की परीक्षा ही व्यर्थ है। ज्ञान को प्रमाण इसलिए नहीं माना जाता है कि वह वर्तमान वस्तु का ग्रहण करता है या अतीत अर्थ को अपना विषय बनाता है या अनागत पदार्थ का चिन्तन करता है। ज्ञान वस्तु की यथार्थता का ग्राहक होने से प्रमाण माना जाता है। वह यथार्थता तीनों काल में रहने वाली हो सकती है। विरोधी एक दोष और देता है। वह कहता है कि जो वस्तु नष्ट हो चुकी है वह ज्ञानोत्पत्ति का कारण कैसे बन सकती है? जैनदर्शन पदार्थ को ज्ञानोत्पत्ति का कारण नहीं मानता, यह बात अर्थ और आलोक की चर्चा के समय सिद्ध की जा चुकी है। ज्ञान अपने कारणों से उत्पन्न होता है, पदार्थ अपने कारणों से उत्पन्न होता है। ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि वह पदार्थ को अपना विषय बना सकता है। पदार्थ का ऐसा स्वभाव है कि वह ज्ञान का विषय बन सकता है।

पदार्थ और ज्ञान में कारण और कार्य का सम्बन्ध नहीं है। उनमें ज्ञेय और ज्ञाता, प्रकाश्य और प्रकाशक, व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक का सम्बन्ध है। इन सब तथ्यों को देखते हुए स्मृति को प्रमाण मानना युक्तिसंगत है। स्मृति को प्रमाण न मानने पर अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि लिंग और लिंगी का सम्बन्ध-ग्रहण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अनेक वार के दर्शन के वाद निश्चित होने वाला लिंग और लिंगी का सम्बन्ध स्मृति के अभाव में कैसे स्थापित हो सकता है ! लिंग को देखकर साध्य का ज्ञान भी विना स्मृति के नहीं हो सकता। सम्बन्ध-स्मरण के विना अनुमान सर्वथा असम्भव है।

प्रत्यभिज्ञान—दर्शन और स्मरण से उत्पन्न होने वाला 'यह वही है'; 'यह उसके समान है,' 'यह उससे विलक्षण है,' 'यह उसका प्रतियोगी है' इत्यादि रूप में रहा हुआ संकलनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है[1]। प्रत्यभिज्ञान में दो प्रकार के अनुभव कार्य करते हैं—एक प्रत्यक्ष दर्शन, जो वर्तमान काल में रहता है, और दूसरा स्मरण, जो भूतकाल का अनुभव है। जिस ज्ञान में प्रत्यक्ष और स्मृति इन दोनों का संकलन रहता है वह ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है। 'यह वही घट है' इस प्रकार का ज्ञान अभेद का ग्रहण करता है। 'यह' प्रत्यक्ष दर्शन का विषय है और 'वही' स्मृति का विषय है। घट दोनों में एक ही है' अतः यह अभेद-विषयक प्रत्यभिज्ञान है। 'यह घट उस घट के समान है यह ज्ञान सादृश्यविषयक है। इसी ज्ञान को अन्य दर्शनों में उपमान कहा गया है। 'गवय गौ के समान है' यह शास्त्रीय उदाहरण है। 'भैंस गाय से विलक्षण है' इस प्रकार का ज्ञान विसदृशता का ग्रहण करता है। यह ज्ञान सादृश्यविषयक ज्ञान से विपरीत है। यह उससे छोटा है, यह उससे दूर है—इत्यादि ज्ञान भेद का ग्रहण करते हैं। यह ज्ञान अभेदग्राहक ज्ञान से विपरीत है। तुलनात्मक ज्ञान चाहे

१—'दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि-संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्।'

—प्रमाणमीमांसा, १।२।४

वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, प्रत्यभिज्ञान के अन्दर समाविष्ट हो जाता है। केवल उपमान को ही प्रत्यभिज्ञान का पर्यायवाची मानना ठीक नहीं। सादृश्य, वैलक्षण्य, भेद, अभेद आदि सब का ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है।

तर्क—उपलम्भानुपलम्भनिमित्त व्याप्ति ज्ञान तर्क है। इसे ऊह भी कहते हैं[1]। उपलम्भ का अर्थ है लिंग के सद्भाव से साध्य के सद्भाव का ज्ञान। धूम लिंग है और अग्नि साध्य है। धूम के सद्भाव के ज्ञान से अग्नि के सद्भाव का ज्ञान करना उपलम्भ है। अनुपलम्भ का अर्थ है साध्य के असद्भाव से लिंग के असद्भाव का ज्ञान। 'जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम नहीं हो सकता' इस प्रकार का निर्णय अनुपलम्भ है। उपलम्भ और अनुपलम्भ रूप जो व्याप्ति है उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान तर्क है। 'इसके होने पर ही यह होता है, इसके अभाव में यह नहीं हो सकता। इस प्रकार का ज्ञान तर्क है। तर्क का दूसरा नाम ऊह है।

प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय सीमित है। जिस विषय से प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है उसी विषय तक वह सीमित रहता है। त्रिकालविषयक व्याप्तिज्ञान उससे उत्पन्न नहीं हो सकता। साधारण प्रत्यक्ष का विषय वर्तमान-कालीन सीमित पदार्थ हैं। किसी त्रैकालिक निर्णय पर पहुँचना प्रत्यक्ष के बस की बात नहीं। इसके लिए तो किसी स्वतन्त्र प्रमाण की आवश्यकता है जो त्रिकालविषयक निर्णय पर पहुँचने में समर्थ हो। वह प्रमाण तर्क है।

अनुमान भी तर्क का स्थान नहीं ले सकता, क्योंकि अनुमान का आधार ही तर्क है। जब तक तर्क से व्याप्तिज्ञान न हो जाय तब तक अनुमान की प्रवृत्ति ही असम्भव है। दूसरे शब्दों में यदि तर्कज्ञान नहीं है तो अनुमान की कल्पना ही नहीं हो सकती। अनुमान स्वयं तर्क पर प्रतिष्ठित है। ऐसी अवस्था में तर्क का

१—उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।

—प्रमाणमीमांसा १।२

स्थान अनुमान कैसे ले सकता है। जो ज्ञान जिस से पूर्व उत्पन्न होता है और जिसका आधार होता है वह ज्ञान तद्रूप नहीं हो सकता; अन्यथा पूर्व और पश्चात् का सम्बन्ध ही नष्ट हो जायगा, आधार और आधेय की व्यवस्था ही समाप्त हो जाएगी। अतः तर्क अनुमान से भिन्न है तथा स्वतन्त्र प्रमाण है।

तर्क की व्याख्या करते हुए यह कहा गया कि व्याप्तिज्ञान तर्क है। व्याप्ति क्या है, इसका स्पष्टीकरण बाकी है। 'व्याप्य के होने पर व्यापक होता ही है अथवा व्यापक के होने पर ही व्याप्य होता है'[1]—इस प्रकार का जो नियम है वह व्याप्ति है। धूम और अग्नि के उदाहरण से इसे और स्पष्ट कर लें। धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक है। धूम (व्याप्य) के होने पर अग्नि (व्यापक) होती ही है अथवा अग्नि (व्यापक) के होने पर ही धूम (व्याप्य) होता है। धूम और अग्नि का यह सम्बन्ध व्याप्ति है। जहाँ व्यापक होता है वहाँ व्याप्य हो भी सकता है और नहीं भी। जहाँ अग्नि होती है वहाँ धूम हो भी सकता है और नहीं भी। जहाँ व्याप्य होता है वहाँ व्यापक होता ही है। जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती ही है। व्याप्य व्यापक के होने पर ही हो सकता है। धूम अग्नि के होने पर ही हो सकता है। इस प्रकार का जो व्यापक और व्याप्य का सम्बन्ध है वही व्याप्ति है। इस सम्बन्ध का ग्रहण करने वाला ज्ञान तर्क है—ऊह है।

अनुमान—साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है[2]। साधन का अर्थ है हेतु अथवा लिंग। साधन को देख कर तदविनाभावी साध्य का ज्ञान करना अनुमान है। उदाहरण के लिए धूम, जो कि अग्नि का साधन है, उसे देख कर अग्नि, जो कि साध्य है, उसका ज्ञान करना अनुमान है। साधन और साध्य के बीच अविनाभाव सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। अविनाभाव का अर्थ है किसी

१—'व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव, व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः'।
—प्रमाणमीमांसा, १।२।६

२—'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्'।
—वही १।२।७

के बिना न होना। जो चीज जिसके बिना नहीं हो सकती उस चीज के होने पर उसके बिना न होने वाली चीज का होना अविनाभाव सम्बन्ध है। धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता। धूम के होने पर अग्नि का होना यह अविनाभाव सम्बन्ध है।

अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान—साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहने वाले स्वनिश्चित साधन से साध्य का ज्ञान करना स्वार्थानुमान है[1]। अविनाभाव का एक और लक्षण देखिए। 'सहभावी और क्रमभावी कार्यों का क्रमभाव और सहभावविषयक जो नियम है वह अविनाभाव है।'[2] कुछ कार्य सहभावी होते हैं और कुछ क्रमभावी। रूप और रस सहभावी हैं। रूप को देखकर रस का अनुमान करना अथवा रस-दर्शन से रूप का अनुमान करना सहभावी अविनाभाव है। एक के होने पर दूसरे का होना क्रमभाव है। कृत्तिका के उदित होने पर शकट का उदय होना क्रमभावी अविनाभाव है। कारण और कार्य का सम्बन्ध भी क्रमभाव के अन्तर्गत आता है। अग्नि से धूम की उत्पत्ति क्रमभावी अविनाभाव है। इस प्रकार के अविनाभाव का जब व्यक्ति स्वतः ज्ञान करता है और साध्य के साथ अविनाभावी साधन को देखकर स्वयं साध्य का अनुमान करता है तब जो ज्ञान पैदा होता है वह स्वार्थानुमान है। स्वार्थानुमान के लिए एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर निर्भर नहीं रहता। साधन को देखकर साध्य का अनुमान व्यक्ति स्वयं कर लेता है। इसलिए इस प्रकार के अनुमान का नाम 'स्वार्थानुमान' अर्थात् 'अपने लिए अनुमान' है।

साधन—साधन कितने प्रकार के हैं, इस पर भी जरा विचार कर लें। आचार्य हेमचन्द्र ने पाँच प्रकार के साधन माने हैं। ये पाँच

१—'स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम्'
—प्रमाणमीमांसा १।२।९

२ — 'सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः'
—वही १।२।१०

प्रकार हैं—स्वभाव, कारण, कार्य, एकार्थसमवायी और विरोधी[1]।

वस्तु का स्वभाव ही जहाँ साधन (हेतु) बनता है वह स्वभाव-साधन है। 'अग्नि जलाती है क्योंकि वह उष्णस्वभाव है,' 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह कार्य है' आदि स्वभावसाधन या स्वभावहेतु के उदाहरण हैं।

अमुक प्रकार के मेघ देखकर वर्षा का अनुमान करना कारण साधन है। जिस प्रकार के बादलों के नभ में आने पर वर्षा होती है वैसे बादलों को देखकर वर्षा होने का अनुमान करना कारण से कार्य का अनुमान है। साधारण से कारण को देख कर कार्य का अनुमान नहीं किया जाता। उसी कारण से कार्य का अनुमान किया जा सकता है जिसके होने पर कार्य अवश्य होता है। बाधक कारणों का अभाव और साधक कारणों की सत्ता ये दोनों आवश्यक हैं।

किसी कार्यविशेष को देखकर उसके कारण का अनुमान करना कार्य साधन है। प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण होता है। बिना कारण के कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती। कारण और कार्य के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही कार्य को देखकर कारण का अनुमान हो सकता है। नदी में बाढ़ आती हुई देखकर यह अनुमान करना कि कहीं पर जोरदार वर्षा हुई है, कार्य से कारण का अनुमान है। धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करना भी कार्य से कारण का अनुमान है।

एक अर्थ में दो या अधिक कार्यों का एक साथ रहना एकार्थ-समवाय है। एक ही फल में रूप और रस साथ साथ रहते हैं। रूप को देखकर रस का अनुमान करना या रस को देखकर रूप का अनुमान करना, एकार्थसमवाय का उदाहरण है। रूप और रस में न तो कार्य–कारण भाव है, न रूप और रस का एक स्वभाव है। इन दोनों की एकत्रस्थिति एकार्थसमवाय के कारण है।

१—'स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पंचधा साधनम्'।
—प्रमाणमीमांसा १।२।१२

किसी विरोधी भाव से किसी के अभाव का अनुमान, विरोधी साधन से होने वाला अनुमान है। 'यहाँ पर ठण्ड नहीं है क्योंकि कि अग्नि जल रही है', 'यहाँ पर अग्नि का अभाव है क्योंकि ठण्ड लग रही है' आदि विरोधी साधन के उदाहरण हैं। अग्नि और ठण्डक का परस्पर विरोध है, इसलिये एक के होने पर दूसरी नहीं हो सकती। विरोधी की मात्रा ठीक-ठीक होने पर ही विरोधी साधन का प्रयोग हो सकता है। अग्नि की छोटी सी चिनगारी से ठण्डक के अभाव का अनुमान नहीं किया जा सकता। खूब अग्नि होने पर ही ठण्डक के अभाव का अनुमान करना सम्यक् है।

परार्थानुमान—साधन और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध के कथन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परार्थानुमान है[1]। स्वार्थानुमान का विवेचन करते समय हमने देखा है कि वह व्यक्ति में दूसरे की सहायता के बिना ही उत्पन्न होता है। परार्थानुमान इससे विपरीत है। एक व्यक्ति ने स्वयं साधन और साध्य के अविनाभाव का ग्रहण किया है और दूसरा व्यक्ति ऐसा है, जिसे इस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है। पहला व्यक्ति अपने ज्ञान का प्रयोग दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिये करता है। उसके कथन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परार्थानुमान है। यह अनुमान उनके लिए नहीं है जो साधन और साध्य के सम्बन्ध से परिचित है अपितु उनके लिए है जिसे इस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, अतः इसका नाम परार्थानुमान है।

परार्थानुमान ज्ञानात्मक है किन्तु उपचार से उसे बनाने वाले वचन को भी परार्थानुमान कहा गया है[2]। ज्ञानात्मक परार्थानुमान की उत्पत्ति वचनात्मक परार्थानुमान पर निर्भर है, इसलिए उपचार से वचन को भी परार्थानुमान कहा जाता है। परार्थानुमान के लिए हेतु का वचनात्मक प्रयोग दो तरह से हो सकता है। साध्य के होने पर ही साधन का होना बताने वाला, एक प्रकार है। साध्य

१—'यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्'।

—प्रमाणमीमांसा २।१।१

२—'पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्'।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।२३

अग्नि की सिद्धि के लिए धूम हेतु दिया गया है। 'इस पर्वत में धूम है' यह उस हेतु का उपसंहार है। यही उपनय है।

निगमन—साध्य का पुनर्कथन निगमन है[1]। प्रतिज्ञा के समय जो साध्य का निर्देश किया जाता है, उसको उपसंहार के रूप में पुनः दोहराना, निगमन कहलाता है। यह अन्तिम निर्णयरूप कथन है। 'इसलिए यहाँ अग्नि है' यह कथन निगमन का उदाहरण है।

इन पाँचों अवयवों को ध्यान में रखते हुए परार्थानुमान का पूर्णरूप इस प्रकार होगा—

इस पर्वत में अग्नि ह, क्योंकि इसमें धूम है, जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है—जैसे पाकशाला (साधर्म्य दृष्टान्त,), जहाँ पर अग्नि नहीं होती वहाँ पर धूम नहीं होता—जैसे जलाशय (वैधर्म्य दृष्टान्त), इस पर्वत में धूम है, इसलिए यहाँ अग्नि है।

आगम—आप्त पुरुष के वचन से आविर्भूत होने वाला अर्थ-संवेदन आगम है[2]। आप्त पुरुष का अर्थ है तत्त्व को यथावस्थित जानने वाला व तत्त्व का यथावस्थित निरूपण करने वाला। रागद्वेषादि दोषों से रहित पुरुष ही आप्त हो सकता है, क्योंकि वह मिथ्यावादी नहीं हो सकता। ऐसे पुरुष के वचनों से होने वाला ज्ञान आगम कहलाता है। उपचार से आप्त के वचनों का संग्रह भी आगम है। परार्थानुमान और आगम में यही अन्तर है कि परार्थानुमान के लिए आप्तत्व आवश्यक नहीं है, जब कि आगम के लिए आप्त पुरुष अनिवार्य है। आप्त पुरुष है इसीलिए उसके वचन प्रमाण हैं। उनके प्रामाण्य के लिए अन्य कोई हेतु नहीं। परार्थानुमान के लिए हेतु का आधार आवश्यक है। हेतु की सचाई पर ज्ञान की सचाई निर्भर है। लौकिक और लोकोत्तर के भेद से आप्त दो प्रकार के होते हैं। साधारण व्यक्ति लौकिक आप्त हो सकते हैं। लोकोत्तर आप्त तीर्थंकरादि विशिष्ट पुरुष ही होते हैं।

———

१—'साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम्। यथा तस्मादग्निरत्र'।
—प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।५१–५२

२—'आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः।' —वही ४। १

स्याद्वाद

विभज्यवाद और अनेकान्तवाद
एकान्तवाद और अनेकान्तवाद
जीव की नित्यता और अनित्यता
पुद्गल की नित्यता और अनित्यता
एकता और अनेकता
अस्ति और नास्ति
आगमों में स्याद्वाद
अनेकान्तवाद और स्याद्वाद
स्याद्वाद और सप्तभंगी
भंगों का आगमकालीन रूप
सप्तभंगी का दार्शनिक रूप
दोष-परिहार

स्याद्वाद

श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पहले कुछ स्वप्न आए थे, ऐसा भगवती सूत्र में उल्लेख है। उन स्वप्नों में से एक स्वप्न इस प्रकार है—'एक बड़े चित्रविचित्र पंखों वाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देख कर प्रतिबुद्ध हुए'[1]। इस स्वप्न का क्या फल है, इसका विवेचन करते हुए कहा गया है कि श्रमण भगवान् महावीर ने जो चित्रविचित्र पुंस्कोकिल स्वप्न में देखा है उसका फल यह है कि वे स्वपरसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विचित्र द्वादशांग का उपदेश देंगे।[2] इस वर्णन को पढ़ने से यह मालूम होता

१—'एगं च णं महं चित्तविचित्तपक्खगं पुंसकोइलगं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे'।—भगवती सूत्र१६।६

२—'जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्तं जाव पडिबुद्धे तण्णं समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमयपरसमइयं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेति पन्नवेति परूवेति।' —वही, १६।६

है कि शास्त्रकार ने कितने सुन्दर ढंग से एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। चित्रविचित्र पंख वाला पुंस्कोकिल कौन है? यह स्याद्वाद का प्रतीक है। जैनदर्शन के प्राणभूत सिद्धान्त स्याद्वाद का कैसा सुन्दर चित्रण है। वह एक वर्ण के पंख वाला कोकिल नहीं है, अपितु चित्रविचित्र पंख वाला कोकिल है। जहाँ एक ही तरह के पंख होते हैं वहाँ एकान्तवाद होता है, स्याद्वाद या अनेकान्तवाद नहीं। जहाँ विविध वर्ण के पंख होते हैं वहाँ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद होता है, एकान्तवाद नहीं। एक वर्ण के पंख वाले और चित्रविचित्र पंख वाले कोकिल में यही अन्तर है। केवलज्ञान भी स्याद्वादपूर्वक ही होता है। इसे दिखाने के लिए केवलज्ञान होने के पहले यह स्वप्न दिखाया गया है।

तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है, यह बात पहले लिखी जा चुकी है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वस्तु के चित्रविचित्र पंख हैं। महावीर ने इसी प्रकार के तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। उन्होंने वस्तु के स्वरूप का सभी दृष्टियों से प्रतिपादन किया। जो वस्तु नित्य मालूम होती है वह अनित्य भी है। जो वस्तु क्षणिक प्रतीत होती है वह नित्य भी है। नित्यता और अनित्यता दोनों एक दूसरे का स्वरूप समझने के लिये आवश्यक हैं। जहाँ नित्यता की प्रतीति होती है वहाँ अनित्यता अवश्य रहती है। अनित्यता के अभाव में नित्यता की पहचान ही नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनित्यता का स्वरूप समझने के लिए नित्यता की प्रतीति अनिवार्य है। यदि पदार्थ में ध्रौव्य या नित्यता नहीं है तो अनित्यता की प्रतीति ही नहीं हो सकती। नित्यता और अनित्यता सापेक्ष हैं। एक की प्रतीति द्वितीय की प्रतीतिपूर्वक ही होती है। अनेकानेक अनित्य-प्रतीतियों के बीच जहाँ एक स्थिर प्रतीति होती है वही नित्यत्व या ध्रौव्य की प्रतीति है। ध्रौव्य या नित्यत्व का महत्त्व तभी मालूम होता है, जब उसके साथ में अनेक अनित्य प्रतीतियाँ होती हैं। अनित्य प्रतीति के न होने पर 'यह नित्य है' ऐसा ज्ञान ही नहीं हो सकता। जहाँ नित्यता की प्रतीति नहीं है, वहाँ 'यह अनित्य है' ऐसा भान ही नहीं हो सकता। नित्यता और अनित्यता दोनों की

प्रतीतियाँ स्वभाव से ही परस्पर सम्बन्धित हैं। जहाँ एक प्रतीति होगी वहाँ दूसरी अवश्य होगी।

विभज्यवाद और अनेकान्तवाद :

मज्झिमनिकाय[1] में माणवक के प्रश्न के उत्तर में बुद्ध कहते हैं : 'हे माणवक ! मैं विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं।' माणवक का प्रश्न था कि भगवन् ! मैंने सुन रखा है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित नहीं। इस विषय में आप क्या कहते हैं ? बुद्ध ने उत्तर दिया कि गृहस्थ भी यदि मिथ्यावादी है तो निर्वाणमार्ग का आराधक नहीं हो सकता और त्यागी भी यदि मिथ्यात्वी है तो निर्वाणमार्ग की आराधना नहीं कर सकता। दोनों यदि सम्यक् प्रतिपत्तिसम्पन्न हैं तो दोनों आराधक हो सकते हैं। यह उत्तर विभज्यवाद का उदाहरण है। किसी प्रश्न का उत्तर एकान्तरूप से दे देना कि यह ऐसा ही है, अथवा यह ऐसा नहीं है, एकांशवाद है। बुद्ध ने गृहस्थ और त्यागी की आराधना के प्रश्न को लेकर विभाजनपूर्वक उत्तर दिया, एकान्तरूप से नहीं, इसीलिए बुद्ध ने अपने आप को विभज्यवादी कहा है, एकांशवादी नहीं।

सूत्रकृतांग में भी ठीक इसी शब्द का प्रयोग है। भिक्षु को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इसके उत्तर में कहा गया है कि भिक्षु 'विभज्यवाद' का प्रयोग करे[2]। जैनदर्शन में इस शब्द का अर्थ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद किया जाता है। जिस दृष्टि से जिस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता हो, उस दृष्टि से उसका उत्तर देना स्याद्वाद है। किसी एक अपेक्षा से इस प्रश्न का यह उत्तर हो सकता है। किसी दूसरी अपेक्षा से इसी प्रश्न का यह उत्तर भी हो सकता है। इस प्रकार एक प्रश्न के अनेक उत्तर हो सकते हैं। इसी दृष्टि को स्याद्वाद, अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद या विभज्यवाद कहते हैं। बुद्ध का विभज्यवाद इतना आगे नहीं बढ़ सका, जितना कि महावीर का विभज्यवाद अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के रूप में

आगे बढ़ गया। महावीर ने इस दृष्टि पर बहुत भार दिया, जबकि बुद्ध ने यथावसर उसका प्रयोग तो कर लिया परन्तु उसे विशेष महत्व न दिया। बुद्ध के विभज्यवाद और महावीर के अनेकान्तवाद में कितनी अधिक समानता है, इसे समझने के लिए कुछ उदाहरण देते हैं। माणवक और बुद्ध की तरह गौतमादि और महावीर के बीच भी इसी प्रकार की चर्चा हुई है।

जयन्ती—भगवन् ! सोना अच्छा है या जगना ?

महावीर—जयन्ति ! कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जगना अच्छा है।

जयन्ती—यह कैसे ?

महावीर—जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग हैं, अधर्मिष्ठ हैं, अधर्माख्यायी हैं, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्मप्ररज्जन हैं, अधर्मसमाचार हैं, अधार्मिक वृत्तियुक्त हैं, वे सोते रहें, यही अच्छा है, क्योंकि यदि वे सोते रहेंगे तो अनेक जीवों को पीड़ा नहीं होगी। इस प्रकार वे स्व, पर और उभय को अधार्मिक क्रिया में नहीं लगावेंगे, अतएव उनका सोना अच्छा है। जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुग हैं, यावत् धार्मिक वृत्तिवाले हैं उनका जगना अच्छा है, क्योंकि वे अनेक जीवों को सुख देते हैं। स्व, पर और उभय को धार्मिक कार्य में लगाते हैं। अतएव उनका जागना अच्छा है।

जयन्ती—भगवन् ! बलवान् होना अच्छा या निर्बल होना ?

महावीर—जयन्ति ! कुछ जीवों का बलवान् होना अच्छा है और कुछ जीवों का निर्बल होना अच्छा है।

जयन्ती—यह कैसे ?

महावीर—जो जीव अधार्मिक हैं यावत् अधार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका निर्बल होना अच्छा है, क्योंकि यदि वे बलवान् होंगे तो अनेक जीवों को कष्ट देंगे। जो जीव धार्मिक हैं यावत् धार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका बलवान् होना अच्छा है, क्योंकि वे बलवान् होने से अधिक जीवों को सुख गे[1]।

१—भगवती सूत्र, १२.२।४४३

गौतम—भगवन् ! जीव सकम्प हैं या निष्कम्प ?

महावीर—गौतम ! जीव सकम्प भी हैं और निष्कम्प भी।

गौतम—यह कैसे ?

महावीर—जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त। मुक्त जीव दो प्रकार के हैं—अनन्तर सिद्ध और परम्पर सिद्ध। परम्पर सिद्ध निष्कम्प हैं और अनन्तर सिद्ध सकम्प। संसारी जीवों के भी दो भेद हैं—शैलेशी और अशैलेशी। शैलेशी जीव निष्कम्प होते हैं और अशैलेशी सकम्प[1]।

गौतम—जीव सवीर्य हैं या अवीर्य।

महावीर—जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी।

गौतम—यह कैसे ?

महावीर—जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त। मुक्त तो अवीर्य हैं। संसारी जीव दो प्रकार के हैं—शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न। शैलेशीप्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं और करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं। अशैलेशीप्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं, और करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी। जो जीव पराक्रम करते हैं वे करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं। जो जीव पराक्रम नहीं करते वे करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं[2]।

गौतम—यदि कोई यह कहे कि मैं सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्वजीव, सर्वसत्त्व की हिंसा का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ तो उसका यह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान ?

महावीर—कथंचित् सुप्रत्याख्यान है और कथंचित् दुष्प्रत्याख्यान है।

गौतम—यह कैसे ?

महावीर—जो यह नहीं जानता कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। वह

१—भगवती सूत्र, २५।४
२—वही, १।८।७२

आगे बढ़ गया। महावीर ने इस दृष्टि पर बहुत भार दिया, जबकि बुद्ध ने यथावसर उसका प्रयोग तो कर लिया परन्तु उसे विशेष महत्व न दिया। बुद्ध के विभज्यवाद और महावीर के अनेकान्तवाद में कितनी अधिक समानता है, इसे समझने के लिए कुछ उदाहरण देते हैं। माणवक और बुद्ध की तरह गौतमादि और महावीर के बीच भी इसी प्रकार की चर्चा हुई है।

जयन्ती—भगवन् ! सोना अच्छा है या जगना ?

महावीर—जयन्ति ! कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जगना अच्छा है।

जयन्ती—यह कैसे ?

महावीर—जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग हैं, अधर्मिष्ठ हैं, अधर्माख्यायी हैं, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्मप्ररज्जन हैं, अधर्मसमाचार हैं, अधार्मिक वृत्तियुक्त हैं, वे सोते रहें, यही अच्छा है, क्योंकि यदि वे सोते रहेंगे तो अनेक जीवों को पीड़ा नहीं होगी। इस प्रकार वे स्व, पर और उभय को अधार्मिक क्रिया में नहीं लगावेंगे, अतएव उनका सोना अच्छा है। जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुग हैं, यावत् धार्मिक वृत्तिवाले हैं उनका जगना अच्छा है, क्योंकि वे अनेक जीवों को सुख देते हैं। स्व, पर और उभय को धार्मिक कार्य में लगाते हैं। अतएव उनका जागना अच्छा है।

जयन्ती—भगवन् ! बलवान् होना अच्छा या निर्बल होना ?

महावीर—जयन्ति ! कुछ जीवों का बलवान् होना अच्छा है और कुछ जीवों का निर्बल होना अच्छा है।

जयन्ती—यह कैसे ?

महावीर—जो जीव अधार्मिक हैं यावत् अधार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका निर्बल होना अच्छा है, क्योंकि यदि वे बलवान् होंगे तो अनेक जीवों को कष्ट देंगे। जो जीव धार्मिक हैं यावत् धार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका बलवान् होना अच्छा है, क्योंकि वे बलवान् होने से अधिक जीवों को सुख गे[1]।

१—भगवती सूत्र, १२.२।४४३

गौतम—भगवन् ! जीव सकम्प हैं या निष्कम्प ?

महावीर—गौतम ! जीव सकम्प भी हैं और निष्कम्प भी ।

गौतम—यह कैसे ?

महावीर—जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त । मुक्त जीव दो प्रकार के हैं—अनन्तर सिद्ध और परम्पर सिद्ध । परम्पर सिद्ध निष्कंम्प हैं और अनन्तर सिद्ध सकम्प । संसारी जीवों के भी दो भेद हैं—शैलेशी और अशैलेशी । शैलेशी जीव निष्कम्प होते हैं और अशैलेशी सकम्प[1] ।

गौतम—जीव सवीर्य हैं या अवीर्य ।

महावीर—जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी ।

गौतम—यह कैसे ?

महावीर—जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त । मुक्त तो अवीर्य हैं । संसारी जीव दो प्रकार के हैं—शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न । शैलेशीप्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं और करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं । अशैलेशी-प्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं, और करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी । जो जीव पराक्रम करते हैं वे करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं । जो जीव पराक्रम नहीं करते वे करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं[2] ।

गौतम—यदि कोई यह कहे कि मैं सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्वजीव, सर्वसत्त्व की हिंसा का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ तो उसका यह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान ?

महावीर—कथंचित् सुप्रत्याख्यान है और कथंचित् दुष्प्रत्याख्यान है ।

गौतम—यह कैसे ?

महावीर—जो यह नहीं जानता कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है । वह

१—भगवती सूत्र, २५।४
२—वही, १।८।७२

मृषावादी है। जो यह जानता है कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस और ये स्थावर, उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। वह सत्य-वादी है[1]।

महावीर की दृष्टि का पता लगाने के लिए ये संवाद काफी हैं। बुद्ध ने आराधना को लेकर जिस प्रकार विभाजनपूर्वक उत्तर दिया, महावीर ने भी ठीक उसी शैली से अपने शिष्यों की शंका का समाधान किया। जो प्रश्न पूछा गया उसका विश्लेषण किया गया कि इस प्रश्न का क्या अर्थ है। किस दृष्टि से इसका क्या उत्तर दिया जा सकता है। जितनी दृष्टियाँ सामने आईं उन दृष्टियों से प्रश्न का समाधान किया गया। एक दृष्टि से ऐसा हो भी सकता है, दूसरी दृष्टि से सोचने पर ऐसा नहीं भी हो सकता। हो सकता है वह कैसे, और नहीं हो सकता है वह कैसे ? प्रश्नोत्तर की यह शैली विचारों को सुलझाने वाली शैली है। इस शैली से किसी वस्तु के अनेक पहलुओं का ठीक-ठीक पता लग जाता है। उसका विश्लेषण एकांगी, एकांशी या एकान्त नहीं होने पाता। बुद्ध ने इस दृष्टि को विभज्यवाद का नाम दिया। इस से विपरीत दृष्टि को एकांशवाद कहा। महावीर ने इसी दृष्टि को अनेकान्तवाद और स्याद्वाद कहा। इससे विपरीत दृष्टि को एकान्तवाद का नाम दिया। बुद्ध और बुद्ध के अनुयायियों ने इस दृष्टि का पूरा पीछा नहीं किया। महावीर और उनके अनुयायियों ने इस दृष्टि को अपनी विचार-सम्पत्ति समझकर उसकी पूरी रक्षा की, तथा दिन प्रतिदिन उसे खूब बढ़ाया।

एकान्तवाद और अनेकान्तवाद:

एकान्तवाद किसी एक दृष्टि का ही समर्थन करता है। यह हमेशा दो विरोधी रूपों में दिखाई देता है। कभी सामान्य और विशेष के रूप में मिलता है तो कभी सत् और असत् के रूप में। कभी निर्वचनीय और अनिर्वचनीय के रूप में दिखाई देता है तो कभी हेतु और अहेतु के रूप में। जो लोग सामान्य का ही समर्थन

१—भगवती सूत्र, ७।२।१७०।

करते हैं वे अभेदवाद को ही जगत् का मौलिक तत्त्व मानते हैं और भेद को मिथ्या कहते हैं। उसके विरोधी रूप भेदवाद का समर्थन करने वाले इससे विपरीत सत्य का प्रतिपादन करते हैं। वे अभेद को सर्वथा मिथ्या समझते हैं और भेद को ही एकमात्र प्रमाण मानते है। सद्वाद का एकान्तरूप से समर्थन करने वाले किसी भी कार्य की उत्पत्ति या विनाश को वास्तविक नहीं मानते। वे कारण और कार्य में भेद का दर्शन नहीं करते। दूसरी ओर असद्वाद के समर्थक हैं। वे प्रत्येक कार्य को नया मानते हैं। कारण में कार्य नहीं रहता, अपितु कारण से सर्वथा भिन्न एक नया ही तत्त्व उत्पन्न होता है। कुछ एकान्तवादी जगत् को अनिर्वचनीय समझते हैं। उनके मत से जगत् न सत् है, न असत् है। दूसरे लोग जगत् का निर्वचन कर सकते हैं। उनकी दृष्टि से वस्तु मात्र का निर्वचन करना अर्थात् लक्षणादि बनाना असम्भव नहीं। इसी तरह हेतुवाद और अहेतुवाद भी आपस में टकराते हैं। हेतुवाद का समर्थन करने वाले तर्क के बल पर विश्वास रखते हैं। वे कहते हैं कि तर्क से सब कुछ जाना जा सकता है। जगत् का कोई भी पदार्थ तर्क से अगम्य नहीं। इस वाद का विरोध करते हुए अहेतुवादी कहते हैं कि तर्क से तत्त्व का निर्णय नहीं हो सकता। तत्त्व तर्क से अगम्य है। एकान्तवाद की छत्रछाया में पलने वाले ये वाद हमेशा जोड़े के रूप में मिलते हैं। जहाँ एक प्रकार का एकान्तवाद खड़ा होता है वहाँ उसका विरोधी एकान्तवाद तुरन्त मुकाबले में खड़ा हो जाता है। दोनों की टक्कर प्रारम्भ होते देर नहीं लगती। यह एकान्तवाद का स्वभाव है। इसके बिना एकान्तवाद पनप ही नहीं सकता।

एकान्तवाद के इस पारस्परिक शत्रुतापूर्ण व्यवहार को देखकर कुछ लोगों के मन में विचार आया कि वास्तव में इस क्लेश का मूल कारण क्या है ? सत्यता का दावा करने वाले प्रत्येक दो विरोधी पक्ष आपस में इतने लड़ते क्यों हैं ? यदि दोनों पूर्ण सत्य हैं तो दोनों में विरोध कैसा ? इससे मालूम होता है कि दोनों पूर्ण रूप से सत्य तो नहीं हैं। तब क्या दोनों पूर्ण मिथ्या हैं ? ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि ये लोग जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं उसकी

प्रतीति अवश्य होती है। विना प्रतीति के किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में इनका क्या स्थान है? ये दोनों अंशतः सत्य हैं, और अंशतः मिथ्या। एक पक्ष जिस अंश में सच्चा है, दूसरा पक्ष उसी अंश में झूठा है। इसीलिए उनमें परस्पर कलह होता है। एक पक्ष समझता है कि मैं पूरा सच्चा हूँ और मेरा प्रतिपक्षी बिल्कुल झूठा है। दूसरा पक्ष भी ठीक यही समझता है। यही कलह का मूल कारण है।

जैनदर्शन इस सत्य से परिचित है। वह मानता है कि वस्तु में अनेक धर्म हैं। इन धर्मों में से किसी भी धर्म का निषेध नहीं किया जा सकता। जो लोग एक धर्म का निषेध करके दूसरे धर्म का समर्थन करते हैं वे एकान्तवाद की चक्की में पिस जाते हैं। वस्तु कथंचित् भेदात्मक है कथंचित् अभेदात्मक है, कथंचित् सत्कार्यवाद के अन्तर्गत है कथंचित् असत्कार्यवाद के अन्तर्गत है, कथंचित् निर्वचनीय है कथंचित् अनिर्वचनीय है, कथंचित् तर्कगम्य है कथंचित् तर्कागम्य है। प्रत्येक दृष्टि की एवं प्रत्येक धर्म की एक मर्यादा है। उसका उल्लंघन न करना ही सत्य के साथ न्याय करना है। जो व्यक्ति इस बात को न समझ कर अपने आग्रह को जगत् का तत्त्व मानता है, वह भ्रम में है। उसे तत्त्व के पूर्णरूप को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक वह अपने एकान्तवादी आग्रह का त्याग नहीं करता, तब तक तत्त्व का पूर्ण स्वरूप नहीं समझ सकता। किसी वस्तु के एक धर्म को तो सर्वथा सत्य मान लेना और दूसरे धर्म को सर्वथा मिथ्या कहना वस्तु की पूर्णता को खंडित करना है। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म अवश्य ही एक दूसरे के विरोधी हैं, किन्तु सम्पूर्ण वस्तु के विरोधी नहीं हैं। वस्तु तो दोनों को समान रूप से आश्रय देती है। यही दृष्टि स्याद्वाद है, अनेकान्तवाद है, अपेक्षावाद है। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का समन्वय कैसे हो सकता है? पदार्थ में वे किस ढंग से रहते हैं? हमारी प्रतीति से उनका क्या साम्य है? इत्यादि प्रश्नों का, आगमों के आधार पर विचार करें।

लोक की नित्यता और अनित्यता :

बुद्ध के विभज्यवाद का स्वरूप हम देख चुके हैं। कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिन्हें बुद्ध ने अव्याकृत कहा है। वे प्रश्न विभज्यवाद के अन्तर्गत नहीं आते। ऐसे प्रश्नों के विषय में बुद्ध ने न हाँ' कहा न 'न' कहा। लोक की नित्यता और अनित्यता के विषय में भी बुद्ध का यही दृष्टिकोण है[1]। महावीर ने ऐसे प्रश्न के विषय में मौन धारण करना उचित न समझा। उन्होंने उन प्रश्नों का विविध रूप से उत्तर दिया। लोक नित्य है या अनित्य ? इस प्रश्न का उत्तर महावीर ने यों दिया—

जमालि ! लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। तीनों कालों में ऐसा एक भी समय नहीं मिल सकता, जब लोक न हो, अतएव लोक शाश्वत है।

लोक सदा एक रूप नहीं रहता। वह अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में बदलता रहता है। अतएव लोक अशाश्वत भी है[2]।

महावीर ने प्रस्तुत प्रश्न का दो दृष्टियों से उत्तर दिया है। लोक हमेशा किसी-न-किसी रूप में रहता है, इसलिए वह नित्य है–ध्रुव है–शाश्वत है–अपरिवर्तनशील है। लोक हमेशा एकरूप नहीं रहता। कभी उसमें सुख की मात्रा बढ़ जाती है तो कभी दुःख की मात्रा अधिक हो जाती है। कालभेद से लोक में विविधरूपता आती रहती है। अतः लोक अनित्य है, अशाश्वत है, अस्थिर है, परिवर्तनशील है, अध्रुव है, क्षणिक है।

सान्तता और अनन्तता :

लोक की सान्तता और अनन्तता के प्रश्न को लेकर भी महावीर ने इसी प्रकार का समाधान किया।

"लोक चार प्रकार से जाना जाता है–द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से। द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक है और सान्त है।

१—मज्झिमनिकाय, चूलमालुंक्यसुत्त ६३

२—असासए लोए जमाली ! जओ ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ।

—भगवती सूत्र, ९।३३।३८७

क्षेत्र की अपेक्षा से लोक असंख्यात योजन कोटाकोटि विस्तार और असंख्यात योजन कोटाकोटि परिक्षेप प्रमाण कहा गया है। इसलिए क्षेत्र की अपेक्षा से लोक सान्त है। काल की अपेक्षा से कोई काल ऐसा नहीं जब लोक न हो, अतः लोक ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है। उसका अन्त नहीं है। भाव की अपेक्षा से लोक के अनन्त वर्णपर्याय, गन्धपर्याय, रसपर्याय, स्पर्श-पर्याय हैं। अनन्त संस्थानपर्याय हैं, अनन्त गुरुलघुपर्याय हैं। अनन्त अगुरुलघुपर्याय हैं। उसका कोई अन्त नहीं। इसलिए लोक द्रव्य-दृष्टि से सान्त है, क्षेत्र दृष्टि से सान्त है, कालदृष्टि से अनन्त है, भावदृष्टि से अनन्त है[1]। लोक की सान्तता और अनन्तता का चार दृष्टियों से विचार किया गया है। द्रव्य की दृष्टि से लोक सान्त है, क्योंकि वह संख्या में एक है। क्षेत्र की दृष्टि से भी लोक सान्त है, क्योंकि सकल आकाश में के कुछ क्षेत्र में ही लोक है। वह क्षेत्र असंख्यात कोटाकोटि योजन की परिधि में है। काल की दृष्टि से लोक अनन्त है, क्योंकि वर्तमान, भूत और भविष्यत् का कोई क्षण ऐसा नहीं जिसमें लोक का अस्तित्व न हो। भाव की दृष्टि से भी लोक अनन्त है, क्योंकि एक लोक के अनन्त पर्याय हैं।

१—एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पन्नते, तंजहा दव्वओ खेत्तओ
कालओ भावओ।
दव्वओ णं एगे लोए सअंते।
खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ
आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ
परिक्खेवेणं पन्नत्ता अत्थि पुण सअंते।

कालओ णं लोए ण कयावि न आसी, न कयावि न भवति, न कयावि न भविस्सति, भविसु य भवति य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासते अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे, णत्थि पुण से अंते।

भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा गंध० रस० फासपज्जवा, अणंता संठाणपज्जवा, अणंता गुरु य लहु य पज्जवा अणंता अगुरु य लहु य पज्जवा, नत्थि पुण से अंते। से त्तं खंदगा ! दव्वओ लोए सअंते खेत्तओ लोए सअंते, कालतो लोए अणंते, भावओ लोए अणंते।

—भगवती सूत्र, २।१।९०

महावीर ने सान्तता और अनन्तता का अपनी दृष्टि से उपर्युक्त समाधान किया। बुद्ध ने सान्तता और अनन्तता दोनों को अव्याकृत कोटि में रखा।

जीव की नित्यता और अनित्यता :

बुद्ध ने जीव की नित्यता और अनित्यता के प्रश्न को भी अव्याकृत कोटि में रखा। महावीर ने इस प्रश्न का स्याद्वाद दृष्टि से समाधान किया। उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के लिए इस प्रकार के प्रश्नों का ज्ञान भी आवश्यक माना। आचारांग के प्रारम्भिक कुछ वाक्यों से इस बात का पता लगता है—जब तक यह मालूम न हो जाय कि मैं अर्थात् मेरा जीव एक गति से दूसरी गति में जाता है, जीव कहाँ से आया, कौन था और कहाँ जाएगा, तब तक कोई जीव आत्मवादी नहीं हो सकता, लोकवादी नहीं हो सकता, कर्मवादी नहीं हो सकता, और क्रियावादी नहीं हो सकता। ये सब बातें मालूम होने पर ही जीव आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी बन सकता है[1]।

जीव की शाश्वतता और अशाश्वतता के लिए निम्न संवाद देखिए—

गौतम—"भगवन् ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत" ?

महावीर—"गौतम ! जीव किसी दृष्टि से शाश्वत है, किसी

१—इहमेगेसिं नो सन्ना भवई तंजहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा············आगओ अहमंसि। एवमेगेसिं नो नायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए। नत्थि मे आया उववाइए। के अहं आसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

से जं पुण जाणेज्जा सहसम्मइयाए परवागरणेणं अन्नेसिंवा अन्तिए सोच्चा तंजहा—पुरत्थिमाओ············अत्थि मे आया·········से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई।

—आचारांग, १।१।१।२-३

दृष्टि से अशाश्वत है। गौतम ! द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है, भावार्थिक दृष्टि से अशाश्वत है[1]।"

द्रव्यदृष्टि अभेदवादी है और पर्यायदृष्टि भेदवादी है। द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य है और पर्यायदृष्टि अर्थात् भावदृष्टि से जीव अनित्य है। जीव में जीवत्व सामान्य का कभी अभाव नहीं होता। वह किसी भी अवस्था में हो--जीव ही रहता है, अजीव नहीं होता। यह द्रव्य-दृष्टि है। इस दृष्टि से जीव नित्य है। जीव किसी-न किसी पर्याय में रहता है। एक पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय ग्रहण करता रहता है। इस दृष्टि से वह अशाश्वत है--अनित्य है।

जीव सामान्य की नित्यता--अनित्यता के अतिरिक्त नारकादि जीवों की नित्यता--अनित्यता का भी प्रतिपादन किया गया है।

"भगवन् ! नारक शाश्वत हैं या अशाश्वत ?"

"गौतम ! कथंचित् शाश्वत हैं, कथंचित् अशाश्वत हैं।"

"भगवन् ! यह कैसे ?"

"गौतम ! अव्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से शाश्वत हैं, व्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से अशाश्वत हैं। इसी प्रकार वैमानिक देवों के विषय में भी समझना चाहिए[2]।"

अव्युच्छित्ति नय का अर्थ है द्रव्यार्थिक नय और व्युच्छित्तिनय का अर्थ है पर्यायार्थिक नय। जैसे जीव सामान्य को द्रव्य की अपेक्षा से

१—जीवाणं भंते ! किं सासया असासया ?
गोयमा ! जीवा सिय सासया सिय असासया। ०००० गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया।

—भगवती सूत्र, ७।२।२७३

२—नेरइया णं भंते ! किं सासया असासया ?
गोयमा ! सिय सासया सिय असासया।
से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ००० ?
गोयमा ! अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए सासया, वोच्छित्तिणयट्ठयाए असासया। एवं जाव वेमाणिया।

—वही, ७।३।२७६

नित्य कहा गया है वैसे ही नारकादि जीवों को भी जीव द्रव्य की अपेक्षा से नित्य कहा गया है। जैसे जीव सामान्य को नरकादि गतिरूप पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा गया है वैसे ही नारक जीव को भी नारकत्वरूप पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा गया है।

जीव की नित्यता विषयक स्थिति को अधिक स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए एक और संवाद का उल्लेख करते हैं। महावीर जमाली को यह बात समझा रहे हैं :—

तीनों कालों में ऐसा कोई क्षण नहीं, जब कि जीव न हो। इसीलिए जीव ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है...। जीव नारकावस्था का त्याग कर तिर्यंचअवस्था को प्राप्त करता है, तिर्यंच मिट कर मनुष्य होता है, मनुष्य से देव होता है। इन विभिन्न अवस्थाओं की दृष्टि से जीव अनित्य है। एक अवस्था का त्याग और दूसरी अवस्था का ग्रहण अनित्यता के बिना नहीं हो सकता[1]।

लोक की नित्यता-अनित्यता के लिए जो हेतु दिया गया है, ठीक वही हेतु यहाँ पर भी उपस्थित किया गया है। तीनों कालों में जीव जीवरूप में रहता है, अतः वह नित्य है। उसकी विविध अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, इसलिए वह अनित्य है।

सान्तता और अनन्तता :

बुद्ध का जीव की सान्तता और अनन्तता के विषय में वही दृष्टिकोण है जो नित्यता और अनित्यता के विषय में था। महावीर ने इस विषय का अपनी दृष्टि से प्रतिपादन किया :—

१—सासए जीवे जमाली ! जं न कयाइ णासी, णो कयावि न भवति, ण कयावि ण भविस्सई, भुविं च भवई य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे।
असासए जीवे जमाली ! जन्नं नेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ मणुस्से भवित्ता देवे भवइ।

—भगवती सूत्र, ९।६।३८७, १।४।४२

जीव सान्त भी है और अनन्त भी है। द्रव्य की दृष्टि से एक जीव सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से जीव असंख्यात प्रदेशवाला है, अतः वह सान्त है। काल की दृष्टि से जीव हमेशा है, इसलिए वह अनन्त है। भाव की अपेक्षा से जीव के अनन्त ज्ञानपर्याय हैं, अनन्त दर्शनपर्याय हैं, अनन्त चारित्रपर्याय हैं, अनन्त अगुरुलघुपर्याय हैं। इसलिए वह अनन्त है[1]।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों से जीव की सान्तता-अनन्तता का विचार किया गया है। द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से जीव सीमित है, अतः सान्त है। काल और भाव की दृष्टि से जीव असीमित है, अतः अनन्त है। तात्पर्य यह है कि जीव कथंचित् सान्त है, कथंचित् अनंत है।

पुद्गल की नित्यता और अनित्यता :

द्रव्य का सबसे छोटा अंश जिसका पुनः विभाग न हो सके परमाणु है। परमाणु के चार प्रकार बताये गए हैं—द्रव्यपरमाणु, क्षेत्रपरमाणु; कालपरमाणु और भावपरमाणु[2]। वर्णादिपर्याय की विवक्षा के बिना जो सूक्ष्मतम द्रव्य है, वह द्रव्यपरमाणु है। इसे पुद्गल परमाणु भी कहते हैं। आकाश द्रव्य का सूक्ष्मतम प्रदेश क्षेत्रपरमाणु है। समय का सूक्ष्मतम प्रदेश कालपरमाणु है। द्रव्य परमाणु में वर्णादिपर्याय की विवक्षा होने पर जिस परमाणु का ग्रहण होता है, वह भावपरमाणु है।

१—जे वि य खंदया! जाव सग्रंते जीवे अणंते जीवे, तस्स वि य णं एयमट्ठे-एवं खलु जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअंते, खेत्तओ णं जीवे असंखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे अत्थि पुण से अंते, कालओ णं जीवे न कयावि न आसि जाव निच्चे नत्थि पुण से अंते, भावओ णं जीवे अणंता णाणपज्जवा, अणंता दंसणपज्जवा, अणंता चरित्तपज्जवा, अणंता अगुरुलहुयपज्जवा नत्थि पुण से अंते।

—भगवती सूत्र, २।१।९०

२—गोयमा! चउव्विहे परमाणु पन्नत्ते तंजहा-दव्वपरमाणु, खेत्तपरमाणु, कालपरमाणु, भावपरमाणु।

—वही, २०।५

जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य भारतीय दर्शन वैशेषिक आदि द्रव्य परमाणु को एकान्त नित्य मानते हैं। वे उसमें तनिक भी परिवर्तन नहीं मानते। परमाणु का कार्य अनित्य हो सकता है, परमाणु स्वयं नहीं।

महावीर ने इस सिद्धान्त को नहीं माना। उन्होंने अपने अमोघ अस्त्र स्याद्वाद का यहाँ भी प्रयोग किया और परमाणु को नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का माना।

"भगवन् ! परमाणु पुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत ?"

"गौतम ! स्याद् शाश्वत है, स्याद् अशाश्वत है।"

"यह कैसे ?"

"गौतम ! द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है। वर्णपर्याय यावत् स्पर्श-पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है[1]।"

अन्यत्र भी पुद्गल की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए यही बात कही कि द्रव्यदृष्टि से पुद्गल नित्य है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि तीनों कालों में ऐसा कोई समय नहीं, जिस समय पुद्गल पुद्गलरूप में न हो[2]। इसी प्रकार पुद्गल की अनित्यता का भी पर्यायदृष्टि से प्रतिपादन किया। गौतम और महावीर के संवाद के इन शब्दों को देखिए—

"भगवन् ! क्या यह सम्भव है कि अतीत काल में किसी एक समय में जो पुद्गल रूक्ष हो वही अन्य समय में अरूक्ष हो ? क्या वह एक ही समय में एक देश से रूक्ष और दूसरे देश से अरूक्ष हो सकता है ? क्या यह भी सम्भव है कि स्वभाव से या अन्य प्रयोग के द्वारा किसी पुद्गल में अनेक वर्णपरिणाम हो जाएँ और वैसा परिणाम नष्ट होकर बाद में एक वर्ण-परिणाम भी हो जाय ?"

१—परमाणु पोग्गले णं भंते ! किं सासए असासए ?
गोयमा ! सिय सासए सिय असासए।
से केणट्ठेणं ००० ?
गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वन्नपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासए।
—वही १४।४।५१२

२—वही १।४।४२

"हाँ, गौतम! यह सम्भव है[1]।"

इस प्रकार महावीर ने परमाणु नित्यवाद का खण्डन किया। उन्होंने ऐसे परमाणु की सत्ता मानने से इनकार कर दिया, जो एकान्त नित्य हो। जैसे परमाणु के कार्य घटादि में परिवर्तन होता है और वह अनित्य है, उसी प्रकार परमाणु भी अनित्य है। दोनों का समानरूप से नित्यानित्य स्वभाव है।

एकता और अनेकता :

महावीर प्रत्येक द्रव्य में एकता और अनेकता दोनों धर्म मानते हैं। जीव द्रव्य की एकता और अनेकता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा—"सोमिल! द्रव्य दृष्टि से मैं एक हूँ। ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से मैं दो हूँ। न बदलने वाले प्रदेशों की दृष्टि से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ। बदलते रहने वाले उपयोग की दृष्टि से मैं अनेक हूँ[2]।"

इसी प्रकार अजीव द्रव्य की एकता और अनेकता का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा—"गौतम! धर्मास्तिकाय द्रव्य दृष्टि से एक है, इसलिए वह सर्वस्तोक है। वही धर्मास्तिकाय प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुण भी है[3]"। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय, आकाश आदि द्रव्य-दृष्टि से एक और प्रदेशदृष्टि से अनेक हैं। परस्पर विरोधी माने जाने वाले धर्मों का एक ही द्रव्य में अविरोधी समन्वय करना अनेकान्तवाद की देन है।

१—एस णं भंते! पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं लुक्खी, समयं अलुक्खी, समयं लुक्खी वा अलुक्खी वा? पुव्विं च णं करणेणं अणेगवन्नं अणेगरूवं परिणामं परिणमति, अह से परिणामे निज्जिन्ने भवति तओ पच्छा एगवन्ने एगरूवे सिया।
हंता गोयमा!......एकरूवे सिया। —वही १४।४।५१

२—सोमिला! दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवओगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं। —वही १।८।१०

३—गोयमा! सव्वत्थोवे एगे धम्मत्थिकाए दव्वट्ठयाए, से चेव पएस-ट्ठयाए असंखेज्जगुणे........। सव्वत्थोवे पोग्गलत्थिकाए दव्वट्ठयाए, से चेवपएसट्ठयाए असंखेज्जगुणे। —प्रज्ञापनापद ३।५६

अस्ति और नास्ति:—

बुद्ध ने 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों को मानने से इनकार किया। सब है, ऐसा कहना एक अन्त है। सब नहीं है, ऐसा कहना दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों को छोड़कर तथागत मध्यम मार्ग का उपदेश देते हैं[1]। महावीर ने 'सर्वमस्ति' और 'सर्वनास्ति' इन दोनों सिद्धान्तों की परीक्षा की। परीक्षा करके कहा कि जो अस्ति है वही अस्ति है, और जो नास्ति है वही नास्ति है। उन्हीं के शब्दों में- "हम अस्ति को नास्ति नहीं कहते, नास्ति को अस्ति नहीं कहते। हम जो अस्ति है उसे अस्ति कहते हैं, जो नास्ति है उसे नास्ति कहते हैं[2]"।

अस्ति और नास्ति दोनों परिणमनशील हैं। यह बात भी महावीर ने स्वीकृत की। आत्मा में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों के परिणमन का सिद्धान्त स्थापित किया। इस प्रकार अस्ति और नास्ति के सम्बन्ध में भी अनेकान्त दृष्टि की स्थापना की[3]।

१—सव्वं अत्थीति खो ब्राह्मण अयं एको अन्ते। ...सव्वं नत्थीति खो ब्राह्मण अयं दुतियो अन्तो। एते ते ब्राह्मण उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसे तिअविज्जापंचया संखारा........।

—संयुक्तनिकाय १२।४७।

२—नो खलु वयं देवाणुप्पिया! अत्थिभावं नत्थित्ति वदामो, नत्थिभावं अत्थित्ति वदामो। अम्हे णं देवाणुप्पिया! सव्वं अत्थिभावं अत्थित्ति वदामो, सव्वं नत्थिभावं नत्थित्ति वदामो।

—भगवती सूत्र ७।१०।३०४

३—से नूणं भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ?" हंता गोयमा........ परिणमइ।
जण्णं भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ, तं किं पओगसा वीससा?
गोयमा! पओगसा वि तं वीससा वि तं।
जहा ते भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, तहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ? जहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ तहा ते अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ?
हंता गोयमा! जहा मे अत्थित्तं......परिणमइ ।—वही १।३।३३

'अस्ति' और 'नास्ति' को मानने वाले दो एकान्तवादी पक्ष हैं। एक पक्ष कहता है कि सब सत् है--'सर्वमस्ति'। दूसरा कहता है कि सब असत् है--'सर्वनास्ति'। बुद्ध ने इन दोनों पक्षों को एकान्तवादी कहा, यह ठीक है, किन्तु उन्होंने उनका सर्वथा त्याग कर दिया। उस त्याग को उन्होंने मध्यम मार्ग का नाम दिया। बुद्ध का यह मार्ग निषेधप्रधान है। महावीर ने दोनों पक्षों का निषेध न करके विधिरूप से अनेकान्तवाद द्वारा समर्थन किया। उन्होंने कहा कि 'सब सत् है,' यह एकान्तदृष्टिकोण ठीक नहीं। इसी प्रकार 'सब असत् है, यह एकान्त दृष्टि भी उचित नहीं। जो सत् है, उसी को सत् मानना चाहिए। जो असत् है, उसी को असत् मानना चाहिए। सत् और असत्--अस्ति और नास्ति के भेद को सर्वथा लुप्त नहीं करना चाहिए। सब अपने द्रव्य, क्षेत्र, आदि की अपेक्षा से सत् है। पर द्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा से असत् है। सत् और असत् का विवेकपूर्वक समर्थन करना चाहिए। जो जिस रूप से सत् हो, उसे उसी रूप से सत् मानना चाहिए। जो जिस रूप से असत् है, उसे उसी रूप से असत् मानना चाहिए। सत् और असत् के इस भेद को समझे विना एकान्तरूप से सव को सत् या असत् कहना दोषपूर्ण है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात मालूम हो जाती है कि एक और अनेक, नित्य और अनित्य, सान्त और अनन्त, सद् और असद् धर्मों का अनेकान्तवाद के आधार पर किस प्रकार समन्वय हो सकता है। यह समझना भूल है कि अनेकान्तवाद स्वतन्त्र दृष्टि न होकर दो एकान्तवादों को मिलाने वाली एक मिश्रित दृष्टि मात्र है। वस्तु का ठीक ठीक स्वरूप समझने के लिए अनेकान्त दृष्टि ही उपयुक्त है। यह एक विलक्षण व स्वतन्त्र दृष्टि है, जिसमें वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रतिभासित होता है। केवल दो एकान्तवादों को मिला देने से अनेकान्तवाद नहीं वन सकता, क्योंकि दो एकान्तवाद कभी एक रूप नहीं हो सकते। वे हमेशा एक दूसरे के विरोधी होते हैं।

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद एक अखण्ड दृष्टि है, जिसमें वस्तु के सभी धर्म निर्विरोध रूप से प्रतिभासित होते हैं।

आगमों में स्याद्वाद :

यह विवेचन पढ़ लेने के वाद इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि स्याद्वाद का वीज जैनागमों में मौजूद है। जगह जगह 'सिय सासया' 'सियअसासया'–स्यात् शाश्वत, स्यात् अशाश्वत आदि का प्रयोग देखने को मिलता है। इससे यह सिद्ध है कि आगमों में 'स्याद्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर एक प्रश्न है कि क्या आगमों में 'स्याद्वाद' इस पूरे पद का प्रयोग हुआ है? सूत्रकृतांग की एक गाथा में से 'स्याद्वाद' ऐसा पद निकालने का प्रयत्न किया गया है।[1] गाथा इस प्रकार है:—

नो छापए नो विप लूसएज्जा माणं न सेवेज्ज पगासणं च।
न यावि पन्ने परिहास कुज्जा न या सियावाय वियागरेज्जा॥
१, १४, १६

इसका जो 'न या सियावाय' अंश है- उसके लिए टीकाकार ने 'न चाशीर्वादं' ऐसा संस्कृत रूप दिया है। जो लोग इस गाथा में से 'स्याद्वाद' पद निकालना चाहते हैं, उनके मतानुसार 'चास्याद्वाद' ऐसा रूप होना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र के नियमों के अनुसार 'आशिष्' शब्द का प्राकृत रूप 'आसी' होता है। हेमचन्द्र ने 'आसीया' ऐसा एक दूसरा रूप भी दिया है[2]। 'स्याद्वाद' के लिए प्राकृतरूप 'सियावाओ' है[3]। इसके लिए एक और हेतु दिया गया है कि यदि इस 'सियावाओ' शब्द पर ध्यान दिया जाय तो उपर्युक्त गाथा में अस्याद्वाद वचन के प्रयोग का ही निपेध मानना ठीक होगा; क्योंकि यदि टीकाकार के मतानुसार आशीर्वाद वचन के

१—ओरिएण्टल कॉन्फ्रेंस—नवम अधिवेशन की कार्यवाही (डा० ए० एन० उपाध्ये का मत) पृ० ६७१।

२—प्राकृत व्याकरण—८।२।१७४

३—वही ८।२।१०७

प्रयोग का निषेध माना जाय तो कथानकों में जो 'धर्मलाभ' रूप आशीर्वाद का प्रयोग मिलता है वह असंगत सिद्ध होगा। यह हेतु विशेष महत्व नहीं रखता। 'धर्मलाभ' को आशीर्वाद कहना ठीक वैसा ही है, जैसा मुक्ति की अभिलाषा को राग कहना। जो लोग मोक्षावस्था को सुखरूप नहीं मानते हैं, वे सुखरूप मानने वाले दार्शनिकों के सामने यह दोष रखते हैं कि सुख की अभिलाषा तो राग है, और राग बन्धन का कारण है न कि मोक्ष का अतः मोक्ष सुखरूप नहीं हो सकता। सुख की अभिलाषा को जो राग कहा गया है, वह सांसारिक सुख के लिए है, न कि मोक्षरूप शाश्वत सुख के लिए, इस सिद्धान्त से अपरिचित लोग ही मोक्ष की अभिलाषा को राग कहते हैं। आशीर्वाद भी सांसारिक ऐश्वर्य और सुख की प्राप्ति के लिए होता है। धर्म के लिए कोई आशीर्वाद नहीं होता। वह तो आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग है जिस पर व्यक्ति अपने प्रयत्न से चलता है। 'धर्मलाभ' या 'धर्म की जय' आशीर्वाद नहीं है, सत्य की अभिव्यक्ति है—सत्यपथ का प्रदर्शन है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त हेतु में कोई खास बल नहीं है। व्याकरण के प्रयोगों के अध्ययन के आधार पर सम्भवतः 'न चास्याद्वाद' पद का औचित्य सिद्ध हो सकता है। जो कुछ भी हो, यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि 'स्याद्' पूर्वक वचन-प्रयोग आगमों में देखे जाते हैं। 'स्याद्वाद' ऐसा अखण्ड प्रयोग न भी मिले, तो भी स्याद्वाद सिद्धान्त आगमों में मौजूद है, इसे कोई इनकार नहीं कर सकता।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद :

जैन दर्शन एक वस्तु में अनन्त धर्म मानता है। इन धर्मों में से व्यक्ति अपने इच्छित धर्मों का समय-समय पर कथन करता है। वस्तु के जितने धर्मों का कथन हो सकता है, वे सब धर्म वस्तु के अन्दर रहते हैं। ऐसा नहीं कि व्यक्ति अपनी इच्छा से उन धर्मों का पदार्थ पर आरोप करता है। अनन्त या अनेक धर्मों के कारण ही वस्तु अनन्तधर्मात्मक या अनेकान्तात्मक कही जाती है।

अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। 'स्यात्' का अर्थ है कथंचित्। किसी एक

दृष्टि से वस्तु इस प्रकार की कही जा सकती है। दूसरी दृष्टि से वस्तु का कथन इस प्रकार हो सकता है। यद्यपि वस्तु में ये सब धर्म हैं, किन्तु इस समय हमारा दृष्टिकोण इस धर्म की ओर है, इस लिए वस्तु एतद्रूप प्रतिभासित हो रही है। वस्तु केवल एतद्रूप ही नहीं है, अपितु उसके अन्य रूप भी हैं, इस सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस 'स्यात्' शब्द के प्रयोग के कारण ही हमारा वचन 'स्याद्वाद' कहलाता है। 'स्यात्' पूर्वक जो 'वाद' अर्थात् वचन है—कथन है, वह 'स्याद्वाद' है। इसीलिए यह कहा गया है कि अनेकान्तात्मक अर्थ का कथन 'स्या-द्वाद' है[1]।

'स्याद्वाद' को 'अनेकान्तवाद' भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि 'स्याद्वाद' से जिस पदार्थ का कथन होता है, वह अनेकान्ता-त्मक है। अनेकान्त अर्थ का कथन यही 'अनेकान्तवाद' है। 'स्यात्' यह अव्यय अनेकान्त का द्योतक है, इसीलिए 'स्याद्वाद' को 'अनेकान्त' कहते हैं[2]। 'स्याद्वाद' और 'अनेकान्तवाद' दोनों एक ही हैं। 'स्या-द्वाद' में 'स्यात्' शब्द की प्रधानता रहती है। 'अनेकान्तवाद' में अनेकान्त धर्म की मुख्यता रहती है। 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक है, अनेकान्त को अभिव्यक्त करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

यह स्पष्टीकरण इसलिए है कि जैन ग्रन्थों में कहीं स्याद्वाद शब्द आया है तो कहीं अनेकान्तवाद शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। इन दोनों शब्दों के पीछे एक ही हेतु रहा हुआ है और वह है वस्तु की अनेकान्तात्मकता। यह अनेकान्तात्मकता अनेकान्तवाद शब्द से भी प्रकट होती है और स्याद्वाद शब्द से भी। वैसे देखा जाय तो स्याद्वाद शब्द अधिक प्राचीन मालूम होता है, क्योंकि आगमों में

१—अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः—लघीयस्त्रयटीका ६२

२—'स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकं ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादः'
—स्याद्वादमञ्जरी का

'स्यात्' शब्द का प्रयोग अधिक देखने में आता है। जहाँ वस्तु की अनेकरूपता का प्रतिपादन करना होता है, वहाँ 'सिय' शब्द का प्रयोग साधारण सी बात है। अनेकान्तवाद शब्द पर दार्शनिक पुट की प्रतीति होती है, क्योंकि यह शब्द एकान्तवाद के विरोधी पक्ष को सूचित करता है।

स्याद्वाद और सप्तभंगी :

यह हम देख चुके हैं कि स्याद्वाद के मूल में दो विरोधी धर्म रहते हैं। इन दो विरोधी धर्मों का अपेक्षा भेद से कथन स्याद्वाद है। उदाहरण के लिए हम सत् को लेते हैं। पहला पक्ष है सत् का। जब सत् का पक्ष हमारे सामने आता है तो उसका विरोधी पक्ष असत् भी सामने आता है। मूल रूप में ये दो पक्ष हैं। इसके बाद तीसरा पक्ष दो रूपों में आ सकता है–या तो दोनों पक्षों का समर्थन करके या दोनों पक्षों का निषेध करके। जहाँ सत् और असत् दोनों पक्षों का समर्थन होता है वहाँ तीसरा पक्ष बनता है सदसत् का। जहाँ दोनों पक्षों का निषेध होता है वहाँ तीसरा पक्ष बनता है अनुभय अर्थात् न सत् न असत्। सत्, असत् और अनुभय इन तीन पक्षों का प्राचीनतम आभास ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में मिलता है। उपनिषदों में दो विरोधी पक्षों का समर्थन मिलता है। 'तदेजति तन्नैजति'[1], 'अणोरणीयान् महतो महीयान्'[2] 'सदसद्वरेण्यम्'[3] आदि वाक्यों में स्पष्टरूप से दो विरोधी धर्म स्वीकृत किये गये हैं। इस परम्परा के अनुसार तीसरा पक्ष उभय अर्थात् सदसत् का बनता है। जहाँ सत् और असत् दोनों का निषेध किया गया, वहाँ अनुभय का चौथा पक्ष बन गया।[4] इस प्रकार उपनिषदों में सत्, असत्, सदसत् और अनुभय ये चार पक्ष मिलते हैं। अनुभय पक्ष अवक्तव्य के नाम से भी प्रसिद्ध है। अवक्तव्य के तीन अर्थ हो सकते हैं–(१) सत् और

१—ईशोपनिषद् ५
२—कठोपनिषद् १।२।२०
३—मुण्डकोपनिषद् २।२।१
४—'न सन्नचासत्' श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।१८

असत् दोनों का निषेध करना (२) सत्, असत् और सदसत् तीनों का निषेध करना (३) सत् और असत् दोनों को अक्रम से अर्थात् युगपद् स्वीकृत करना। जहाँ अवक्तव्य का तीसरा स्थान है वहाँ सत् और असत् दोनों का निषेध समझना चाहिये। जहाँ अवक्तव्य का चौथा स्थान है वहाँ सत्, असत और सदसत् तीनों का निषेध समझना चाहिए। सत् और असत् दोनों का युगपद् प्रतिपादन करने की सूझ तर्कयुग के जैनाचार्यों की मालूम होती है। यह बात आगे स्पष्ट हो जाएगी। अवक्तव्यता दो तरह की है—एक सापेक्ष और दूसरी निरपेक्ष। सापेक्ष अवक्तव्यता में इस बात की झलक होती है कि तत्त्व सत्, असत् और सदसत् रूप से अवाच्य है। इतना ही नहीं अपितु नागार्जुन जैसे माध्यमिक बौद्धदर्शन के आचार्य ने तो सत्, असत्, सदसत् और अनुभय इन चारों दृष्टियों से तत्त्व को अवाच्य माना। उन्होंने स्पष्ट कहा कि वस्तु चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। इस प्रकार सापेक्ष अवक्तव्यता एक, दो, तीन या चारों पक्षों के निषेध पर खड़ी होती है। जहाँ तत्त्व न सत् हो सकता है, न असत् हो सकता है, न सत् और असत् दोनों हो सकता है, न अनुभय हो सकता है (ये चारों पक्ष एक साथ हों या भिन्न भिन्न) वहाँ सापेक्ष अवक्तव्यता है। निरपेक्ष अवक्तव्यता के लिए यह बात नहीं है। वहाँ तो तत्त्व को सीधा 'वचन से अगम्य' कह दिया जाता है।[1] पक्ष के रूप में जो अवक्तव्यता है वह सापेक्ष अवक्तव्यता है। ऐसा समझना चाहिये।

उपनिषदों में सत्, असत्, सदसत् और अवक्तव्य ये चारों पक्ष मिलते हैं, यह हम लिख चुके हैं। बौद्ध त्रिपिटक में भी ये चार पक्ष मिलते हैं। सान्तता और अनन्तता, नित्यता और अनित्यता आदि प्रश्नों को बुद्ध ने अव्याकृत कहा है। उसी प्रकार इन चारों पक्षों को भी अव्याकृत कहा गया है। उदाहरण के लिए निम्न प्रश्न अव्याकृत हैं :—

१—'यतो वाचो निवर्तन्ते।'

(१) होति तथागतो परंमरणाति ?
न होति तथागतो परंमरणाति ?
होति च न होति च तथागतो परंमरणाति ?
नेव होति न न होति तथागतो परंमरणाति[1] ?

(२) सयंकतं दुक्खवंति ?
परंकतं दुक्खवंति ?
सयंकतं परंकतं च दुक्खवंति ?
असयंकारं अपरंकारं दुक्खंति[2] ?

बुद्ध की तरह संजयवेलट्ठिपुत्त भी इस प्रकार के प्रश्नों का न 'हाँ' में उत्तर देता था न 'न' में। उसका किसी भी विषय में कुछ भी निश्चय न था। बुद्ध तो कम-से-कम इतना कह देते थे कि ये प्रश्न अव्याकृत हैं। संजय उनसे भी एक कदम आगे बढ़ा हुआ था। वह न 'हाँ' कहता, न 'न' कहता, न अव्याकृत कहता, न व्याकृत कहता। किसी भी प्रकार का विशेषण देने में वह भय खाता था। दूसरे शब्दों में वह संशयवादी था। किसी भी विषय में अपना निश्चित मत प्रकट न करता था। पाश्चात्य दर्शनशास्त्र में ह्यूम का जो स्थान है, प्रायः वही स्थान भारतीय दर्शनशास्त्र में संजयबेलट्ठिपुत्त का है। ह्यूम भी यही मानता था कि हमारा ज्ञान निश्चित नहीं है, इसलिए हम अपने ज्ञान से किसी अन्तिम तत्त्व का निर्णय नहीं कर सकते। सीमित अवस्था में रहते हुए सीमा से बाहर के तत्त्व का निर्णय करना हमारे सामर्थ्य से परे है। संजय ने जिन प्रश्नों के विषय में विक्षेपवादी वृत्ति का परिचय दिया, उनमें से कुछ ये हैं[3]—

(१) परलोक है ?
परलोक नहीं है ?
परलोक है और नहीं है ?
न परलोक है और न नहीं है ?

१—संयुत्तनिकाय
२—वही १२।१७
३—दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त

(२) औपयातिक हैं ?
औपयातिक नहीं हैं ?
औपयातिक हैं और नहीं हैं ?
न औपयातिक हैं न नहीं हैं ?

(३) सुकृत दुष्कृत कर्म का फल है ?
सुकृत दुष्कृत कर्म का फल नहीं है ?
सुकृत दुष्कृत कर्म का फल है और नहीं है ?
सुकृत दुष्कृत कर्म का फल न है न नहीं है ?

(४) मरणानन्तर तथागत है ?
मरणानन्तर तथागत नहीं है ?
मरणानन्तर तथागत है और नहीं है ?
मरणानन्तर न तथागत है न नहीं है ?

स्याद्वाद और संजय के संशयवाद में यही अन्तर है कि स्याद्वाद निश्चयात्मक है, जब कि संजय का संशयवाद अनिश्चयात्मक है। महावीर प्रत्येक पक्ष का अपेक्षाभेद से निश्चत उत्तर देते थे। वे न तो बुद्ध की तरह अव्याकृत कहकर टाल दिया करते और न संजय की तरह अनिश्चय का बहाना बनाते। जो लोग स्याद्वाद को संजयबेलट्ठिपुत्त का संशयवाद समझते हैं, वे स्याद्वाद का स्वरूप ही नहीं जानते। जैनदर्शन के आचार्य बार-बार यह कहते हैं कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, स्याद्वाद अज्ञानवाद नहीं है, स्याद्वाद अस्थिरवाद या विक्षेपवाद नहीं है। वह निश्चयवाद है, ज्ञानवाद है।

उपनिषदों में व बौद्धत्रिपिटक में तत्त्व के विषय में चार पक्ष किस रूप में मिलते हैं, यह लिख चुके। अब हम जैन आगमों में मिलने वाले चारों पक्षों को देखें। इससे हमें मालूम हो जाएगा कि भारतीय दर्शनशास्त्र की परम्परा में ये चारों पक्ष अतिप्राचीन हैं।

भगवतीसूत्र में मिलने वाले कुछ उदाहरण देखिए :—

अ—

(१) आत्मारम्भ (२) परारम्भ
(३) तदुभयारम्भ (४) अनारम्भ[1]

१—१।१।१७

आ—

(१) गुरु (२) लघु
(३) गुरुलघु (४) अगुरुलघु[1]

इ—

(१) सत्य (२) मृषा
(३) सत्यमृषा (४) असत्यमृषा[2]

इस विवेचन से स्पष्ट झलकता है कि अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति और अवक्तव्य ये चार भंग प्राचीन एवं मौलिक हैं। महावीर ने इन चार भंगों को अधिक महत्व दिया। यद्यपि आगमों में इनसे अधिक भंग भी मिलते हैं, तथापि ये चार भंग मौलिक हैं, अतः इनका अधिक महत्व है। इन भंगों में अवक्तव्य का स्थान कहीं तीसरा है[3], तो कहीं चौथा है।[4] ऐसा क्यों? इसका उत्तर हम पहले ही दे चुके हैं कि जहाँ अस्ति और आस्ति इन दो भंगों का निषेध है वहाँ अवक्तव्य का तीसरा स्थान है और जहाँ अस्ति, नास्ति और अस्तिनास्ति (उभय) तीनों का निषेध है वहाँ अवक्तव्य का चौथा स्थान है। इन चार भंगों के अतिरिक्त अन्य भंग भी मिलते हैं किन्तु वे इन भंगों के किसी-न-किसी संयोग से ही बनते हैं। ये भंग किस रूप में आगमों में मिलते हैं, यह देखें।

भंगों का आगमकालीन रूप :

भगवतीसूत्र के आधार पर हम स्याद्वाद के भंगों का स्वरूप समझने का प्रयत्न करेंगे। गौतम महावीर से पूछते हैं कि 'भगवन्! रत्नप्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है' इसका उत्तर देते हुए महावीर कहते हैं :—

१—रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है।

२—रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा नहीं है।

१—१।६।७४
२—१३।७।४६३
३—भगवतीसूत्र १२।१०।४६६
४—आप्तमीमांसा, १६

३—रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् अवक्तव्य है।

यह कैसे ?

१—आत्मा के आदेश से आत्मा है।

२—पर के आदेश से आत्मा नहीं है।

३—उभय के आदेश से अवक्तव्य है।

अन्य पृथ्वियों, देवलोकों और सिद्धशिला के विषय में भी यही बात कही गई है। परमाणु के विषय में पूछने पर भी यही उत्तर मिला। द्विप्रदेशी स्कन्ध के विषय में महावीर ने इस प्रकार उत्तर दिया—

१—द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा है।

२—द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा नहीं है।

३—द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् अवक्तव्य है।

४—द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा है और आत्मा नहीं है।

५—द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा है और अवक्तव्य है।

६—द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

यह कैसे ?

१—द्विप्रदेशी स्कन्ध आत्मा के आदेश से आत्मा है।

२—पर के आदेश से आत्मा नहीं है।

३—उभय के आदेश से अवक्तव्य है।

४—एक अंश (देश) सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है और दूसरा अंश असद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, अतः द्विप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है।

५—एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है और एक देश उभयपर्यायों से आदिष्ट है, अतएव द्विप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है।

६—एक देश असद्भावपर्यायों से आदिष्ट है और दूसरा देश तदुभयपर्यायों से आदिष्ट है, अतः द्विप्रदेशी स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध के विषय में पूछने पर निम्न उत्तर मिला—

१—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा है।

२—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा नहीं है।
३—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् अवक्तव्य है।
४—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा है और आत्मा नहीं है।
५—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा है और (दो) आत्माएं नहीं हैं।
६—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् (दो) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं है।
७—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा है और अवक्तव्य है।
८—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा है और (दो) आत्माएँ अवक्तव्य हैं।
९—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् (दो) आत्माएँ हैं और अवक्तव्य है।
१०—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।
११—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा नहीं है और (दो) अवक्तव्य हैं।
१२—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्यात् (दो) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है।
१३—त्रिप्रदेशी स्कन्ध स्याद् आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

ऐसा क्यों ?

१—त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा के आदेश से आत्मा है।
२—त्रिप्रदेशी स्कन्ध पर के आदेश से आत्मा नहीं है।
३—त्रिप्रदेशी स्कन्ध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।
४—एक देश सद्भाव पर्यायों से आदिष्ट है और एक देश असद्भाव पर्यायों से आदिष्ट है, इसलिए त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है।
५—एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है और दो देश असद्भाव पर्यायों से आदिष्ट है, अतः त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और (दो) आत्माएँ नहीं हैं।
६—दो देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट हैं और एक देश

असद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, अतएव त्रिप्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं हैं।

७—एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है और दूसरा देश तदुभयपर्यायों से आदिष्ट है, अतः त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है।

८—एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है और दो देश तदुभय पर्यायों से आदिष्ट हैं, अतएव त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और (दो) अवक्तव्य हैं।

९—दो देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट हैं और एक देश तदुभय पर्यायों से आदिष्ट है, इसलिए त्रिप्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं और अवक्तव्य है।

१०—एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और दूसरा देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों से, अतएव त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

११—एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और दो देश आदिष्ट हैं तदुभय पर्यायों से, अतः त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा नहीं है और (दो) अवक्तव्य हैं।

१२—दो देश असद्भावपर्यायों से आदिष्ट हैं और एक देश तदुभय पर्यायों से आदिष्ट है, अतः त्रिप्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ नहीं है और अवक्तव्य है।

१३—एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, एक देश असद्भावपर्यायों के आदिष्ट है, और एक देश तदुभय पर्यायों से आदिष्ट है, अतएव त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के विषय में प्रश्न करने पर महावीर ने १९ भंगों में उत्तर दिया। इस उत्तर का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१— चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा के आदेश से आत्मा है।

२—चतुष्प्रदेशी स्कन्ध पर के आदेश से आत्मा नहीं है।

३—चतुष्प्रदेशी स्कन्ध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।

४—एक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है।

५—एक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और अनेक देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और (अनेक) आत्माएँ नहीं हैं।

६—अनेक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं है।

७—दो देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से और दो देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं और (दो) आत्माएँ नहीं हैं।

८—एक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है।

९—एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और अनेक देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और (अनेक) अवक्तव्य हैं।

१०—अनेक देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं और अवक्तव्य है।

११—दो देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से और दो देश आदिष्ट हैं तदुभय पर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं और (दो) अवक्तव्य हैं।

१२—एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

१३—एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और अनेक देश आदिष्ट हैं तदुभय पर्यायों से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य हैं।

१४—अनेक देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ नहीं है और अवक्तव्य है।

१५—दो देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से और दो देश आदिष्ट हैं तदुभय पर्यायों से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ नहीं हैं और (दो) अवक्तव्य हैं।

१६—एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव-पर्यायों से आदिष्ट है और एक देश तदुभयपर्यायों से आदिष्ट है, इसलिए चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, नहीं है और अवक्तव्य है।

१७—एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव-पर्यायों से आदिष्ट है और दो देश तदुभय पर्यायों से आदिष्ट हैं, इसलिए चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, नहीं है और (दो) अवक्तव्य हैं।

१८—एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, दो देश असद्भाव-पर्यायों से आदिष्ट हैं और एक देश तदुभय पर्यायों से आदिष्ट है, इसलिए चतुष्प्रदेश स्कन्ध आत्मा है, (दो) नहीं हैं और अवक्तव्य है।

१९—दो देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव पर्यायों से आदिष्ट है, और एक देश तदुभयपर्यायों से आदिष्ट है, इसलिए चतुष्प्रदेश स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं, नहीं है और अवक्तव्य है।

चतुष्प्रदेशी स्कन्ध का १९ भंगों में उत्तर देकर पंचप्रदेशी स्कन्ध के विषय में २२ भंगों में उत्तर देते हैं—

१—पंचप्रदेशी स्कन्ध आत्मा के आदेश से आत्मा है।
२—पंचप्रदेशी स्कन्ध पर के आदेश से आत्मा नहीं है।
३—पंचप्रदेशी स्कन्ध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।
४,५,६—चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान हैं।
७—दो या तीन देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से और दो या तीन देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से अतएव पंचप्रदेशी स्कन्ध

(दो या तीन) आत्माएँ हैं और (दो या तीन) आत्माएँ नहीं हैं (सद्भावपर्यायों में यदि दो देश लेने हों तो असद्भावपर्यायों में तीन देश लेने चाहिए और सद्भावपर्यायों में यदि तीन देश लेने हों तो असद्भावपर्यायों में दो देश लेने चाहिए)।

८,९,१०—चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान हैं।

११—दो या तीन देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से और दो या तीन देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से, अतएव पंचप्रदेशी स्कन्ध (दो या तीन) आत्माएँ हैं और (दो या तीन) अवक्तव्य हैं।

१२,१३,१४—चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान समझना चाहिए।

१५—दो या तीन देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से, और दो या तीन देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से अतएव पंच-प्रदेशी स्कन्ध (दो यातीन) आत्माएँ नहीं हैं और (दो या तीन) अवक्तव्य हैं।

१६—चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान है।

१७—एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव पर्यायों से आदिष्ट है और अनेक देश तदुभयपर्यायों से आदिष्ट हैं अतः पंचप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य हैं।

१८—एक देश सद्भावपर्यायों से अदिष्ट है, अनेक देश असद्भाव-पर्यायों से आदिष्ट हैं, और एकदेश तदुभय पर्यायों से आदिष्ट है, अतः पंचप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, (अनेक) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है।

१९—एक देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट है, दो देश असद्-भावपर्यायों से आदिष्ट हैं, और दो देश तदुभय पर्यायों से आदिष्ट हैं, अतः पंचप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, (दो) आत्माएँ नहीं हैं और (दो) अवक्तव्य हैं।

२०—अनेक देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से, एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से, और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से, अतः पंचप्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

२१—दो देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से, एक देश आदिष्ट

है असद्भावपर्यायों से, और दो देश आदिष्ट हैं तदुभय-पर्यायों से, अतः (दो) आत्माएँ हैं, आत्मा नहीं है और (दो) अवक्तव्य हैं ।

२२—दो देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से, दो देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से, और एक देश आदिष्ट है तदुभय-पर्यायों से, अतः पंचप्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं, (दो) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है ।

इसी प्रकार षट्प्रदेशी स्कन्ध के २३ भंग किए गए हैं । २२ का पूर्ववत् निर्देश किया गया है और २३ वाँ भंग इस प्रकार है—

दो देश सद्भावपर्यायों से आदिष्ट हैं, दो देश असद्भावपर्यायों से आदिष्ट हैं और दो देश तदुभय पर्यायों से आदिष्ट हैं, अतएव षट्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं, (दो) आत्माएँ नहीं हैं और (दो) अवक्तव्य हैं[1] ।

उपर्युक्त भंगों को देखने से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि स्याद्वाद से फलित होने वाली सप्तभंगी बाद के आचार्यों की सूझ नहीं है । यह आगमों में मिलती है और वह भी अपने प्रभेदों के साथ । २३ भंगों तक का विकास भगवती सूत्र के उपर्युक्त सूत्र में मिलता है । यह तो एक दिग्दर्शन मात्र है । नाना प्रकार के विकल्पों के आधार पर अनेक भंगों का निर्माण किया जा सकता है, यह प्रवक्ता के बुद्धिकौशल पर निर्भर है । इन सब भंगों का निचोड़ सात भंग हैं । अस्ति, नास्ति, अनुभय (अवक्तव्य), उभय (अस्ति-नास्ति), अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य ।

इन सात में भी प्रथम चार मुख्य हैं—अस्ति, नास्ति, अनुभय और उभय । इन चार में भी दो मौलिक हैं—अस्ति और नास्ति । तत्त्व के मुख्य रूप से दो पहलू हैं । दोनों परस्पराश्रित हैं । 'अस्ति' 'नास्ति' पूर्वक है और 'नास्ति' 'अस्ति' पूर्वक । बाद के दार्शनिकों ने सात भंगों पर ही विशेष भार दिया और स्याद्वाद और सप्तभंगी एकार्थक हो गए । भंग सात ही क्यों होते हैं, अधिक या कम क्यों

१—भगवतीसूत्र, १२।१०।४६९

नहीं होते, इसका भी समाधान करने का प्रयत्न किया गया। जैन-दर्शन की मौलिक धारणा अस्ति और नास्तिमूलक ही है। चार और सात भंग तो अस्ति और नास्ति की ही विशेष अवस्थाएँ हैं। अस्ति और नास्ति एक नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों विरोधी धर्म हैं।

सप्तभंगी का दार्शनिक रूप :

वस्तु के अनेक धर्मों के कथन के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। किसी एक धर्म का कथन किसी एक शब्द से होता है। हमारे लिए यह सम्भव नहीं कि अनेकान्तात्मक वस्तु के सभी धर्मों का वर्णन कर सकें, क्योंकि एक वस्तु के सम्पूर्ण वर्णन का अर्थ है—सभी वस्तुओं का सम्पूर्ण वर्णन। सभी वस्तुएँ परस्पर सम्बन्धित हैं, अतः एक वस्तु के कथन के साथ अन्य वस्तुओं का कथन अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में वस्तु का ज्ञान या कथन करने के लिए हम दो दृष्टियों का उपयोग करते हैं। इनमें से एक दृष्टि सकलादेश कहलाती है और दूसरी विकलादेश। सकलादेश का अर्थ है किसी एक धर्म के साथ अन्य धर्मों का अभेद करके वस्तु का वर्णन करना। दूसरे शब्दों में एकगुण में अशेष वस्तु का संग्रह करना सकलादेश है[1]। उदाहरण के लिए किसी वस्तु के अस्तित्व धर्म का कथन करते समय इतर धर्मों का अस्तित्व में ही समावेश कर लेना सकलादेश है। 'स्याद्रूपमेव सर्वम्' ऐसा जब कहा जाता है तो उसका अर्थ होता है सभी धर्मों का अस्तित्व से अभेद। अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य जितने भी धर्म हैं सब किसी दृष्टि से अस्तित्व से अभिन्न हैं, अतः 'कथंचित् सब है ही' (स्यादस्त्येव सर्वम्) यह कहना अनेकान्तवाद की दृष्टि से अनुचित नहीं है। एक धर्म में सारे धर्मों का समावेश या अभेद कैसे होता है? किस दृष्टि से एक धर्म अन्य धर्मों से अभिन्न है? इसका समाधान करने के लिए कालादि आठ

१—'एकगुणमुखेन शेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः'।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ४.४२।१८

दृष्टियों का आधार लिया जाता है[1]। इन आठ दृष्टियों में से किसी एक के आधार पर एक धर्म के साथ अन्य धर्मों का अभेद कर लिया जाता है और इस अभेद को दृष्टि में रखते हुए ही उस धर्म का कथन सम्पूर्ण वस्तु का कथन मान लिया जाता है। यही सकलादेश है। विकलादेश में एक धर्म की ही अपेक्षा रहती है और शेष की उपेक्षा। जिस धर्म का कथन अभीष्ट होता है वही धर्म दृष्टि के सामने रहता है। अन्य धर्मों का निषेध नहीं होता, अपितु उनका उस समय कोई प्रयोजन न होने से ग्रहण नहीं होता। यही उपेक्षाभाव है। नय का स्वरूप बताते समय इसका विशेष स्पष्टीकरण किया जाएगा। अब हम सकलादेश की कालादि आठ दृष्टियों का स्वरूप समझने का प्रयत्न करेंगे।

काल—जिस समय किसी वस्तु में अस्तित्व धर्म होता है उसी समय अन्य धर्म भी होते हैं। घट में जिस समय अस्तित्व रहता है उसी समय कृष्णत्व, स्थूलत्व, कठिनत्व आदि धर्म भी रहते हैं। इसलिए काल की अपेक्षा से अन्य धर्म अस्तित्व से अभिन्न हैं।

आत्मरूप—जिस प्रकार अस्तित्व घट का गुण है उसी प्रकार कृष्णत्व, कठिनत्व आदि भी घट के गुण हैं। अस्तित्व के समान अन्य गुण भी घटात्मक ही हैं। अतः आत्मरूप की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुणों में अभेद है।

अर्थ—जिस घट में अस्तित्व है उसी घट में कृष्णत्व, कठिनत्व आदि धर्म भी हैं। सभी धर्मों का स्थान एक ही है। अतः अर्थ की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुणों में कोई भेद नहीं।

सम्बन्ध—जिस प्रकार अस्तित्व का घट से सम्बन्ध है उसी प्रकार अन्य धर्म भी घट से सम्बन्धित हैं। सम्बन्ध की दृष्टि से अस्तित्व और इतरगुण अभिन्न हैं।

उपकार—अस्तित्व गुण घट का जो उपकार करता है वही उपकार कृष्णत्व, कठिनत्व आदि गुण भी करते हैं। इसलिए यदि उपकार की दृष्टि से देखा जाय तो अस्तित्व और अन्य गुणों में अभेद है।

गुणिदेश—जिस देश में अस्तित्व रहता है उसी देश में घट के अन्य

१—स्याद्वादरत्नाकर ४।४४

गुण भी रहते है। घटरूप गुणी के देश की दृष्टि से देखा जाय तो अस्तित्व और अन्य गुणों में कोई भेद नहीं।

संसर्ग—जिस प्रकार अस्तित्व गुण का घट से संसर्ग है उसी प्रकार अन्य गुणों का भी घट से संसर्ग है। इसलिए संसर्ग की दृष्टि से देखने पर अस्तित्व और इतरगुणों में कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। संसर्ग में भेद की प्रधानता होती है और अभेद की अप्रधानता। सम्बन्ध में अभेद की प्रधानता होती है और भेद की अप्रधानता।

शब्द—जिस प्रकार अस्तित्व का प्रतिपादन 'है' शब्द द्वारा होता है उसी प्रकार अन्य गुणों का प्रतिपादन भी 'है' शब्द से होता है। 'घट में अस्तित्व है,' 'घट में कृष्णत्व है,' 'घट में कठिनत्व है' इन सब वाक्यों में 'है' शब्द घट के विविध धर्मों को प्रकट करता है। जिस 'है' शब्द से अस्तित्व का प्रतिपादन होता है उसी 'है' शब्द से कृष्णत्व, कठिनत्व आदि धर्मों का भी प्रतिपादन होता है। अतः शब्द की दृष्टि से भी अस्तित्व और अन्य धर्मों में अभेद है। अस्तित्व की तरह प्रत्येक धर्म को लेकर सकलादेश का संयोजन किया जा सकता है।

सकलादेश के आधार पर जो सप्तभंगी बनती है उसे प्रमाणसप्तभंगी कहते हैं। विकलादेश की दृष्टि से जो सप्तभंगी बनती है वह नयसप्तभंगी है। सप्तभंगी क्या है? एक वस्तु में अविरोधपूर्वक विधि और प्रतिषेध की विकल्पना सप्तभंगी है।[१] प्रत्येक वस्तु में कोई भी धर्म विधि और निषेध उभयस्वरूप वाला होता है, यह हम देख चुके हैं। जब हम अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं तब नास्तित्व भी निषेधरूप से हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। जब हम सत् का प्रतिपादन करते हैं तब असत् भी सामने आ जाता है। जब हम नित्यत्व का कथन करते हैं तब अनित्यत्व भी निषेध रूप से सम्मुख उपस्थित हो जाता है। किसी भी वस्तु के विधि और निषेध रूप दो पक्ष वाले धर्म का बिना विरोध के प्रतिपादन करने से जो सात प्रकार के विकल्प बनते हैं वह सप्तभंगी है। विधि और निषेधरूप धर्म का वस्तु में कोई विरोध नहीं है।

१—प्रश्नवशादेकस्मिन वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, १।६

दोनों पक्ष एक ही वस्तु में अविरोध रूप से रहते हैं। यह दिखाने के लिए 'अविरोधपूर्वक' अंश का प्रयोग किया गया है।

घट के अस्तित्व धर्म को लेकर जो सप्तभंगी बनती है, वह इस प्रकार है :—

१—कथंचित् घट है।

२—कथंचित् घट नहीं है।

३—कथंचित् घट है और नहीं है।

४—कथंचित् घट अवक्तव्य है।

५—कथंचित् घट है और अवक्तव्य है।

६—कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है।

७—कथंचित् घट है, नहीं है और अवक्तव्य है।

प्रथम भंग विधि की कल्पना के आधार पर है। इसमें घट के अस्तित्व का विधिपूर्वक प्रतिपादन है।

दूसरा भंग प्रतिषेध की कल्पना को लिए हुए है। जिस अस्तित्व का प्रथम भंग में विधिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है उसी का इसमें निषेधपूर्वक प्रतिपादन है। प्रथम भंग में विधि की स्थापना की गई है। दूसरे में विधि का प्रतिषेध किया गया है।

तीसरा भंग विधि और निषेध दोनों का क्रमशः प्रतिपादन करता है। पहले विधि का ग्रहण करता है और बाद में निषेध का। यह भंग प्रथम और द्वितीय दोनों भंगों का संयोग है।

चौथा भंग विधि और निषेध का युगपत् प्रतिपादन करता है। दोनों का युगपत् प्रतिपादन होना वचन के सामर्थ्य के बाहर है, अतः इस भंग को अवक्तव्य कहा गया है।

पाँचवाँ भंग में विधि और युगपत् विधि और निषेध दोनों का प्रतिपादन करता है। प्रथम और चतुर्थ के संयोग से यह भंग बनता है।

छठे भंग निषेध और युगपत् विधि और निषेध दोनों का कथन है। यह भंग द्वितीय और चतुर्थ दोनों का संयोग है।

सातवाँ भंग क्रम से विधि और निषेध और युगपत् विधि और निषेध का प्रतिपादन करता है। यह तृतीय और चतुर्थ भंग का संयोग है।

प्रत्येक भंग को निश्चयात्मक समझना चाहिए, अनिश्चयात्मक या सन्देहात्मक नहीं। इसके लिए कई बार 'ही' (एव) का प्रयोग भी होता है जैसे कथंचित् घट है ही............आदि। वह 'ही' निश्चितरूप से घट का अस्तित्व प्रकट करता है। 'ही' का प्रयोग न होने पर भी प्रत्येक कथन को निश्चयात्मक ही समझना चाहिए। स्याद्वाद सन्देह या अनिश्चय का समर्थक नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। चाहे 'ही' का प्रयोग हो, चाहे न हो, किन्तु यदि कोई बचन-प्रयोग स्याद्वाद सम्बन्धी है तो यह निश्चित है कि वह 'ही' पूर्वक ही है। इसी प्रकार कथंचित् या स्यात् शब्द के विषय में भी समझना चाहिए। स्यात् का प्रयोग न होने पर भी वह अर्थात् समझ लिया जाता है[1]। यही स्याद्वाद या अनेकान्तवाद की विशेषता है।

'कथंचित् घट है' इसका क्या अर्थ है? किस अपेक्षा से घट है। स्वरूप की अपेक्षा से घट है और पररूप की अपेक्षा से घट नहीं है। सब स्वरूप की अपेक्षा से है और पररूप की अपेक्षा से नहीं है। यदि ऐसा न हो तो सब सत् हो जाए अथवा स्वरूप की कल्पना ही असम्भव हो जाए[2]। कोई भी पदार्थ स्वरूप की दृष्टि से सत् है और पररूप की दृष्टि से असत् है। यदि वह एकान्तरूप से सत् हो तो सर्वत्र और सर्वदा उपलब्ध होना चाहिए, क्योंकि वह हमेशा सत् है। जो हमेशा सत् होता है वह कदाचित् नहीं होता। स्वरूप क्या है और पररूप क्या है, इसका अनेक दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। हम कुछ दृष्टियों से यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि स्वरूप और पररूप का क्या अभिप्राय है? स्वरूप से क्या समझना चाहिए? पररूप का क्या अर्थ लेना चाहिए?

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से जिसकी विवक्षा होती है वह स्वरूप या स्वात्मा है। वक्ता के प्रयोजन के अनुसार अर्थ का ग्रहण

१—अप्रयुक्तो पि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः॥
—लघीयस्त्रय, २।५।६३

२—सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भवः॥

करना-स्वात्मा का ग्रहण कहलाता है। यह प्रयोजन भाषा के विविध प्रयोगों में झलकता है। एक शब्द प्रयोजन के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द का मोटे तौर पर चार अर्थों में विभाग किया जाता है। इसी अर्थ-विभाग को न्यास कहते हैं। ये विभाग हैं-नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। सामान्य तौर पर किसी का एक नाम रख देना नाम निक्षेप है। मूर्ति, चित्र आदि स्थापना निक्षेप है। भूत या भविष्यत् काल में रहने वाली योग्यता का वर्तमान में आरोप करना द्रव्य निक्षेप है। वर्तमान कालीन योग्यता का निर्देश भावनिक्षेप है। इन चारों निक्षेपों में रहने वाला जो विवक्षित अर्थ है वह स्वरूप अथवा स्वात्मा कहलाता है। स्वात्मा से भिन्न अर्थ परात्मा या पररूप है। विवक्षित अर्थ की दृष्टि से घट है और तदितर दृष्टि से घट नहीं है। यदि इतर दृष्टि से भी घट हो तो नामादि व्यवहार (निक्षेप) का उच्छेद हो जाय।

स्वरूप का दूसरा अर्थ यह है कि विवक्षित घट-विशेषका जो प्रतिनियत संस्थानादि है वह स्वात्मा है। दूसरे प्रकार का संस्थानादि परात्मा है। प्रतिनियत रूप से घट है। इतर रूप से नहीं। यदि इतर रूप से भी घट हो तो सब घटात्मक हो जाय। पट आदि किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व न रहे।

काल की अपेक्षा से भी स्वात्मा और परात्मा का अर्थ-ग्रहण होता है। घट की पूर्व और उत्तर काल में रहने वाली कुशूल, कपालादि अवस्थाएँ परात्मा हैं। तदन्तरालवर्ती अवस्था स्वात्मा है। घट कुशूल, कपालादिअन्तरालवर्ती अवस्था की दृष्टि से सत् है, कुशूल, कपालादि अवस्थाओं की दृष्टि से सत् नहीं है। यदि इन अवस्थाओं की दृष्टि से भी सत् होता तो उस समय ये भी उपलब्ध होतीं। कपालादि अवस्थाओं के लिए पुरुष को प्रयत्न न करना पड़ता।

स्वात्मा और परात्मा का एक अर्थ यह भी है कि प्रतिक्षणभावी द्रव्य की जो पर्यायोत्पत्ति है वह स्वात्मा है और अतीत एवं अनागत पर्यायविनाश तथा पर्यायोत्पत्ति है वह परात्मा है। प्रत्युत्पन्न पर्याय की अपेक्षा से घट है और अतीत एवं अनागत पर्याय की अपेक्षा से घट नहीं है। यदि अतीत एवं अनागत पर्यायों की अपेक्षा से घट सत् हो

एक ही क्षण में घट की सारी अवस्थाएँ उपलब्ध हो जाएँ। ऐसी अवस्था में अतीत, वर्तमान और अनागत का कोई भेद ही न रहे।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से स्वरूप और पररूप का विवेचन करना अनुचित न होगा। यद्यपि ऊपर के विवेचन में इनका समावेश हो जाता है, तथापि विशेष स्पष्टीकरण के लिए यह उपयोगी होगा। घट का द्रव्य मिट्टी है। जिस मिट्टी से घट बना है उसकी अपेक्षा से वह सत् है। अन्य द्रव्य की अपेक्षा से वह सत् नहीं है। क्षेत्र का अर्थ स्थान है। जिस स्थान पर घट है उस स्थान की अपेक्षा से वह सत् है। अन्य स्थानों की अपेक्षा से वह असत् है। काल के विषय में कहा जा चुका है। जिस समय घट है उस समय की अपक्षा से वह सत् है और उस समय से भिन्न समय की अपेक्षा से असत् है। भाव का अर्थ है पर्याय या आकार विशेष। जिस आकार या पर्याय का घट है उसकी अपेक्षा से वह सत् है। तदितर आकारों या पर्यायों की अपेक्षा से वह असत् है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से घट है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से घट नहीं है। कथंचित् या स्यात् शब्द का प्रयोग यही सूचित करने के लिए है। इससे प्रत्येक पदार्थ की मर्यादा का ज्ञान होता है। उसकी सीमा का पता लगता है। इसके अभाव में एकान्तवाद का भय रहता है। अनेकान्तवाद के लिए यह मर्यादा अनिवार्य है।

दोष–परिहार :

स्याद्वाद का क्या अर्थ है व उसका दर्शन के क्षेत्र में कितना महत्त्व है, यह दिखाने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। अब हम स्याद्वाद पर आने वाले कुछ आरोपों का निराकरण करना चाहते हैं। स्याद्वाद के वास्तविक अर्थ से अपरिचित बड़े-बड़े दार्शनिक भी उस पर मिथ्या आरोप लगाने से नहीं चूके। उन्होंने अज्ञानवश ऐसा किया या जानकर, यह कहना कठिन है। कैसे भी किया हो, किन्तु किया अवश्य। धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद को पागलों का प्रलाप कहा और जैनों को निर्लज्ज[1] बताया।

१—प्रमाणवार्तिक १।१८२-१८५

शान्तरक्षित ने भी यही बात कही। स्याद्वाद, जो कि सत् और असत्, एक और अनेक, भेद और अभेद, सामान्य और विशेष जैसे परस्पर विरोधी तत्त्वों को मिलाता है, पागल व्यक्ति की बौखलाहट है[1]। इसी प्रकार शंकर ने भी स्याद्वाद पर पागलपन का आरोप लगाया। एक ही श्वास उष्ण और शीत नहीं हो सकता। भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता, यथार्थता और अयथार्थता, सत् और असत्, अन्धकार और प्रकाश की तरह एक ही काल में एक ही वस्तु में नहीं रह सकते[2]। इसी प्रकार के अनेक आरोप स्याद्वाद पर लगाए गए है। हम जितने आरोप लगाये गए हैं अथवा लगाए जा सकते हैं उन सब का एक-एक करके निराकरण करने का प्रयत्न करेंगे।

१—विधि और निषेध परस्पर विरोधी धर्म हैं। जिस प्रकार एक ही वस्तु नील और अनील दोनों नहीं हो सकती, क्योंकि नीलत्व और अनीलत्व विरोधी वर्ण हैं, उसी प्रकार विधि और निषेध परस्पर विरोधी होने से एक ही वस्तु में नहीं रह सकते। इसलिए यह कहना विरोधी है कि एक ही वस्तु भिन्न भी है और अभिन्न भी है, सत् भी है और असत् भी है, वाच्य भी है और अवाच्य भी है। जो भिन्न है वह अभिन्न कैसे हो सकती है। जो एक है वह एक ही है, जो अनेक है वह अनेक ही है। इसी प्रकार अन्य धर्म भी पारस्परिक विरोध सहन नहीं कर सकते। स्याद्वाद इस प्रकार के विरोधी धर्मों का एकत्र समर्थन करता है। इसलिए वह सदोष है।

यह दोषारोपण मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थ अनुभव के आधार पर इसी प्रकार का सिद्ध होता है। एक दृष्टि से वह नित्य प्रतीत होता है और दूसरी दृष्टि से अनित्य। एक दृष्टि से एक मालूम होता है और दूसरी दृष्टि से अनेक। स्याद्वाद यह नहीं कहता कि जो नित्यता है वही अनित्यता है या जो एकता है वही अनेकता है। नित्यता और अनित्यता, एकता और अनेकता आदि धर्म परस्पर विरोधी हैं यह सत्य है, किन्तु उनका विरोध अपनी दृष्टि से है, वस्तु की दृष्टि से नहीं। वस्तु दोनों

१—तत्त्वसंग्रह ३११-३२७

२—शारीरकभाष्य २.२।३३

को आश्रय देती है। दोनों की सत्ता से ही वस्तु का स्वरूप पूर्ण होता है। एक के अभाव में पदार्थ अधूरा है। जब एक वस्तु द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य मालूम होती है तो उसमें विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं हैं। विरोध वहाँ होता है जहाँ विरोध की प्रतीति हो। विरोध की प्रतीति के अभाव में भी विरोध की कल्पना करना सत्य को चुनौती देना है। जैन ही नहीं, बौद्ध भी चित्रज्ञान में विरोध नहीं मानते। जब एक ही ज्ञान में चित्रवर्ण का प्रतिभास हो सकता है और उस ज्ञान में विरोध नहीं होता तो एक ही पदार्थ में दो विरोधी धर्मों की सत्ता मानने में क्या हानि है। नैयायिक चित्रवर्ण की सत्ता मानते ही हैं। एक ही वस्त्र में संकोच और विकास हो सकता है, एक ही वस्त्र रक्त और अरक्त हो सकता है, एक ही वस्त्र पिहित और अपिहित हो सकता है, ऐसी दशा में एक ही पदार्थ में भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता, एकता और अनेकता की सत्ता क्यों विरोधी है, यह समझ में नहीं आता। इसलिए स्याद्वाद पर यह आरोप लगाना कि वह परस्पर विरोधी धर्मों को एकत्र आश्रय देता है, मिथ्या है। स्याद्वाद प्रतीति को यथार्थ मानकर ही आगे बढ़ता है। प्रतीति में जैसा प्रतिभास होता है और जिसका दूसरी प्रतीति से खण्डन नहीं होता, वही निर्णय यथार्थ है—अव्यभिचारी है—अविरोधी है।

२—यदि वस्तु भेद और अभेद उभयात्मक है तो भेद का आश्रय भिन्न होगा और अभेद का आश्रय उससे भिन्न। ऐसी दशा में वस्तु की एकरूपता समाप्त हो जाएगी। एक ही वस्तु द्विरूप हो जाएगी।

यह दोष भी निराधार है। भेद और अभेद का भिन्न-भिन्न आश्रय मानने की कोई आवश्यकता नहीं। जो वस्तु भेदात्मक है वही वस्तु अभेदात्मक है। उसका जो परिवर्तन धर्म है, वह भेद की प्रतीति का कारण है। उसका जो ध्रौव्य धर्म है, वह अभेद की प्रतीति का कारण है। ये दोनों धर्म अखण्ड वस्तु के धर्म हैं। ऐसा कहना ठीक नहीं कि वस्तु का एक अंश भेद या परिवर्तन धर्म वाला है और दूसरा अंश अभेद या ध्रौव्य धर्मयुक्त है। वस्तु के टुकड़े-टुकड़े करके अनेक धर्मों की सत्ता स्वीकृत करना स्याद्वादी को इष्ट नहीं। जब हम वस्त्र को संकोच और विकासशील कहते हैं, तब हमारा तात्पर्य एक ही वस्त्र से होता है।

वही वस्त्र संकोचशाली होता है और वही विकासशाली। यह नहीं कि उसका एक हिस्सा संकोच धर्म वाला है और दूसरा हिस्सा विकास धर्म वाला है। वस्तु के दो अलग अलग विभाग करके भेद और अभेद रूप दो भिन्न भिन्न धर्मों के लिए दो भिन्न भिन्न आश्रयों की कल्पना करना स्याद्वाद की मर्यादा से बाहर है। वह तो एकरूप वस्तु को ही अनेक धर्मयुक्त मानता है।

३—वह धर्म जिसमें भेद की कल्पना की जाती है और वह धर्म जिसमें अभेद को स्वीकृत किया जाता है, दोनों का क्या सम्बन्ध होगा? दोनों परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न? भिन्न मानने पर पुनः यह प्रश्न उठता है कि वह भेद जिसमें रहता है उससे वह भिन्न है या अभिन्न? इस प्रकार अनवस्था का सामना करना पड़ेगा। अभिन्न मानने पर भी यही दोष आता है। यह अभेद जिसमें रहेगा वह उससे भिन्न है अभिन्न? दोनों अवस्थाओं में पुनः सम्बन्ध का प्रश्न खड़ा होता है। इस प्रकार किसी भी अवस्था में अनवस्था से मुक्ति नहीं मिल सकती।

अनवस्था के नाम पर यह दोष भी स्याद्वाद के सिर पर नहीं मढ़ा जा सकता। जैनदर्शन यह नहीं मानता कि भेद अलग है और वह भेद जिसमें रहता है वह धर्म अलग है। इसी प्रकार जैन दर्शन यह भी नहीं मानता कि अभेद भिन्न है और अभेद जिसमें रहता है वह धर्म उससे भिन्न है। वस्तु के परिवर्तनशील स्वभाव को ही भेद कहते हैं और उसके अपरिवर्तनशील स्वभाव का नाम ही अभेद है। भेद नामक कोई भिन्न पदार्थ आकर उससे सम्बन्धित होता हो और उसके सम्बन्ध से वस्तु में भेद की उत्पत्ति होती हो, यह बात नहीं है। इसी प्रकार अभेद भी कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, जो किसी सम्बन्ध से वस्तु में रहता हो। वस्तु स्वयं ही भेदाभेदात्मक है। ऐसी दशा में इस प्रकार के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। जब सम्बन्ध का प्रश्न ही व्यर्थ है तब अनवस्था दोष की व्यर्थता स्वतः सिद्ध है, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

४—जहाँ भेद है वहीं अभेद है और जहाँ अभेद है वहीं भेद है। भेद और अभेद का भिन्न-भिन्न आश्रय न होने से दोनों एकरूप जाएँगे। भेद और अभेद की एकरूपता का अर्थ होगा संकर

स्याद्वाद को संकर दोष का सामना तब करना पड़ता, जब भेद अभेद हो जाता या अभेद भेद हो जाता। आश्रय एक होने का अर्थ यह नहीं होता कि आश्रित भी एक हो जाएँ। एक ही आश्रय में अनेक आश्रित रह सकते हैं। एक ही ज्ञान में चित्रवर्ण का प्रतिभास होता है[1], फिर भी सब वर्ण एक नहीं हो जाते। एक ही वस्तु में सामान्य और विशेष दोनों रहते हैं[2], फिर भी सामान्य और विशेष एक नहीं हो जाते। भेद और अभेद का आश्रय एक ही पदार्थ है, किन्तु वे दोनों एक नहीं हैं। यदि वे एक होते तो एक ही की प्रतीति होती, दोनों की नहीं। जब दोनों की भिन्न भिन्न रूप में प्रतीति होती है, तब उन्हें एकरूप कैसे कहा जा सकता है ?

५—जहाँ भेद है वहाँ अभेद भी है और जहाँ अभेद है वहाँ भेद भी है। दूसरे शब्दों में जो भिन्न है वह अभिन्न भी है और जो अभिन्न है वह भिन्न भी है। भेद और अभेद दोनों परस्पर बदले जा सकते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि स्याद्वाद को व्यतिकर दोष का सामना करना पड़ेगा।

जिस प्रकार संकर दोष स्याद्वाद पर नहीं लगाया जा सकता, उसी प्रकार व्यतिकर दोष भी स्याद्वाद का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। दोनों धर्म स्वतन्त्ररूप से वस्तु में रहते हैं और उनकी प्रतीति उभयरूप से होती है। ऐसी दशा में व्यतिकर दोष की कोई सम्भावना नहीं। जब भेद की प्रतीति स्वतन्त्र है और अभेद की स्वतन्त्र, तब भेद और अभेद के परिवर्तन की आवश्यकता ही क्या है ! ऐसी स्थिति में व्यतिकर दोष का कोई अर्थ नहीं। भेद का भेद रूप से और अभेद का अभेद रूप से ग्रहण करना, यही स्याद्वाद का अर्थ है। अतः यहाँ व्यतिकर जैसी कोई चीज ही नहीं है।

६—तत्त्व भेदाभेदात्मक होने से किसी निश्चित धर्म का निर्णय नहीं होने पाएगा। जहाँ किसी निश्चित धर्म का निर्णय नहीं होगा वहाँ संशय उत्पन्न हो जाएगा, और जहाँ संशय होगा वहाँ तत्त्व का ज्ञान ही नहीं होगा।

१—बौद्ध
२—नैयायिक-वैशेषिक

यह दोष भी व्यर्थ है। भेदाभेदात्मक तत्त्व का भेदाभेदात्मक ज्ञान होना संशय नहीं है। संशय तो वहाँ होता है जहाँ यह निर्णय न हो कि तत्त्व भेदात्मक है या अभेदात्मक है या भेद और अभेद उभयात्मक है? जब यह निर्णय हो रहा है कि तत्त्व भेद और अभेद उभयात्मक है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि किसी निश्चित धर्म का निर्णय नहीं होगा। जहाँ निश्चत धर्म का निर्णय है वहाँ संशय पैदा नहीं हो सकता। जहाँ संशय नहीं वहाँ तत्त्वज्ञान होने में कोई बाधा नहीं। इसलिए संशयाश्रित जितने भी दोष हैं, स्याद्वाद के लिए सब निरर्थक हैं। ये दोष स्याद्वाद पर नहीं लगाए जा सकते।

७—स्याद्वाद एकान्तवाद के बिना नहीं रह सकता। स्याद्वाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु या धर्म सापेक्ष है। सापेक्ष धर्मों के मूल में जब तक कोई ऐसा तत्त्व न हो, जो सब धर्मों को एक सूत्र में बाँध सके, तब तक वे धर्म टिक ही नहीं सकते। उन को एकता के सूत्र में बांधने वाला कोई-न-कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए, जो स्वयं निरपेक्ष हो। ऐसे निरपेक्ष तत्त्व की सत्ता मानने पर, स्याद्वाद का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, खण्डित हो जाता है।

स्याद्वाद जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही देखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। सब पदार्थों या धर्मों में एकता है, इसे स्याद्वाद मानता है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं में अभेद मानना स्याद्वाद को अभीष्ट है। स्याद्वाद यह नहीं कहता कि अनेक धर्मों में कोई एकता नहीं है। विभिन्न वस्तुओं को एक सूत्र में बांधने वाला अभेदात्मक तत्त्व अवश्य है, किन्तु ऐसे तत्त्व को मानने का यह अर्थ नहीं कि स्याद्वाद एकान्तवाद हो गया। स्याद्वाद एकान्तवाद तब होता जब वह भेद का खण्डन करता – अनेकता का तिरस्कार करता। अनेकता में एकता मानना स्याद्वाद को प्रिय है, किन्तु अनेकता का निषेध करके एकता को स्वीकृत करना, उसकी मर्यादा से बाहर है। 'सर्वमेकं सदविशेषात्' अर्थात् सब एक है, क्योंकि सब सत् है--इस सिद्धान्त को मानने के लिए स्याद्वाद तैयार है, किन्तु अनेकता का निषेध करके नहीं, अपितु उसे स्वीकृत करके। एकान्तवाद अनेकता का निषेध करता है–अनेकता को अयथार्थ मानता है–भेद को मिथ्या कहता है, जब कि अनेकान्तवाद एकता के साथ-साथ अनेकता को भी

यथार्थ मानता है। एकतामूलक यह तत्त्व एकान्तरूप से निरपेक्ष है, यह नहीं कहा जा सकता। एकता अनेकता के बिना नहीं रह सकती, और अनेकता एकता के अभाव में नहीं रह सकती। एकता और अनेकता इस प्रकार मिली हुई हैं कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में एकता को सर्वथा निरपेक्ष कहना युक्तियुक्त नहीं। एकता अनेकताश्रित है और अनेकता एकताश्रित है। दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखती हैं। एकता के बिना अनेकता का काम नहीं चल सकता और अनेकता के बिना एकता कुछ नहीं कर सकती। तत्त्व एकता और अनेकता दोनों का मिला-जुला रूप है। उसे न तो एकान्तरूप से एक कह सकते हैं और न एकान्ततः अनेक। वह एक भी है और अनेक भी। इसलिए एकता को वास्तविक मानते हुए भी स्याद्वाद को एकान्तवाद या निरपेक्षवाद का कोई भय नहीं है।

८—यदि प्रत्येक वस्तु कथंचित यथार्थ है और कथंचित् अयथार्थ तो स्याद्वाद स्वयं भी कथंचित् सत्य होगा और कथंचित् मिथ्या। ऐसी स्थिति में स्याद्वाद ही से तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो सकता है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

स्याद्वाद तत्त्व का विश्लेषण करने की एक दृष्टि है। अनेकान्तात्मक तत्त्व को अनेकान्तात्मक दृष्टि से देखने का नाम ही स्याद्वाद है ! जो वस्तु जिस रूप में यथार्थ है उसे उस रूप में यथार्थ मानना और तदितर रूप में अयथार्थ मानना स्याद्वाद है। स्याद्वाद स्वयं भी यदि किसी रूप में अयथार्थ या मिथ्या है तो वैसा मानने में कोई हर्ज नहीं। यदि हम एकान्तवादी दृष्टिकोण लें और स्याद्वाद की ओर देखें तो वह भी मिथ्या प्रतीत होगा। अनेकान्त दृष्टि से देखने पर स्याद्वाद सत्य प्रतीत होगा। दोनों दृष्टियों को सामने रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि स्याद्वाद कथंचित् मिथ्या है अर्थात् एकान्तदृष्टि की अपेक्षा से मिथ्या है और कथंचित् सत्य है अर्थात् अनेकान्तदृष्टि की अपेक्षा से सत्य है। जिसका जिस दृष्टि से जैसा प्रतिपादन हो सकता है उस दृष्टि से वैसा प्रतिपादन करने के लिए स्याद्वाद तैयार है। इसमें उसका कुछ नहीं बिगड़ता। जब हम यह कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से सत् है, और पररूप से असत् है, तो हम यह भी कह सकते हैं कि स्याद्वाद स्वरूप से अर्थात्

अनेकान्तरूप से सत् है--यथार्थ है और पररूप से अर्थात् एकान्तरूप से असत् है--अयथार्थ है। हमारा यह कथन भी स्याद्वाद ही है। दूसरे शब्दों में स्याद्वाद को कथंचित् यथार्थ और कथंचित् अयथार्थ कहना भी स्याद्वाद ही है।

९—सप्तभंगी के पीछे के तीन भंग व्यर्थ हैं, क्योंकि वे केवल दो भंगों के योग से बनते हैं। इस प्रकार योग से ही संख्या बढ़ाना हो तो सात क्या अनन्त भंग बन सकते हैं।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि मूलतः एक धर्म को लेकर दो पक्ष बनते हैं--विधि और निषेध। प्रत्येक धर्म का या तो विधान होगा या प्रतिषेध। ये दोनों भंग मुख्य हैं। बाकी के भङ्ग विवक्षाभेद से बनते हैं। तीसरा और चौथा दोनों भङ्ग भी स्वतन्त्र नहीं हैं। विधि और निषेध की क्रम से विवक्षा होने पर तीसरा भङ्ग बनता है और युगपत् विवक्षा होने पर चौथा भङ्ग बनता है। इसी प्रकार विधि की और युगपत् विधि और निषेध की विवक्षा होने पर पाँचवाँ भङ्ग बनता है। आगे के भङ्गों का भी यही क्रम है। यह ठीक है कि जैनाचार्यों ने सात भङ्गों पर ही जोर दिया, और सात भङ्ग ही क्यों होते हैं, कम या अधिक क्यों नहीं होते, इसे सिद्ध करने के लिए अनेक हेतु भी दिए, किन्तु जैनदर्शन की मौलिक समस्या सात की नहीं, दो की है। बौद्ध दर्शन और वेदान्त में जिन चार कोटियों पर भार दिया जाता है, वह भी सप्तभङ्गी की तरह ही है। उसमें भी मूल रूप में दो ही कोटियाँ हैं। तीसरी और चौथी कोटि में मौलिकता नहीं है। कोई यह कह सकता है कि दो भङ्गों को भी मुख्य क्यों माना जाय, एक ही भङ्ग मुख्य है। यह ठीक नहीं, क्योंकि यह हम देख चुके हैं कि वस्तु न तो सर्वथा सत् या विध्यात्मक हो सकती है, न सर्वथा असत् या निषेधात्मक। विधि और निषेध दोनों रूपों में वस्तु की पूर्णता रही हुई है। न तो विधि निषेध से बलवान् है और न निषेध विधि से शक्तिशाली है : दोनों समान रूप से वस्तु की यथार्थता के प्रति कारण हैं। वस्तु का पूर्णरूप देखने के लिए दोनों पक्षों की सत्ता मानना आवश्यक है। इसलिए पहले के दो भङ्ग मुख्य हैं। हाँ, यदि कोई ऐसा कथन हो, जिसमें विधि और निषेध का समानरूप से प्रतिनिधित्व हो, दोनों में से किसी का भी निषेध न हो, तो उसको मुख्य मानने में जैन दर्शन को

कोई आपत्ति नहीं। वस्तु का विश्लेषण करने पर प्रथम दो भङ्ग अवश्य स्वीकृत करने पड़ते हैं। विवक्षाभेद से २३ भङ्गों की रचना भगवतीसूत्र में पहले देख ही चुके हैं।

१०—स्याद्वाद को मानने वाले केवलज्ञान की सत्ता में विश्वास नहीं रख सकते, क्योंकि केवलज्ञान एकान्तरूप से पूर्ण होता है। उसकी उत्पत्ति के लिए बाद में किसी की अपेक्षा नहीं रहती।

स्याद्वाद और केवलज्ञान में तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। केवली वस्तु को जिस रूप से जानेगा, स्याद्वादी भी उसे उसी रूप से जानेगा। अन्तर यह है कि केवली जिस तत्त्व को साक्षात् जानेगा--प्रत्यक्ष ज्ञान से जानेगा, स्याद्वादी छद्मस्थ उसे परोक्षरूप से जानेगा—श्रुतज्ञान के आधार से जानेगा। केवलज्ञान पूर्ण होता है, इसका अर्थ यही है कि वह साक्षात् आत्मा से होता है और उस ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा की सम्भावना नहीं है। पूर्णता का यह अर्थ नहीं कि वह एकान्तवादी हो गया। तत्त्व को तो वह सापेक्ष-अनेकान्तात्मक रूप में ही देखेगा। इतना ही नहीं, उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों धर्म रहते हैं। काल जैसे पदार्थ में परिवर्तन करता है वैसे ही केवलज्ञान में भी परिवर्तन करता है। जैन-दर्शन केवलज्ञान को कूटस्थनित्य नहीं मानता। किसी वस्तु की भूत, वर्तमान और अनागत-ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। जो अवस्था आज अनागत है वह कल वर्तमान होती है। जो आज वर्तमान है वह कल भूत में परिणत होती है। केवलज्ञान आज की तीन प्रकार की अवस्थाओं को आज की दृष्टि से जानता है। कल का जानना आज से भिन्न हो जाएगा, क्योंकि आज जो वर्तमान है कल वह भूत होगा और आज जो अनागत है कल वह वर्तमान होगा। यह ठीक है कि केवली तीनों कालों को जानता है, किन्तु जिस पर्याय को उसने कल भविष्यत् रूप से जाना था उसे आज वर्तमान रूप से जानता है। इस प्रकार काल—भेद से केवली के ज्ञान में भी भेद आता रहता है। वस्तु की अवस्था के परिवर्तन के साथ-साथ ज्ञान की अवस्था भी बदलती रहती है। इसलिए केवलज्ञान भी कथंचित् अनित्य है और कथंचित् नित्य। स्याद्वाद और केवलज्ञान में विरोध की कोई सम्भावना नहीं।

महावीर ने केवलज्ञान होने के पहले चित्र—विचित्र पंख वाले एक बड़े पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखा। इस स्वप्न का विश्लेषण करने पर स्याद्वाद फलित हुआ। पुंस्कोकिल के चित्रविचित्र पंख अनेकान्तवाद के प्रतीक हैं। जिस प्रकार जैनदर्शन में वस्तु की अनेकरूपता की स्थापना स्याद्वाद के आधार पर की गई, उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में विभज्यवाद के नाम पर इसी प्रकार का अंकुर प्रस्फुटित हुआ, किन्तु उचित मात्रा में पानी और हवा न मिलने के कारण वह मुरझा गया और अन्त में नष्ट हो गया। स्याद्वाद को समय-समय पर उपयुक्त सामग्री मिलती रही; जिससे वह आज दिन तक बराबर बढ़ता रहा। भेदाभेदवाद, सदसद्वाद, नित्यानित्यवाद, निर्वचनीयानिर्वचनीयवाद, एकानेकवाद, सदसत्कार्यवाद आदि जितने भी दार्शनिक वाद हैं सबका आधार स्याद्वाद है, जैन दर्शन के आचार्यों ने इस सिद्धान्त की स्थापना का युक्तिसंगत प्रयत्न किया। आगमों में इसका काफी विकास दिखाई देता हैं। जैनदर्शन में स्याद्वाद का इतना अधिक महत्त्व है कि आज स्याद्वाद जैनदर्शन का पर्याय बन गया है। जैनदर्शन का अर्थ स्याद्वाद के रूप में लिया जाता है। जहाँ जैनदर्शन का नाम आता है, अन्य सिद्धान्त एक ओर रह जाते हैं और स्याद्वाद या अनेकान्तवाद याद आ जाता है। वास्तव में स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है। जैन आचार्यो के सारे दार्शनिक चिन्तन का आधार स्याद्वाद है।

सात:

नयवाद

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि
द्रव्यार्थिक और प्रदेशार्थिक दृष्टि
व्यावहारिक और नैश्चयिक दृष्टि
अर्थनय और शब्दनय
नय के भेद
नयों का पारस्परिक सम्बन्ध

नयवाद

श्रुत के दो उपयोग होते हैं—सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश को प्रमाण या स्याद्वाद कहते हैं। विकलादेश को नय कहते हैं। धर्मान्तर की अविवक्षा से एक धर्म का कथन, विकलादेश कहलाता है। स्याद्वाद या सकलादेश द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का कथन होता है। नय अर्थात् विकलादेश द्वारा वस्तु के एक देश का कथन होता है। सकलादेश में वस्तु के समस्त धर्मों की विवक्षा होती है। विकलादेश में एक धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की विवक्षा नहीं होती। विकलादेश इसीलिए सम्यक् माना जाता है कि वह अपने विवक्षित धर्म के अतिरिक्त जितने भी धर्म हैं उनका प्रतिषेध नहीं करता, अपितु उन धर्मों के प्रति उसका उपेक्षाभाव होता है। शेष धर्मों से उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। प्रयोजन के अभाव में वह उन धर्मों का न तो विधान करता है और न निषेध। सकलादेश और विकलादेश दोनों की दृष्टि में साकल्य और वैकल्य का अन्तर

है। सकलादेश की विवक्षा सकल धर्मों के प्रति है, जब कि विकलादेश की विवक्षा विकल धर्म के प्रति है। यद्यपि दोनों यह जानते हैं कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है—अनेकान्तात्मक है, किन्तु दोनों के कथन की मर्यादा भिन्न-भिन्न है। एक का कथन वस्तु के सभी धर्मों का ग्रहण करता है, जबकि दूसरे का कथन वस्तु के एक धर्म तक ही सीमित है। अनेकान्तात्मक वस्तु के कथन की दो प्रकार की मर्यादा के कारण स्याद्वाद और नय का भिन्न-भिन्न निरूपण है। स्याद्वाद सकलादेश है और नय विकलादेश है[1]।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि:

वस्तु के निरूपण की जितनी भी दृष्टियाँ हैं, दो दृष्टियों में विभाजित की जा सकती हैं। वे दो दृष्टियाँ हैं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक दृष्टि में सामान्य या अभेदमूलक समस्त दृष्टियों का समावेश हो जाता है। विशेष या भेदमूलक जितनी भी दृष्टियाँ हैं सब का समावेश पर्यायार्थिक दृष्टि में हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन ने इन दोनों दृष्टियों का समर्थन करते हुए कहा कि भगवान् महावीर के प्रवचन में मूलतः दो ही दृष्टियाँ हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। शेष सभी दृष्टियाँ इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ हैं[2]। महावीर का इन दो दृष्टियों से क्या अभिप्राय है, यह भी आगमों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। भगवती सूत्र में नारक जीवों की शाश्वतता और अशाश्वतता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि अव्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से नारक जीव शाश्वत है, और व्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से वह अशाश्वत है।[3] अव्युच्छित्तिनय द्रव्यार्थिक दृष्टि का ही नाम है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर प्रत्येक पदार्थ नित्य मालूम होता है। इसीलिए द्रव्यार्थिक दृष्टि अभेदगामी है—सामान्यमूलक है—अन्वयपूर्वक है। व्युच्छित्तिनय का दूसरा नाम है पर्यायार्थिक दृष्टि। पर्यायदृष्टि से देखने पर वस्तु अनित्य

१—'स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा'।
—लघीयस्त्रय, ३।६।६२

२—सन्मति तर्क प्रकरण, १।३

३—७।२।२७६

मालूम होती है–अशाश्वत प्रतीत होती है। इसीलिए पर्यायार्थिक दृष्टि भेदगामी है—विशेषमूलक है। हम किसी भी दृष्टि को लें, वह या तो भेदमूलक होगी या अभेदमूलक, या तो विशेषमूलक होगी या सामान्यमूलक। उक्त दो प्रकारों को छोड़कर वह अन्यत्र कहीं नहीं जा सकती। इसलिए मूलत: द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही दृष्टियां हैं, और इन दो दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करने वाले दो नय हैं। अन्य दृष्टियाँ इन्हीं के भेद-प्रभेद-शाखा-प्रशाखाओं के रूप में हैं।

द्रव्यार्थिक और प्रदेशार्थिक दृष्टि :

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि की भाँति द्रव्यार्थिक और प्रदेशार्थिक दृष्टि से भी पदार्थ का कथन हो सकता है। द्रव्यार्थिक दृष्टि एकता का प्रतिपादन करती है, यह हम देख चुके हैं। प्रदेशार्थिक दृष्टि अनेकता को अपना विषय बनाती है। पर्याय और प्रदेश में यह अन्तर है कि पर्याय द्रव्य की देश और कालकृत नाना अवस्थाएँ हैं। एक ही द्रव्य देश और काल के भेद से विविध रूपों में परिवर्तित होता रहता है। इसके विविध रूप ही विविध पर्याय हैं। द्रव्य के अवयव प्रदेश कहे जाते हैं। एक द्रव्य के अनेक अंश हो सकते हैं। एक-एक अंश एक-एक प्रदेश कहलाता है। पुद्गल का एक परमाणु जितना स्थान घेरता है वह एक प्रदेश है। जैन दर्शन के अनुसार कुछ द्रव्यों के प्रदेश नियत हैं और कुछ के अनियत। जीवके प्रदेश सर्व देश और सर्व काल में नियत हैं। उनकी संख्या न कभी बढ़ती है, न कभी घटती है। वे जिस शरीर को व्याप्त करते हैं उसका परिणाम घट-बढ़ सकता है, किन्तु प्रदेशों की संख्या उतनी ही रहती है। यह कैसे हो सकता है, इसका समाधान करने के लिए दीपक का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे एक ही दीपक के उतने ही प्रदेश छोटे कमरे में भी आ सकते हैं और बड़े कमरे में भी, उसी प्रकार एक ही आत्मा के उतने ही प्रदेश छोटे शरीर को भी व्याप्त कर सकते हैं और बड़े शरीर को भी। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के प्रदेश तो नियत हैं। पुद्गलास्तिकाय के प्रदेशों का कोई निश्चित नियम नहीं। उनमें स्कन्ध के अनुसार

न्यूनाधिकता होती रहती है। पर्याय के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। वे नियत संख्या में नहीं मिलते। जिस प्रकार पर्यायदृष्टि से भगवान् महावीर ने वस्तु का विचार किया है उसी प्रकार प्रदेश दृष्टि से भी पदार्थ का चिन्तन किया है। उन्होंने कहा है कि मैं द्रव्य दृष्टि से एक हूँ, ज्ञान और दर्शनरूप पर्यायों की दृष्टि से दो हूँ, प्रदेशों की दृष्टि से अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ। यहाँ पर महावीर ने प्रदेश दृष्टि का उपयोग एकता की सिद्धि के लिए किया है। संख्या की दृष्टि से प्रदेश नियत हैं, अतः उस दृष्टि से आत्मा अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है। प्रदेशदृष्टि का उपयोग अनेकता की सिद्धि के लिए भी किया जाता है। द्रव्यदृष्टि से वस्तु एकरूप मालूम होती है, किन्तु वही वस्तु प्रदेशदृष्टि से अनेकरूप दिखाई देती है, क्योंकि प्रदेश अनेक हैं। आत्मा द्रव्य दृष्टि से एक है, किन्तु प्रदेश दृष्टि से अनेक है, क्योंकि उसके अनेक प्रदेश हैं। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय द्रव्यदृष्टि से एक है, किन्तु प्रदेशदृष्टि से अनेक है। अन्य द्रव्यों के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए। जब किसी वस्तु का द्रव्यदृष्टि से विचार किया जाता है तब द्रव्यार्थिक नय का उपयोग किया जाता है। प्रदेशदृष्टि से विचार करते समय प्रदेशार्थिक नय काम में लाया जाता है।

व्यावहारिक और नैश्चयिक दृष्टि :

व्यवहार और निश्चय का झगड़ा बहुत पुराना है। जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है उसी रूप में वह सत्य है या किसी अन्य रूप में? कुछ दार्शनिक वस्तु के दो रूप मानते हैं—प्रातिभासिक और पारमार्थिक। चार्वाक आदि दार्शनिक प्रतिभास और परमार्थ में किसी प्रकार का भेद नहीं करते। उनकी दृष्टि में इन्द्रियगम्य तत्त्व पारमार्थिक है। महावीर ने वस्तु के दोनों रूपों का समर्थन किया और अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों को यथार्थ बताया। इन्द्रियगम्य वस्तु का स्थूल रूप व्यवहार की दृष्टि से यथार्थ है। इस स्थूल रूप के अतिरिक्त वस्तु का सूक्ष्म रूप भी होता है, जो इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। वह केवल श्रुत या आत्मप्रत्यक्ष का विषय होता है। यही नैश्चयिक दृष्टि है। व्यावहारिक दृष्टि और नैश्चयिक दृष्टि

में यही अन्तर है कि व्यावहारिक दृष्टि इन्द्रियाश्रित है, अतः स्थूल है, जब कि नैश्चयिक दृष्टि इन्द्रियातीत है, अतः सूक्ष्म है। एक दृष्टि से पदार्थ के स्थूल रूप का ज्ञान होता है, और दूसरी से पदार्थ के सूक्ष्म रूप का। दोनों दृष्टियाँ सम्यक् हैं। दोनों यथार्थता का ग्रहण करती हैं।

महावीर और गौतम के बीच एक संवाद है। गौतम महावीर से पूछते हैं—"भगवन् ! पतले गुड (फाणित) में कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं !' महावीर उत्तर देते हैं—गौतम ! इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से दिया जा सकता है। व्यावहारिक नय की दृष्टि से वह मधुर है और नैश्चयिक नय की अपेक्षा से वह पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श वाला है। इसी प्रकार गन्ध, स्पर्श आदि से सम्बन्धित अनेक विषयों को लेकर व्यवहार और निश्चय नय से उत्तर दिया है[1]। इन दो दृष्टियों से उत्तर देने का कारण यह है कि वे व्यवहार को भी सत्य मानते थे। परमार्थ के आगे व्यवहार की उपेक्षा नहीं करना चाहते थे। व्यवहार और परमार्थ दोनों दृष्टियों को समान रूप से महत्त्व देते थे।

अर्थनय और शब्दनय :

आगमों में सात नयों का उल्लेख है[2]। अनुयोगद्वारसूत्र में शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत को शब्दनय कहा गया है[3]। बाद के दार्शनिकों ने सात नयों के स्पष्ट रूप से दो विभाग कर दिए-अर्थनय और शब्दनय। आगम में जब तीन नयों को शब्दनय कहा गया, तो शेष चार नयों को अर्थनय कहना युक्तिसंगत ही है। जो नय अर्थ को अपना विषय बनाते हैं, वे अर्थनय हैं। प्रारम्भ के चार नय नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थ को विषय करते हैं, अतः वे अर्थनय हैं। अन्तिम तीन नय शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत शब्द को विषय करते हैं, अतः वे शब्दनय हैं। इन सातों नयों के

१—भगवती सूत्र १८।६
२—अनुयोगद्वारसूत्र, १५६, स्थानांग सूत्र,७।५५२
३—'तिहं सद्दनयाणं' अनुयोगद्वारसूत्र १४८।

स्वरूप का विश्लेषण करते समय मालूम हो जाएगा कि नैगमादि चार का विषय अर्थ क्यों है, और शब्दादि तीन का विषय शब्द क्यों है ? अर्थनय और शब्दनय के भेद की यह सूझ नई नहीं है। आगमों में इसका उल्लेख है।

नय के भेद :

नय की मुख्य दृष्टियाँ क्या हो सकती हैं, यह हमने देखा। अब हम उसके भेदों का विचार करेंगे। आचार्य सिद्धसेन[1] ने लिखा है कि "वचन के जितने भी प्रकार या मार्ग हो सकते हैं, नय के उतने ही भेद हैं। जितने नय के भेद हैं, उतने ही मत हैं।" इस कथन को यदि ठीक माना जाय तो नय के अनन्त प्रकार हो सकते हैं। इन अनन्त प्रकारों का वर्णन हमारी शक्ति की मर्यादा के बाहर है। मोटे तौर पर नय के कितने भेद होते हैं, यह बताने का प्रयत्न जैनदर्शन के आचार्यों ने किया है। यह तो हम देख चुके हैं कि द्रव्य और पर्याय में सारे भेद समा जाते हैं। द्रव्य और पर्यायों को अधिक स्पष्ट करने के लिए उनके अवान्तर भेद किये गये हैं। इन भेदों की संख्या के विषय में कोई निश्चित परम्परा नहीं है। जैन-दर्शन के इतिहास को देखने पर हमें एतद्विषयक तीन परम्पराएं मिलती हैं। एक परम्परा सीधे तौर पर नय के सात भेद करती है। ये सात भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। आगम और दिगम्बर ग्रन्थ इस परम्परा का पालन करते हैं।[2] दूसरी परम्परा नय के छः भेद मानती है। इस परम्परा के अनुसार नैगम स्वतन्त्र नय नहीं है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस परम्परा की स्थापना की है।[3] तीसरी परम्परा तत्त्वार्थ सूत्र और उसके भाष्य की है।[4] इस परम्परा के अनुसार मूलरूप में नय के पाँच भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। इनमें से

१—जावइया वयणवहा, तावइया चेव होंति नयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया॥
—सन्मति तर्क प्रकरण ३।४७

२—स्थानांग सूत्र, ७।५५२, तत्त्वार्थराजवार्तिक १।३३

३—सन्मति तर्क में नय प्रकरण ४—१।३४-३५

प्रथम अर्थात् नैगम नय के देश-परिक्षेपी और सर्व परिक्षेपी इस प्रकार के दो भेद हो जाते हैं, तथा अन्तिम अर्थात् शब्दनय के सांप्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत ऐसे तीन भेद हैं। सात भेदों वाली परम्परा अधिक प्रसिद्ध है अतः नैगमादि सात भेदों के स्वरूप का विवेचन किया जायगा।

नैगम—गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान्, क्रिया और कारक आदि में भेद और अभेद की विवक्षा करना, नैगम नय है। गुण और गुणी कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न। इसी प्रकार अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान् आदि में भी कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद। किसी समय हमारी विवक्षा भेद की ओर होती है, किसी समय अभेद की ओर। जिस समय हमारी विवक्षा भेद की ओर होती है उस समय अभेद गौण हो जाता है, और जिस समय हमारा प्रयोजन अभेद से होता है उस समय भेद गौण हो जाता है। भेद और अभेद का गौण और प्रधान भाव से ग्रहण करना, नैगम नय है। दूसरे शब्दों में भेद का ग्रहण करते समय अभेद को गौण समझना और भेद को मुख्य समझना, और अभेद का ग्रहण करते समय भेद को गौण समझना और अभेद को मुख्य समझना, नैगम है[1]। उदाहरण के लिए गुण और गुणी को लें। जीव गुणी है और सुख उसका गुण है। 'जीव सुखी है' इस कथन में कभी जीव और सुख के अभेद की प्रधानता होती है और भेद की अप्रधानता, कभी भेद की प्रधानता होती है और अभेद की अप्रधानता। दोनों विवक्षाओं का ग्रहण नैगम नय है। कभी एक प्रधान होती है तो कभी दूसरी, किन्तु होना चाहिए दोनों का ग्रहण। केवल एक का ग्रहण होने पर नैगम नहीं होता। दोनों का ग्रहण होने से यह सकलादेश हो जाएगा, क्योंकि सकलादेश में सम्पूर्ण वस्तु का कथन होता है, और वस्तु भेद और अभेद उभय रूप से ही सम्पूर्ण है। जब नैगम नय भेद और अभेद दोनों का

१—अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात्।
नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते॥
—लघीयस्त्रय २।५।३९

ग्रहण करता है, तो वह सम्पूर्ण वस्तु का ग्रहण करता है, यह स्वतः सिद्ध है। यह शंका ठीक नहीं। सकलादेश में प्रधान और गौण भाव नहीं होता। वह समान रूप से सब धर्मों का ग्रहण करता है, जब कि नैगम नय में वस्तु के धर्मों का प्रधान और गौण भाव से ग्रहण होता है।

धर्म और धर्मी का गौण और प्रधान भाव से ग्रहण करना भी नैगम नय है। किसी समय धर्म की प्रधान भाव से विवक्षा होती है और धर्मी की गौण भाव से। किसी समय धर्मी की मुख्य विवक्षा होती है और धर्म की गौण। इन दोनों दशाओं में नैगम की प्रवृत्ति होती है। 'सुख जीव-गुण है' इस वाक्य में सुख प्रधान है, क्योंकि वह विशेष्य है और जीव गौण है क्योंकि वह सुख का विशेषण है। यहाँ धर्म का प्रधान भाव से ग्रहण किया गया है और धर्मी का गौण भाव से। 'जीव सुखी है' इस वाक्य में जीव प्रधान है, क्योंकि वह विशेष्य है और सुख गौण है, क्योंकि वह विशेषण है। यहाँ धर्मी की प्रधान भाव से विवक्षा है और धर्म की गौण भाव से[1]।

कुछ लोग नैगम को संकल्पमात्रग्राही मानते हैं[2]। जो कार्य किया जाने वाला है, उस कार्य का संकल्पमात्र नैगम नय है। उदाहरण के लिए एक पुरुष कुल्हाड़ी लेकर जंगल में जा रहा है। मार्ग में कोई व्यक्ति मिलता है और पूछता है—'तुम कहाँ जा रहे हो?' वह पुरुष उत्तर देता है— 'मैं प्रस्थ लेने जा रहा हूँ।' यहाँ पर वह पुरुष वास्तव में लकड़ी काटने जा रहा है। प्रस्थ तो बाद में बनेगा। प्रस्थ के संकल्प को दृष्टि में रखकर वह पुरुष उपर्युक्त ढंग से

१—यद्वा नैकगमो नैगमः, धर्मधर्मिणोर्गुणप्रधानभावेन विषयीकरणात्। 'जीवगुणः सुखम्' इत्यत्र हि जीवस्याप्राधान्यम् विशेषणत्वात्, सुखस्य तु प्राधान्यम्, विशेष्यत्वात्। 'सुखी जीवः' इत्यादौ तु जीवस्य प्राधान्यम्, न सुखादेः, विपर्ययात्।

—नयप्रकाशस्तववृत्ति. पृ० १०

२—अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक १।३।२

उत्तर देता है। उसका यह उत्तर नैगम नय की दृष्टि से ठीक है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति किसी दुकान पर कपड़ा लेने के लिए जाता है और उससे कोई पूछता है कि तुम कहाँ जा रहे हो तो वह उत्तर देता है कि जरा कोट सिलाना है। वास्तव में वह व्यक्ति कोट के लिए कपड़ा लेने जा रहा है, न कि कोट सिलाने के लिए। कोट तो बाद में सिया जाएगा, किन्तु उस संकल्प को दृष्टि में रखते हुए वह कहता है कि कोट सिलाने जा रहा हूँ।

संग्रह—सामान्य या अभेद का ग्रहण करने वाली दृष्टि संग्रह नय है। स्वजाति के विरोधी के बिना समस्त पदार्थों का एकत्व में संग्रह करना, संग्रह कहलाता है। यह हम जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है, भेदाभेदात्मकहै। इन दो धर्मों में से सामान्य धर्म का ग्रहण करना और विशेष धर्म के प्रति उपेक्षाभाव रखना संग्रह नय है। यह नय दो प्रकार का है–पर और अपर। पर संग्रह में सकल पदार्थों का एकत्व अभिप्रेत है। जीव अजीवादि जितने भी भेद हैं, सब का सत्ता में समावेश हो जाता है[1]। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो सत् न हो। दूसरे शब्दों में जीवा-जीवादि सत्ता सामान्य के भेद हैं। एक ही सत्ता विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होती है। जिस प्रकार नीलादि आकार वाले सभी ज्ञान, 'ज्ञान-सामान्य' के भेद हैं, उसी प्रकार जीवादि जितने भी हैं, सब सत् हैं। पर संग्रह कहता है कि 'सब एक है, क्योंकि सब सत् है[2]।' सत्ता सामान्य की दृष्टि से सब का एकत्व में अन्तर्भाव हो जाता है। अपर संग्रह द्रव्यत्वादि अपर सामान्यों का ग्रहण करता है। सत्ता सामान्य, जो कि पर सामान्य अथवा महा सामान्य है, उसके समान्यरूप अवान्तर भेदों का ग्रहण करना, अपर संग्रह का कार्य है। सामान्य के दो

१—जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनास्तदस्ति सत्।
एकं यथा स्वनिर्भासि ज्ञानं जीवः स्वपर्ययैः॥
—लघीयस्त्रय, २।५।३१

२—सर्वमेकं सदविशेषात्।

प्रकार हैं—पर और अपर। पर सामान्य सत्ता सामान्य को कहते हैं, जो प्रत्येक पदार्थ में रहता है। अपर सामान्य, पर सामान्य के द्रव्य, गुण आदि भेदों में रहता है। द्रव्य में रहने वाली सत्ता पर सामान्य है, और द्रव्य का जो द्रव्यत्व सामान्य है वह अपर सामान्य है। इसी प्रकार गुण में सत्ता पर सामान्य है और गुणत्व अपर सामान्य है। द्रव्य के भी कई भेद-प्रभेद होते हैं। उदाहरण के लिए जीव द्रव्य का एक भेद है जीव में जीवत्व सामान्य अपर सामान्य है। इस प्रकार जितने भी अपर सामान्य हो सकते हैं उन सबका ग्रहण करने वाला नय अपर संग्रह है। पर संग्रह और अपर संग्रह दोनों मिलकर, जितने भी प्रकार के सामान्य या अभेद हो सकते हैं, सबका ग्रहण करते हैं। संग्रह नय सामान्यग्राही दृष्टि है।

व्यवहार—संग्रह नय द्वारा गृहीत अर्थ का विधिपूर्वक अवहरण करना, व्यवहार नय है।[1] जिस अर्थ का, संग्रह नय ग्रहण करता है उस अर्थ का विशेष रूप से बोध कराना हो, तब उसका पृथक्करण करना पड़ता है। संग्रह तो सामान्य मात्र का ग्रहण कर लेता है, किन्तु वह सामान्य किंरूप है, इसका विश्लेषण करने के लिए व्यवहार का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरे शब्दों में संग्रहगृहीत समान्य का भेदपूर्वक ग्रहण करना, व्यवहार नय है। यह नय भी उपर्युक्त दोनों नयों की भाँति द्रव्य का ही ग्रहण करता है, किन्तु इसका ग्रहण भेदपूर्वक है, अभेदपूर्वक नहीं। इसलिए इसका अन्तर्भाव द्रव्यार्थिक नय में है, पर्यायार्थिक नय में नहीं। इसकी विधि इस प्रकार है—पर संग्रह सत्ता सामान्य का ग्रहण करता है। उसका विभाजन करते हुए व्यवहार कहता है—सत् क्या है? जो सत् है वह द्रव्य है या गुण? यदि वह द्रव्य है तो जीव द्रव्य है या अजीव द्रव्य? केवल जीव द्रव्य कहने से भी काम नहीं चल सकता। वह जीव नारक है, देव है, मनुष्य है या तिर्यञ्च है? इस प्रकार व्यवहार नय वहाँ तक भेद करता जाता है, जहाँ पुनः भेद की सम्भावना न

१—'अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः'

—तत्त्वार्थराजवार्तिक, १।३३।६

हो। इस नय का मुख्य प्रयोजन व्यवहार की सिद्धि है[1]। केवल सामान्य के बोध से या कथन से हमारा व्यवहार नहीं चल सकता। व्यवहार के लिए हमेशा भेदबुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। यह भेदबुद्धि परिस्थिति की अनुकूलता को दृष्टि में रखते हुए अन्तिम भेदतक बढ़ सकती है, जहाँ पुनः भेद न हो सके। दूसरे शब्दों में, वह अन्तिम विशेष का ग्रहण कर सकती है। व्यवहारगृहीत विशेष पर्यायों के रूप में नहीं होते, अपितु द्रव्य के भेद के रूप में होते हैं। इसलिए व्यवहार का विषय भेदात्मक और विशेषात्मक होते हुए भी द्रव्यरूप है, न कि पर्यायरूप। यही कारण है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों में से व्यवहार का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया गया है। नैगम, संग्रह और व्यवहार, इन तीनों नयों का द्रव्यार्थिक नय में अन्तर्भाव होता है। शेष चार नय पर्यायार्थिक के भेद हैं।

ऋजुसूत्र—भेद अथवा पर्याय की विवक्षा से जो कथन है वह ऋजुसूत्र नय का विषय है[2]। जिस प्रकार संग्रह का विषय सामान्य अथवा अभेद है उसी प्रकार ऋजुसूत्र का विषय पर्याय अथवा भेद है। यह नय भूत और भविष्यत् की उपेक्षा करके केवल वर्तमान का ग्रहण करता है। पर्याय की अवस्थिति वर्तमान काल में ही होती है। भूत और भविष्यत् काल में द्रव्य रहता है। मनुष्य कई बार तात्कालिक परिणाम की ओर झुक कर केवल वर्तमान को ही अपना प्रवृत्ति-क्षेत्र बनाता है। ऐसी स्थिति में उसकी बुद्धि में ऐसा प्रतिभास होता है कि जो वर्तमान है वही सत्य है। भूत और भावी वस्तु से उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। इसका अर्थ यह नहीं कि वह भूत और भावी का निषेध करता है। प्रयोजन के अभाव में उनकी ओर उपेक्षा-दृष्टि रखता है। वह यह मानता है कि वस्तु की प्रत्येक अवस्था भिन्न है। इस क्षण की अवस्था में और दूसरे क्षण की

१—व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणता।
नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसंगतः॥
—लघीयस्त्रय, ३।६।७०

२—'भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः।'
—लघीयस्त्रय, ३।६।७१

अवस्था में भेद है । इस क्षण की अवस्था इसी क्षण तक सीमित है । दूसरे क्षण की अवस्था दूसरे क्षण तक सीमित है । इसी प्रकार एक वस्तु की अवस्था दूसरी वस्तु की अवस्था से भिन्न है । 'कौआ काला है' इस वाक्य में कौए और कालेपन की जो एकता है, उसकी उपेक्षा करने के लिए ऋजुसूत्र नय कहता है कि कौआ कौआ है और कालापन कालापन है । कौआ और कालापन भिन्न भिन्न अवस्थाएँ है । यदि कालापन और कौआ एक होते तो भ्रमर भी कौआ हो जाता क्योंकि वह काला है । ऋजुसूत्र क्षणिकवाद में विश्वास रखता है । इसलिए प्रत्येक वस्तु को अस्थायी मानता है । जिस प्रकार कालभेद से वस्तुभेद की मान्यता है उसी प्रकार देशभेद से भी वस्तुभेद की मान्यता है । भिन्न भिन्न देश में रहने वाले पदार्थ भिन्न भिन्न हैं । इस प्रकार ऋजुसूत्र प्रत्येक वस्तु में भेद ही भेद देखता है । यह भेद द्रव्यमूलक न होकर पर्यायमूलक है । अतः यह नय पर्यायार्थिक है । यहीं से पर्यायार्थिक नय का क्षेत्र आरम्भ होता है ।

शब्द—काल, कारक, लिंग, संख्या आदि भेद से अर्थभेद मानना शब्द नय है । यह नय व आगे के दोनों नय शब्दशास्त्र से सम्बद्ध हैं । शब्दों के भेद से अर्थ में भेद करना, इनका कार्य है । शब्दनय एक ही वस्तु में काल, कारक, लिंग आदि के भेद से भेद मानता है । लिंग तीन प्रकार का होता है—पुल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग । इन तीनों लिंगों से भिन्न-भिन्न अर्थ का वोध होता है । शब्दनय स्त्रीलिंग से वाच्य अर्थ का बोध पुल्लिग से नहीं मानता । पुल्लिग से वाच्य अर्थ का बोध नपुंसकलिंग से नहीं मानता । इसी प्रकार अन्य लिंगों की योजना भी कर लेनी चाहिये । स्त्रीलिंग में पुल्लिग का अभिधान किया जाता है । जैसे तारका स्त्रीलिंग है और स्वाति पुल्लिग है । पुल्लिग से स्त्रीलिंग के अभिधान का उदाहरण है अवगम और विद्या । स्त्रीलिंग में नपुंसकलिंग का प्रयोग होता है—जैसे वीणा के लिए आतोद्य का प्रयोग। नपुंसकलिंग में स्त्रीलिंग का अभिधान किया जाता है—जैसे आयुध के लिए शक्ति का प्रयोग। पुँल्लिग में नपुंसकलिंग का प्रयोग किया जाता है—जैसे पट के लिए वस्त्र शब्द का प्रयोग। नपुंसकलिंग में पुल्लिग का अभिधान होता है—जैसे द्रव्य

के लिए परशु का प्रयोग। शब्दनय इन सबमें भेद मानता है। संख्या तीन प्रकार की है—एकत्व, द्वित्व और बहुत्व। एकत्व में द्वित्व का प्रयोग होता है—जैसे नक्षत्र और पुनर्वसु। एकत्व में बहुत्व का प्रयोग किया जाता है—जैसे नक्षत्र और शतभिषक्। द्वित्व में एकत्व का प्रयोग होता है—जैसे जिनदत्त, देवदत्त और मनुष्य। द्वित्व में बहुत्व का प्रयोग होता है—जैसे पुनर्वसु और पंचतारका। बहुत्व में एकत्व का प्रयोग होता है—जैसे आम और वन। बहुत्व में द्वित्व का अभिधान किया जाता है—जैसे देवमनुष्य और उभय राशि। शब्दनय इन प्रयोगों में भेद का व्यवहार करता है। काल के भेद से अर्थभेद का उदाहरण है—'काशी नगरी थी और काशी नगरी है।' इन दोनों वाक्यों के अर्थ में जो भेद है, वह शब्दनय के कारण है। कारक—भेद से अर्थभेद हो जाता है—जैसे मोहन को, मोहन के लिए, मोहन से आदि शब्दों के अर्थ में भेद है। इसी प्रकार उपसर्ग के कारण भी एक ही धातु के भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। संस्थान, प्रस्थान, उपस्थान आदि के अर्थ में जो विभिन्नता है, उसका यही कारण है। 'सम्' उपसर्ग लगाने से संस्थान का अर्थ आकार हो गया, 'प्र' उपसर्ग लगाने से प्रस्थान का अर्थ गमन हो गया, और 'उप' उपसर्ग लगाने से उपस्थान का अर्थ उपस्थिति हो गया। इस तरह विविध संयोगों के आधार पर विविध शब्दों के अर्थभेद की जो अनेक परम्पराएँ प्रचलित हैं, वे सभी शब्दनय के अन्तर्गत आ जाती हैं। शब्दशास्त्र का जितना विकास हुआ है उसके मूल में यही नय रहा है।

समभिरूढ़—शब्दनय काल, कारक, लिंग आदि के भेद से ही अर्थ में भेद मानता है। एक लिंग वाले पर्यायवाची शब्दों में किसी प्रकार का भेद नहीं मानता। शब्दभेद के आधार पर अर्थभेद करने वाली बुद्धि जब कुछ और आगे बढ़ जाती है और व्युत्पत्ति-भेद के आधार पर पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद मानने के लिए तैयार हो जाती है, तब समभिरूढ़नय की प्रवृत्ति होती है। यह नय कहता है कि केवल काल आदि के भेद से अर्थभेद मानना ही काफी नहीं है अपितु व्युत्पत्ति-मूलक शब्दभेद से भी अर्थभेद मानना चाहिए। प्रत्येक शब्द अपनी-अपनी

व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करता है। उदाहरण के लिये हम इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन तीन शब्दों को लें। शब्द नय की दृष्टि से देखने पर इन तीनों शब्दों का एक ही अर्थ होता है। यद्यपि ये तीनों शब्द भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति के आधार पर बनते हैं, किन्तु इनके वाच्य अर्थ में कोई भेद नहीं है। इसका कारण यह है कि इन तीनों का लिंग एक ही है। समभिरूढ़ यह मानने के लिये तैयार नहीं। वह कहता है कि यदि लिंग-भेद, संख्या-भेद आदि से अर्थभेद मान सकते हैं, तो शब्दभेद से अर्थभेद मानने में क्या हानि है! यदि शब्दभेद से अर्थभेद नहीं माना जाय, तो इन्द्र और शक्र दोनों का एक ही अर्थ हो जाय। इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति 'इन्दनादिन्द्रः' अर्थात् 'जो शोभित हो वह इन्द्र है' इस प्रकार है। 'शकनाच्छक्रः' अर्थात् 'जो शक्तिशाली है वह शक्र है' यह शक्र की व्युत्पत्ति है। 'पूर्दारणात् पुरन्दरः' अर्थात् 'जो नगर आदि का ध्वंस करता है वह पुरन्दर है' इस प्रकार के अर्थ को व्यक्त करने वाला पुरन्दर शब्द है। जब इन शब्दों की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न है तब इनका वाच्य अर्थ भी भिन्न-भिन्न ही होना चाहिए। जो इन्द्र है वह इन्द्र है, जो शक्र है वह शक्र है, और जो पुरन्दर है वह पुरन्दर है। न तो इन्द्र शक्र हो सकता है, और न शक्र पुरंदर हो सकता है। इसी प्रकार नृपति, भूपति, राजा इत्यादि जितने भी पर्यायवाची शब्द है, सब में अर्थभेद है।

एवम्भूत—समभिरूढ़नय व्युत्पत्तिभेद से अर्थ-भेद मानने तक ही सीमित है, किन्तु एवम्भूतनय कहता है कि जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो तभी उस शब्द का वह अर्थ मानना चाहिए। जिस शब्द का जो अर्थ होता हो, उसके होने पर ही उस शब्द का प्रयोग करना एवम्भूत नय है। इस लक्षण को इन्द्र, शक्र और पुरंदर शब्दों के द्वारा ही स्पष्ट किया जाता है। 'जो शोभित होता है वह इन्द्र है' इस व्युत्पत्ति को दृष्टि में रखते हुए जिस समय वह इन्द्रासन पर शोभित हो रहा हो, उसी समय उसे इन्द्र कहना चाहिए। शक्ति का प्रयोग करते समय या अन्य कार्य करते समय उसके लिए इंद्र शब्द का प्रयोग करना ठीक नहीं। जिस समय वह

अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहा हो, उसी समय उसे शक्र कहना चाहिए। आगे और पीछे शक्र का प्रयोग करना, इस नय की दृष्टि में ठीक नहीं। ध्वंस करते समय ही उसे पुरन्दर कहना चाहिए, पहले या बाद में नहीं। इसी प्रकार नृपति, भूपति, राजा आदि शब्दों के प्रयोग में भी समझना चाहिए।

नयों का पारस्परिक सम्बन्ध :

उत्तर-उत्तर नय का विषय पूर्व-पूर्व नय से कम होता जाता है। नैगम नय का विषय सबसे अधिक है, क्योंकि वह सामान्य और विशेष-भेद और अभेद दोनों का ग्रहण करता है। कभी सामान्य को मुख्यता देता है और विशेष का गौण रूप से ग्रहण करता है, तो कभी विशेष का मुख्यरूप से ग्रहण करता है और सामान्य का गौण-रूप से अवलम्बन करता है। संग्रह का विषय नैगम से कम हो जाता है, वह केवल सामान्य अथवा अभेद का ग्रहण करता है। व्यवहार का विषय संग्रह से भी कम है, क्योंकि वह संग्रह द्वारा गृहीत विषय का ही कुछ विशेषताओं के आधार पर पृथक्करण करता है। ऋजु-सूत्र का विषय व्यवहार से कम है, क्योंकि व्यवहार त्रैकालिक विषय की सत्ता मानता है, जब कि ऋजुसूत्र वर्तमान पदार्थ तक ही सीमित रहता है, अतः यहीं से पर्यायार्थिक नय का प्रारम्भ माना जाता है। शब्द का विषय इससे भी कम है, क्योंकि वह काल, कारक, लिंग, संख्या आदि के भेद से अर्थ में भेद मानता है। समभिरूढ़ का विषय शब्द से कम है; क्योंकि वह पर्याय–व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद मानता है, जब कि शब्द पर्यायवाची शब्दों में किसी तरह का भेद अङ्गीकार नहीं करता। एवम्भूत का विषय समभिरूढ़ से भी कम है, क्योंकि वह अर्थ को तभी उस शब्द द्वारा वाच्य मानता है, जब अर्थ अपनी व्युत्पत्तिमूलक क्रिया में लगा हुआ हो। अतएव यह स्पष्ट है कि पूर्व पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर उत्तर नय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। उत्तर उत्तर नय का विषय पूर्व पूर्व नय के विषय पर ही अवलम्बित रहता है। प्रत्येक का विषय-क्षेत्र उत्तरोत्तर कम होने से इनका पारस्परिक पौर्वापर्य सम्बन्ध है।

सामान्य और विशेष के आधार पर इनका द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में विभाजन किसी खास दृष्टि से किया गया है। पहले के तीन नय सामान्य तत्त्व की ओर विशेषरूप से झुके हुए हैं, और बाद के चार नय विशेष तत्त्व पर अधिक भार देते हैं। प्रथम तीन नयों में सामान्य का विचार अधिक स्पष्ट है और शेष चार में विशेष का विचार अधिक स्पष्ट है। सामान्य और विशेष की इसी स्पष्टता के कारण सात नयों को द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक में विभक्त किया गया है। वास्तविकता यह है कि सामान्य और विशेष दोनों एक ही तत्त्व के दो अविभाज्य पक्ष हैं। ऐसी स्थिति में एकान्तरूप सामान्य का या विशेष का ग्रहण सम्भव नहीं।

अर्थनय और शब्दनय के रूप में जो विभाजन किया गया है, वह भी इसी प्रकार का है। वास्तव में शब्द और अर्थ एकान्तरूप से भिन्न नहीं हो सकते। अर्थ की प्रधानता को ध्यान में रखते हुए प्रथम चार नयों को अर्थनय कहा गया है। शब्द-प्राधान्य की दृष्टि से शेष तीन नय शब्दनय की कोटि में आते हैं। इस प्रकार पूर्व पूर्व नय से उत्तर उत्तर नय में विषय की सूक्ष्मता की दृष्टि से, सामान्य और विशेष की दृष्टि से, अर्थ और शब्द की दृष्टि से भेद अवश्य है, किन्तु यह भेद ऐकान्तिक नहीं है।

———ooo———

आठ :

कर्मवाद

कर्मवाद, नियतिवाद एवं इच्छास्वातन्त्र्य
कर्म का अर्थ
कर्मबन्ध का कारण
कर्मबन्ध की प्रक्रिया
कर्मप्रकृति
कर्मों की स्थिति
कर्मफल की तीव्रता-मन्दता
कर्मों के प्रदेश
कर्म की विविध अवस्थाएँ
कर्म और पुनर्जन्म

कर्मवाद

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुख, दुःख एवं अन्य प्रकार के सांसारिक वैचित्र्य के कारण की खोज करते हुए भारतीय चिन्तकों ने कर्म-सिद्धान्त का अन्वेषण किया। जीव अनादि काल से कर्मवश हो विविध भवों में भ्रमण कर रहा है। जन्म-मरण का मूल कर्म है। जीव अपने शुभ एवं अशुभ कर्मों के साथ पर भव में जाता है। जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता। कर्मवाद किसी न किसी रूप में भारत की समस्त दार्शनिक एवं नैतिक विचारधाराओं में विद्यमान है तथापि इसका जो सुविकसित रूप जैन परम्परा में उपलब्ध होता है वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। कर्मवाद जैन विचारधारा एवं आ। परम्परा का अविच्छेद्य अंग है।

कर्मवाद, नियतिवाद एवं इच्छास्वातंत्र्य :

प्राणी अनादि काल से कर्म परम्परा में पड़ा हुआ है। पुरातन कर्मों के योग एवं नवीन कर्मों के बन्धन की परम्परा अनादि काल से चली आरही है। जीव अपने कृत कर्मों को भोगता हुआ नवीन कर्मों का उपार्जन करता रहता है। ऐसा होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणी एकान्त रूप से कर्मों के अधीन है अर्थात् वह कर्मों का बन्धन रोक ही नहीं सकता। यदि प्राणी का प्रत्येक कार्य कर्माधीन ही माना जाए तो वह अपनी आत्मशक्ति का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग कैसे कर सकेगा। प्राणी को सर्वथा कर्माधीन मानने पर इच्छा-स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नहीं रह जाता। परिणामतः कर्मवाद नियतिवाद के रूप में परिणत हो जायगा।

कर्मवाद को नियतिवाद अथवा अनिवार्यतावाद नहीं कह सकते। कर्मवाद यह नहीं मानता कि प्राणी जिस प्रकार कर्म का फल भोगने में परतन्त्र है उसी प्रकार कर्म का उपार्जन करने में भी परतन्त्र है। कर्मवाद यह मानता है कि प्राणी को स्वोपार्जित कर्म का फल किसी न किसी रूप में अवश्य भोगना पड़ता है किन्तु जहाँ तक नवीन कर्म के उपार्जन का प्रश्न है, वह अमुक सीमा तक स्वतन्त्र होता है। यह सत्य है कि कृतकर्म का भोग किये बिना मुक्ति नहीं हो सकती किन्तु यह अनिवार्य नहीं कि अमुक समय में अमुक कर्म का उपार्जन हो ही। आन्तरिक शक्ति तथा बाह्य परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए प्राणी अमुक सीमा तक नये कर्मों का उपार्जन रोक सकता है। यही नहीं, वह अमुक सीमा तक पूर्वकृत कर्मों को शीघ्र अथवा देर से भी भोग सकता है। इस प्रकार कर्मवाद में सीमित इच्छास्वातन्त्र्य स्वीकार किया गया है।

कर्म का अर्थ :

'कर्म' शब्द का अर्थ साधारणतया कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया किया जाता है। कर्मकाण्ड में यज्ञ आदि क्रियाएँ कर्म के रूप में प्रचलित हैं। पौराणिक परम्परा में व्रतनियम आदि क्रियाएँ कर्मरूप नी जाती हैं। जैन परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है :

द्रव्यकर्म और भावकर्म। कार्मण जाति का पुद्गल अर्थात् जड़तत्त्व विशेष जो कि आत्मा के साथ मिलकर कर्म के रूप में परिणत होता है, द्रव्यकर्म कहलाता है। राग-द्वेषात्मक परिणाम को भावकर्म कहते हैं।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध प्रवाहतः अनादि है। जीव पुराने कर्मों का विनाश करता हुआ नवीन कर्मों का उपार्जन करता रहता है। जब तक प्राणी के पूर्वोपार्जित समस्त कर्म नष्ट नहीं हो जाते एवं नवीन कर्मों का उपार्जन बंद नहीं हो जाता तब तक उसकी भवबन्धन से मुक्ति नहीं होती। एक बार समस्त कर्मों का विनाश हो जाने पर पुनः नवीन कर्मों का उपार्जन नहीं होता क्योंकि उस अवस्था में कर्मोपार्जन का कारण विद्यमान नहीं रहता। आत्मा की इसी अवस्था को मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण अथवा सिद्धि कहते हैं।

कर्मबन्ध का कारण :

जैन परम्परा में कर्मोपार्जन के दो कारण माने गये हैं : योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। क्रोधादि मानसिक आवेगों को कषाय कहते हैं। वैसे तो प्रत्येक प्रकार का योग अर्थात् क्रिया कर्मोपार्जन का कारण है किन्तु जो योग कषाययुक्त होता है उससे होने वाला कर्मबन्ध विशेष बलवान् होता है जबकि कषायरहित क्रिया से होने वाला कर्मबन्ध अति निर्बल व अल्पायु होता है। दूसरे शब्दों में कषाययुक्त अर्थात् राग-द्वेषजनित प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का महत्त्वपूर्ण कारण है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया:

सम्पूर्ण लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ कर्मयोग्य परमाणु विद्यमान न हों। जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब उसके आस-पास चारों ओर से कर्मयोग्य परमाणुओं का आकर्षण होता है अर्थात् जितने क्षेत्र में आत्मा विद्यमान होती है उतने ही क्षेत्र में विद्यमान परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किये जाते हैं। प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार परमाणुओं की मात्रा में भी तारतम्य होता

गृहीत परमाणुओं के समूह का कर्मरूप से आत्मा के साथ बद्ध होना जैन कर्मवाद की परिभाषा में प्रदेश-बन्ध कहलाता है। इन्हीं परमाणुओं की ज्ञानावरणादि रूप परिणति को प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कर्मफल के काल को स्थिति-बन्ध तथा कर्मफल को तीव्रता-मंदता को अनुभाग-बन्ध कहते हैं। कर्म बँधते ही फल देना प्रारम्भ नहीं कर देते। कुछ समय तक वे वैसे ही पड़े रहते हैं। कर्म के इस काल को अबाधाकाल कहते हैं। अबाधाकाल के व्यतीत होने पर ही बद्धकर्म फल देना प्रारम्भ करते हैं। कर्मफल का प्रारम्भ ही कर्म का उदय कहलाता है। कर्म अपने स्थिति-बन्ध के अनुसार उदय में आते रहते हैं एवं फल प्रदान करते हुए आत्मा से अलग होते रहते हैं। इसी को निर्जरा कहते हैं। जिस कर्म का जितना स्थिति-बन्ध होता है वह उतनी ही अवधि तक उदय में आता रहता है। जब आत्मा से समस्त कर्म अलग हो जाते हैं तब जीव कर्ममुक्त हो जाता है। आत्मा की इसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

कर्मप्रकृति :

जैन कर्मशास्त्र में कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ मानी गई हैं।[1] ये प्रकृतियाँ प्राणी को भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। इन आठ प्रकृतियों के नाम ये हैं : १—ज्ञानावरण, २—दर्शनावरण, ३—वेदनीय ४—मोहनीय, ५—आयु, ६—नाम, ७—गोत्र, ८—अन्तराय। इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घाती प्रकृतियाँ हैं क्योंकि इनसे आत्मा के चार मूल गुणों—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का घात होता है। शेष चार प्रकृतियाँ अघाती हैं क्योंकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करतीं। ज्ञानावरण कर्मप्रकृति आत्मा के ज्ञान गुण का घात करती है। दर्शनावरण कर्मप्रकृति आत्मा के दर्शन गुण का घात करती है। मोहनीय कर्मप्रकृति से आत्मसुख का घात होता है। अन्तराय कर्मप्रकृति के कारण वीर्य अर्थात् आत्मशक्ति का

१—देखिये—कर्मग्रन्थ प्रथम भाग तथा
Outlines of Jaina Philosophy, अन्तिम प्रकरण।

घात होता है। वेदनीय कर्मप्रकृति अनुकूल एवं प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दुःख के अनुभव का कारण है। आयु कर्मप्रकृति के कारण नरकादि विविध भवों की प्राप्ति होती है। नाम कर्मप्रकृति विविध गति, जाति, शरीर आदि का कारण है। गोत्र कर्मप्रकृति प्राणियों के उच्चत्व एवं नीचत्व का कारण है।

ज्ञानावरण कर्म की पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं: १–मतिज्ञानावरण, २–श्रुतज्ञानावरण, ३–अवधिज्ञानावरण, ४–मनःपर्ययज्ञानावरण, ५–केवलज्ञानावरण। मतिज्ञानावरण कर्म मतिज्ञान अर्थात् इन्द्रियों व मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। श्रुतज्ञानावरण कर्म श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्रों अथवा शब्दों के पठन तथा श्रवण से होने वाले अर्थज्ञान का निरोध करता है। अवधिज्ञानावरण कर्म अवधिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना होने वाले रूपी पदार्थों के ज्ञान को आवृत्त करता है। मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म मनःपर्ययज्ञान अर्थात् इन्द्रिय व मन की सहायता के बिना समनस्क जीवों के मनोगत भावों को जानने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। केवल-ज्ञानावरण कर्म केवलज्ञान अर्थात् लोक के अतीत, वर्तमान एवं अनागत समस्त पदार्थों को युगपत् जानने वाले ज्ञान को आवृत्त करता है।

दर्शनावरण कर्म की नव उत्तर प्रकृत्तियाँ हैं: १–चक्षुर्दर्शनावरण, २–अचक्षुर्दर्शनावरण, ३–अवधिदर्शनावरण, ४–केवलदर्शनावरण, ५–निद्रा, ६–निद्रानिद्रा, ७–प्रचला, ८–प्रचलाप्रचला, ९–स्त्यानर्द्धि। आँखों द्वारा पदार्थों के सामान्य धर्म के ग्रहण को चक्षुर्दर्शन कहते हैं। इस प्रकार के दर्शन में पदार्थ का साधारण आभास होता है। चक्षुर्दर्शन को आवृत्त करने वाला कर्म चक्षुर्दर्शनावरण कर्म कहलाता है। आँखों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों तथा मन से पदार्थों का जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं। इस प्रकार के दर्शन को आवृत्त करने वाला कर्म अचक्षुर्दर्शनावरण कर्म कहलाता है। इन्द्रियों तथा मन की सहायता के बिना ही आत्मा द्वारा रूपी पदार्थों का सामान्य बोध होना अवधिदर्शन कहलाता है। इस प्रकार के दर्शन को आवृत्त करने वाला कर्म अवधि-

दर्शनावरण कर्म कहलाता है। संसार के समस्त त्रैकालिक पदार्थों का सामान्यावबोध केवलदर्शन कहलाता है। इस प्रकार के दर्शन को आवृत्त करने वाला कर्म केवलदर्शनावरण कर्म कहलाता है। सोये हुए प्राणी का थोड़ी सी आवाज से जग जाना निद्रा कहलाता है। जिस कर्म के उदय से इस प्रकार की निद्रा आती है उसका नाम निद्राकर्म है। सोये हुए प्राणी का बड़े जोर से चिल्लाने, हाथ से जोर से हिलाने आदि पर बड़ी कठिनाई से जगना निद्रानिद्रा कहलाता है। तन्निमित्तक कर्म को निद्रानिद्रा कर्म कहते हैं। खड़े-खड़े या बैठे-बैठे नींद निकालना प्रचला कहलाता है। तन्निमित्तक कर्म को प्रचलाकर्म कहते हैं। चलते-फिरते नींद लेने का नाम प्रचलाप्रचला है। तन्निमित्तभूत कर्म को प्रचलाप्रचला कर्म कहते हैं। दिन में अथवा रात में सोचे हुए कार्यविशेष को निद्रावस्था में सम्पन्न करने का नाम स्त्यानर्द्धि है। जिस कर्म के उदय से इस प्रकार की नींद आती है उसे स्त्यानर्द्धि कर्म कहते हैं।

वेदनीय कर्म की दो उत्तर प्रकृतियाँ हैं: साता वेदनीय और असाता वेदनीय। जिस कर्म के उदय से प्राणी को अनुकूल विषयों की प्राप्ति से सुख का अनुभव होता है उसे साता वेदनीय कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःख का संवेदन होता है उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हैं। आत्मा को विषयनिरपेक्ष स्वरूपसुख का अनुभव बिना किसी कर्म के उदय के स्वतः होता है। इस प्रकार का विशुद्ध सुख आत्मा का स्वधर्म है।

मोहनीय कर्म की मुख्य दो उत्तरप्रकृतियाँ हैं: दर्शन मोहनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही समझने का नाम दर्शन है। यह तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप आत्मगुण है।[1] इस गुण का घात करने वाला कर्म दर्शनमोहनीय कहलाता है। जिस आचरण विशेष के द्वारा आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करता है उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र का घात करने वाला

१—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, १ २,

कर्म चारित्र-मोहनीय कहलाता है। दर्शनमोहनीय कर्म के पुनः तीन भेद हैं. सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय। सम्यक्त्वमोहनीय के कर्म-परमाणु (दलिक) शुद्ध होते हैं। यह कर्म स्वच्छ परमाणुओं वाला होने के कारण तत्त्वरुचिरूप सम्यक्त्व में बाधा नहीं पहुँचाता। इसके उदय से आत्मा को स्वाभाविक सम्यक्त्व अर्थात् कर्मनिरक्षेप क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होने पाती। परिणामतः उसे सूक्ष्म पदार्थों के चिन्तन में शंकाएँ हुआ करती हैं। मिथ्यात्व मोहनीय के कर्मपरमाणु अशुद्ध होते हैं। इस कर्म के उदय से प्राणी हित को अहित समझता है तथा अहित को हित। विपरीत बुद्धि के कारण उसे तत्त्व का यथार्थ बोध नहीं होने पाता। मिश्रमोहनीय के कर्मपरमाणु अर्धविशुद्ध होते हैं। इस कर्म के उदय से जीव को न तो तत्त्वरुचि होती है न अतत्त्वरुचि। इसीलिए इसे सम्यक्मिथ्यात्व मोहनीय भी कहते हैं। यह सम्यक्त्व मोहनीय व मिथ्यात्व मोहनीय का मिश्रित रूप है। मोहनीय के दूसरे मुख्य भेद चारित्र मोहनीय के दो उपभेद हैं: कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। कषाय मोहनीय चार प्रकार का है: क्रोध, मान, माया, और लोभ। क्रोधादि चारों कषाय तीव्रता–मन्दता की दृष्टि से पुनः चार-चार प्रकार के हैं: अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। इस प्रकार कषाय मोहनीय कर्म के कुल सोलह भेद होते हैं जिनके उदय से प्राणी में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व का घात करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से देशविरतिरूप श्रावकधर्म की प्राप्ति नहीं होने पाती। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सर्वविरतिरूप श्रमणधर्म की प्राप्ति नहीं होने पाती। संज्वलन कषाय के प्रभाव से श्रमण यथाख्यात चारित्ररूप सर्वविरति प्राप्त नहीं कर सकता। कषायों के साथ जिनका उदय होता है अथवा जो कषायों को उत्तेजित करते हैं उन्हें नोकषाय कहते हैं।[1]

१—कषायसहवर्तित्वात् कषायप्रेरणादपि।
हास्यादि नवकस्योक्ता, नोकषायकषायता॥

नोकषाय के नव भेद हैं: १–हास्य, २–रति ३–अरति, ४–शोक, ५–भय, ६–जुगुप्सा, ७–स्त्रीवेद, ८–पुरुषवेद, ९–नपुंसकवेद। नपुंसकवेद का अर्थ स्त्री और पुरुष दोनों के साथ संभोग करने की कामना के अभाव के रूप में नहीं अपितु तीव्रतम कामाभिलाषा के रूप में है जिसका लक्ष्य स्त्री और पुरुष दोनों हैं।

आयु कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ चार हैं: १–देवायु, २–मनुष्यायु, ३–तिर्यञ्चायु, ४–नरकायु। आयु कर्म की विविधता के कारण प्राणी देवादि गतियों में जीवन यापन करता है। आयु कर्म के क्षय से प्राणी की मृत्यु होती है। आयु दो रूपों में उपलब्ध होती है: अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। बाह्य निमित्तों से आयु का कम होना अर्थात् नियत समय से पूर्व आयु का समाप्त होना अपवर्तनीय आयु कहलाता है। इसी का नाम अकालमृत्यु है। किसी भी कारण से कम न होने वाली आयु को अनपवर्तनीय आयु कहते हैं।

नाम कर्म की एकसौ तीन उत्तर प्रकृतियाँ हैं। ये चार श्रेणियों में विभक्त हैं: पिण्डप्रकृतियाँ, प्रत्येकप्रकृतियाँ, त्रसदशक और स्थावरदशक। पिण्डप्रकृतियों में निम्नोक्त पचहत्तर प्रकार के कार्यों से सम्बन्धित कर्मों का समावेश है. (१) चार गतियाँ—देव, नरक, तिर्यञ्च और मनुष्य; (२) पाँच जातियाँ—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, (३) पाँच शरीर—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण; (४) तीन उपांग—औदारिक, वैक्रिय और आहारक तैजस और कार्मण शरीर के उपांग नहीं होते); (५) पन्द्रह बन्धन—औदारिक-औदारिक, औदारिक-तैजस, औदारिक-कार्मण, औदारिक-तैजस-कार्मण, वैक्रिय-वैक्रिय, वैक्रिय-तैजस, वैक्रिय-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, आहारक-आहारक आहारक-तैजस, आहारक-कार्मण, आहारक-तैजस-कार्मण, तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण; (६) पाँच संघातन—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण; (७) छः संहनन—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिक और सेवार्त; (८) छः संस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्ड; (९) शरीर के

पाँच वर्ण—कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और सित; (१०) दो गन्ध—सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध; (११) पाँच रस–तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर; (१२) आठ स्पर्श–गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष; (१३) चार आनुपूर्वियाँ—देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी; (१४) दो गतियाँ–शुभविहायोगति और अशुभविहायोगति। प्रत्येक प्रकृतियों में निम्नोक्त आठ प्रकार के कार्यों से सम्बन्धित कर्मों का समावेश है: पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण और उपघात। त्रसदशक में निम्नलिखित से सम्बन्धित दस प्रकार के कर्मों का समावेश है: त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति। स्थावरदशक में त्रस-दशक से विपरीत दस प्रकार की कर्मप्रकृतियाँ समाविष्ट हैं जो निम्नलिखित से सम्बन्धित हैं: स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति। इन एकसौ तीन कर्मप्रकृतियों के आधार पर प्राणियों के शारीरिक वैविध्य का निर्माण होता है। इस प्रकार शरीर-रचना का कारण नाम कर्म है।[1]

गोत्र कर्म की दो उत्तर प्रकृतियाँ हैं: उच्च और नीच। जिस कर्म के उदय से प्राणी उत्तमकुल में जन्म ग्रहण करता है उसे उच्चगोत्र कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से प्राणी का जन्म नीच अर्थात् असंस्कारी कुल में होता है उसे नीचगोत्र कर्म कहते हैं।

अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर-प्रकृतियाँ हैं: दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। जिस कर्म के उदय से दान करने का उत्साह नहीं होता वह दानान्तराय कर्म है। जिस कर्म का उदय होने पर उदार दाता की उपस्थिति में भी दान का लाभ–प्राप्ति न हो सके वह लाभान्तराय कर्म है

१—विशेष विवेचन के लिए देखिए—कर्मविपाक (पं० सुखलालजी कृत हिन्दी अनुवाद सहित) पृ० ५८–१०५; Outlines of Karma in Jainism, पृ० १०–३

अथवा पर्याप्त सामग्री के रहने पर भी जिसके कारण अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो वह लाभान्तराय कर्म है। भोग की सामग्री उपस्थित हो एवं भोग करने की इच्छा भी हो फिर भी जिस कर्म के उदय से प्राणी भोग्य पदार्थों का भोग न कर सके वह भोगान्तराय कर्म है। इसी प्रकार उपभोग्य वस्तुओं का उपभोग न कर सकना उपभोगान्तराय कर्म का फल है। जो पदार्थ एक बार भोगे जाते हैं वे भोग्य कहलाते हैं तथा जो बार-बार भोगे जाते हैं वे उपभोग्य कहलाते हैं। अन्न, जल, फल आदि भोग्य पदार्थ हैं। वस्त्र, आभूषण, स्त्री आदि उपभोग्य पदार्थ हैं। जिस कर्म के उदय से प्राणी अपने वीर्य अर्थात् सामर्थ्य—शक्ति-बल का चाहते हुए भी उपयोग न कर सके उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं।

कर्मों की स्थिति :

जैन कर्मग्रंथों में ज्ञानावरण आदि कर्मों की विभिन्न स्थिति बतलाई गई है जिसके कारण वे उतने समय तक उदय में रहते हैं। यह स्थिति जो कि न्यूनतम एवं अधिकतम रूपों में मिलती है, इस प्रकार है :

कर्म	*अधिकतम समय*	*न्यूनतम समय*
ज्ञानावरण	तीसकोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
दर्शनावरण	,,	,,
वेदनीय	,,	बारह मुहूर्त
मोहनीय	सत्तर कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
आयु	तैंतीस सागरोपम	,,
नाम	बीस कोटाकोटि सागरोपम	आठ मुहूर्त
गोत्र	,,	,,
अन्तराय	तीस कोटाकोटि सागरोपम[1]	अन्तर्मुहूर्त

१—सागरोपम आदि के स्वरूप के लिए देखिए—
Doctrine of Karman in Jain Philosophy, पृ० २०

कर्मफल की तीव्रता–मन्दता :

कर्मफल की तीव्रता और मन्दता का आधार तन्निमित्तक कषायों की तीव्रता-मन्दता है। जो प्राणी जितना अधिक कषाय की तीव्रता से युक्त होगा उसके अशुभ कर्म उतने ही प्रबल एवं शुभ कर्म उतने ही निर्बल होंगे। जो प्राणी जितना अधिक कषायमुक्त एवं विशुद्ध होगा उसके शुभ कर्म उतने ही अधिक प्रबल एवं अशुभकर्म उतने ही अधिक दुर्वल होंगे।

कर्मों के प्रदेश :

प्राणी अपनी कायिक आदि क्रियाओं द्वारा जितने कर्मप्रदेश अर्थात् कर्मपरमाणु आकृष्ट करता है वे विविध प्रकार के कर्मों में विभक्त होकर आत्मा के साथ वद्ध होते हैं। आयु कर्म के हिस्से में सब से कम भाग आता है। नाम कर्म को उससे कुछ अधिक हिस्सा मिलता है। गोत्र कर्म का हिस्सा भी नाम कर्म जितना ही होता है। इससे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय को प्राप्त होता है। इन तीनों का भाग समान रहता है। इससे भी अधिक भाग मोहनीय के हिस्से में आता है। सबसे अधिक भाग वेदनीय को मिलता है। इन परमाणुओं का पुनः अपनी-अपनी उत्तर प्रकृतियों में विभाजन होता है।

कर्म की विविध अवस्थाएँ :

जैन कर्मसाहित्य में कम की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। इनका मोटे तौर पर ग्यारह भेदों में वर्गीकरण किया जा सकता है। ये भेद इस प्रकार हैं: १—वन्धन, २—सत्ता, ३—उदय, ४—उदीरणा, ५—उदवर्तना, ६—अपवर्तना, ७—संक्रमण ८—उपशमन, ९—निधत्ति, १०—निकाचन, ११—अवाध।[1]

१—वन्धन—आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का वंधना अर्थात् नीर-क्षीरवत् एक रूप हो जाना वन्धन कहलाता है। वन्धन चार

१—देखिए—आत्ममीमांसा, पृ० १२८–१३१;
Jaina Psychology, पृ० २५—९.

प्रकार का होता है। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन चारों का वर्णन किया जा चुका है।

२—सत्ता—बद्ध कर्म-परमाणु निर्जरा अर्थात् क्षयपर्यन्त आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। इसी अवस्था का नाम सत्ता है। इस अवस्था में कर्म फल प्रदान नहीं करते।

३—उदय—कर्म की फल प्रदान करने की अवस्था को उदय कहते हैं। इस अवस्था में कर्म-पुद्गल अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं।

४—उदीरणा—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है। जिस प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत काल से पहले फल पकाये जा सकते हैं उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत समय से पूर्व बद्धकर्म भोगे जा सकते हैं। सामान्यतया जिस कर्म का उदय जारी होता है उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा संभव होती है।

५—उद्वर्तना—बद्धकर्मों की स्थिति और रस का निश्चय बन्धन के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार होता है। उसके बाद की स्थिति विशेष अथवा भाव विशेष के कारण उस स्थिति एवं रस में वृद्धि होना उदवर्तना कहलाता है। इसे उत्कर्षण भी कहते हैं।

६—अपवर्तना—बद्ध कर्मों की स्थिति एवं रस में भावविशेष के कारण कमी होने का नाम अपवर्तना है। यह अवस्था उद्वर्तना से विपरीत है। इसे अपकर्षण भी कहते हैं।

७—संक्रमण—एक प्रकार के कर्म-परमाणुओं की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्म-परमाणुओं की स्थिति आदि में परिवर्तन अथवा परिणमन होना संक्रमण कहलाता है। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए जैन आचार्यों ने कुछ निश्चित मर्यादाएँ अर्थात् सीमाएँ बना रखी हैं।

८—उपशमन—कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा संभव नहीं होती किन्तु उद्वर्तना, अपवर्तना एवं संक्रमण की संभावना का अभाव नहीं होता उसे उपशमन कहते हैं। जिस प्रकार

राख से आवृत्त अग्नि आवरण हटते ही अपना कार्य करना प्रारम्भ कर देती है उसी प्रकार उपशमन अवस्था में रहा हुआ कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है अर्थात् उदय में आकर फल देना प्रारम्भ कर देता है।

९—**निधत्ति**—जिसमें उदीरणा और संक्रमण का सर्वथा अभाव रहता है किन्तु उद्वर्तना व अपवर्तना की असंभावना नहीं होती उसे निधत्ति कहते हैं।

१०—**निकाचन**—जिसमें उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण एवं उदीरणा इन चारों अवस्थाओं का अभाव रहता है उसे निकाचन कहते हैं। इस अवस्था का अर्थ है कर्म का जिस रूप में बन्ध हुआ है उसी रूप में उसे भोगना।

११—**अबाध**—बंधने के बाद अमुक समय तक किसी प्रकार का फल न देने की कर्म की अवस्था का नाम अबाध अवस्था है। इस प्रकार की अवस्था के काल विशेष को अबाधा-काल कहते हैं।

कर्म और पुनर्जन्म :

कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर तद्फलरूप परलोक अथवा पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है। जैन कर्म साहित्य में समस्त संसारी जीवों का समावेश चार गतियों में किया गया है : मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक और देव। मृत्यु के पश्चात् प्राणी अपने गति नाम कर्म के अनुसार इन चार गतियों में से किसी एक गति में उत्पन्न होता है। जब जीव एक शरीर छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करने वाला होता है तब आनुपूर्वी नाम कर्म उसे अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुँचा देता है। गत्यन्तर के समय जीव के साथ केवल दो प्रकार के शरीर रहते हैं : तैजस और कार्मण। अन्य प्रकार के शरीर—औदारिक अथवा वैक्रिय का निर्माण वहाँ पहुँचने के बाद प्रारम्भ होता है।

ग्रन्थ-सूची

अनुयोगद्वार सूत्र
अन्ययोगव्यवच्छेद--द्वात्रिंशिका—हेमचन्द्र
अष्टसहस्री—विद्यानन्दी
आचारांग सूत्र
आत्ममीमांसा—पं० दलसुख मालवणिया
आप्तमीमासा—समन्तभद्र
आवश्यकनिर्युक्ति—भद्रबाहु
ईशोपनिषद्
उत्तराध्ययन सूत्र
ऋग्वेद
कठोपनिषद्
कर्मग्रन्थ, भाग १-५—देवेन्द्रसूरि
कर्मग्रन्थ, भाग ६—चन्द्रमहत्तर
कर्मग्रन्थ सार्थ—ज़ीवविजय
कर्मविपाक—पं० सुखलालजी
गोम्मटसार: जीवकाण्ड—नेमिचन्द्र
छान्दोग्यउपनिषद्
जैनतर्कभाषा—यशोविजय
जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन—
पं० दलसुखभाई मालवणिया
जैनधर्म का प्राण—पं० सुखलाल जी
ज्ञानविन्दुप्रकरण—यशोविजय
ज्ञानार्णव—शुभचन्द्र
तत्त्वत्रय—लोकाचार्य
तत्त्वसंग्रह
तत्त्वार्थ-भाष्य—उमास्वाति

तत्त्वार्थ-भाष्य-टीका—सिद्धसेनगणि
तत्त्वार्थ-राजवार्तिक—अकलंक
तत्त्वार्थ-लोकवार्तिक—विद्यानन्दी
तत्त्वार्थ सार—अमृतचन्द्र
तत्त्वार्थसूत्र-विवेचन—पं० सुखलालजी
तत्त्वार्थाधिगम सूत्र—उमास्वाति
तर्कसंग्रह—अन्न भट्ट
त्रिंशिका—वसुबन्धु
दशवैकालिक-निर्युक्ति—भद्रबाहु
दशवैकालिक-वृत्ति—हरिभद्र
दीर्घनिकाय
द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द्र
द्रव्यसंग्रह-वृत्ति—ब्रह्मदेव
धवला (षट्खण्डागम-टीका)—वीरसेन
ध्यानशतक—जिनभद्र
नन्दी सूत्र
नन्दी सूत्र-वृत्ति—हरिभद्र
नन्दी सूत्र-वृत्ति—मलयगिरि
नयकर्णिका—विनयविजय
नय प्रकाशस्तव वृत्ति
नियमसार—कुन्दकुन्द
न्यायकन्दली—श्रीधर
न्यायबिन्दु—धर्मकीर्त्ति
न्यायबिन्दु-टीका—धर्मोत्तर
न्यायभाष्य—वात्स्यायन
न्यायमंजरी—जयन्त
न्यायवार्तिक—उद्योतकर
न्यायसूत्र—गौतम
न्यायावतार—सिद्धसेन
न्यायावतार—वार्तिक-वृत्ति—सं० पं० दलसुख मालवणिया

परीक्षामुख—माणिक्यनन्दी
पंचसंग्रह—चन्द्रर्षिमहत्तर
पंचास्तिकायसार—कुन्दकुन्द
प्रज्ञापना सूत्र
प्रमाणनयतत्त्वालोक—वादिदेव
प्रमाणमीमांसा—हेमचन्द्र
प्रमाण वार्तिक
प्रमेयकमलमार्तण्ड—प्रभाचन्द्र
प्रवचनसार—कुन्दकुन्द
प्रशस्तपादभाष्य—प्रशस्तपाद
प्राकृत व्याकरण—हेमचन्द्र
बुद्धचरित—अश्वघोष
बौद्धदर्शन और वेदान्त—डा० चन्द्रधर शर्मा
भगवती सूत्र
भगवद्गीता
मज्झिमनिकाय
महाभाष्य—पतंजलि
माध्यमिककारिका—नागार्जुन
मीमांसा-सूत्र-शाबरभाष्य—शबरस्वामी
मुक्तावली—विश्वनाथ
मुण्डकोपनिषद्
योगसूत्र—पतंजलि
रत्नाकरावतारिका (प्रमाणनयतत्त्वालोक-टीका)—रत्नप्रभ
राजप्रश्नीय सूत्र
लघीयस्त्रय—अकलंक
लघीयस्त्रय-टीका—अकलंक
लंकावतार सूत्र
विशुद्धिमार्ग
विशेषावश्यक भाष्य—जिनभद्र
विंशतिका—वसुबन्धु

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली—प्रकाशानन्द
वैशेषिक सूत्र—कणाद
शाङ्करभाष्य—शंकराचार्य
श्वेताश्वतरोपनिषद्
शान्तिपर्व (महाभारत)
शास्त्रवार्त्तासमुच्चय—हरिभद्र
श्रमण—व० ३ अं० १
श्रीभाष्य—रामानुज
श्लोकवार्त्तिक—कुमारिल
षड्दर्शनसमुच्चय—हरिभद्र
सन्मतितर्कप्रकरण—सिद्धसेन
समयसार—कुन्दकुन्द
समवायांग सूत्र
सर्वदर्शन संग्रह—माधवाचार्य
सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद
संयुक्तनिकाय
सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण
सांख्यतत्त्वकौमुदी—वाचस्पति मिश्र
सांख्यप्रवचन-भाष्य—विज्ञानभिक्षु
सांख्यप्रवचन सूत्र—कपिल
सांख्यसूत्र-वृत्ति—अनिरुद्ध
सिद्धहेम—हेमचन्द्र
सूत्रकृतांग
स्थानांगसूत्र
स्याद्वादमंजरी—मल्लिषेण
स्याद्वादरत्नाकर—वादिदेव

Cosmology : Old and New—G. R. Jain.
Critical History of Greek Philosophy—Stace.
Doctrine of Karman in Jain Philosophy—Glasenapp.
History of Philosophy—Thilly.
History of Western Philosophy—Russell.
Indian Philosophy—C. D. Sharma.
Jaina Philosophy of Non-Absolutism —S. K. Mookerjee.
Jaina Psychology—M. L. Mehta.
Life and Philosophy in Contemporary British Philosophy—Bosanquet.
Outlines of Jaina Philosophy—M. L. Mehta.
Outlines of Karma in Jainism—M. L. Mehta.
Principles of Philosophy—H.M. Bhattacharya.
Problems of Philosophy—Russell.
Prolegomena to an Idealistic Theory of Knowledge—N. K. Smith.
Sacred Books of the East, Vol. 22.
Studies in Jaina Philosophy—N. M. Tatia.
Varieties of Religious Experience —William James.

शब्दानुक्रमणिका

दो हजार वर्षों के बाद प्रथम बार

उपाध्याय श्री अमर मुनि जी

तथा

पं० श्री कमल मुनि जी

के द्वारा

सुसम्पादित होकर प्रकाशित

निशीथ महाभाष्य

चार भागों में राज संस्करण

मूल्य मात्र सौ रुपये